



धम्मं सरणं पवज्जामि

भाग - ४

प्रवचनकार : पू. आ. श्री विजयभद्रगुप्तसूरीश्वरजी

धम्मं सरणं पवज्जामि

भाग : ४

आचार्य श्री हरिभद्रसूरि-विरचित साधक
जीवन के प्रारंभ से पराकाष्ठा तक के
अनन्य सांगोपांग मार्गदर्शन को धराने
वाले 'धर्मबिन्दु' ग्रंथ के प्रथम अध्याय पर
आधारित रोचक-बोधक और सरल
प्रवचनमाला के प्रवचन.

प्रवचनकार

आचार्य श्री विजयभद्रगुप्तसूरिजी महाराज

पुनः संयादन**ज्ञानतीर्थ-कोबा****तृतीय आवृत्ति****फागण वद-८, वि.सं.२०६६, ८-मार्च-२०१०****वर्षीतप प्रारंभ दिन****मूल्य****पक्की जिल्द : ₹. ६००-०० कच्ची जिल्द : ₹. २७५-००****आर्थिक सौजन्य****शेठ श्री निरंजन नरोत्तमभाई के स्मरणार्थ
ह. शेठ श्री नरोत्तमभाई लालभाई परिवार****प्रकाशक****श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र
आचार्यश्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर
कोबा, जि. गांधीनगर - ३८२००७****फोन नं. (०७९) २३२७६२०४, २३२७६२५२****email : gyanmandir@kobatirth.org****website : www.kobatirth.org****मुद्रक : नवप्रभात प्रिन्टर्स, अमदावाद - ९८२५५९८८५५****टाईटल डिजाइन : आर्य ग्राफीक्स - ९९२५८०९९१०**



पूज्य आचार्य भगवंत श्री विजयभद्रगुप्तसूरीश्वरजी

श्रावण शुक्ला १२, वि.सं. १९८९ के दिन पुदगाम महेसाणा (गुजरात) में मणीभाई एवं हीराबहन के कुलदीपक के रूप में जन्मे मूलचन्दभाई, जुही की कली की भांति खिलती-खुलती जवानी में १८ बरस की उम्र में वि.सं. २००७, महावद ५ के दिन राणपुर (सौराष्ट्र) में आचार्य श्रीमद् विजयप्रेमसूरीश्वरजी महाराजा के करमकमलों द्वारा दीक्षित होकर पू. भुवनभानुसूरीश्वरजी के शिष्य बने. मुनि श्री भद्रगुप्तविजयजी की दीक्षाजीवन के प्रारंभ काल से ही अध्ययन-अध्यापन की सुदीर्घ यात्रा प्रारंभ हो चुकी थी. ४५ आगमों के सटीक अध्ययनोपरांत दार्शनिक, भारतीय एवं पाश्चात्य तत्त्वज्ञान, काव्य-साहित्य वगैरह के 'मिलस्टोन' पार करती हुई वह यात्रा सर्जनात्मक क्षितिज की तरफ मुड़ गई. 'महापंथनो यात्री' से २० साल की उम्र में शुरू हुई लेखनयात्रा अंत समय तक अथक एवं अनवरत चली. तरह-तरह का मौलिक साहित्य, तत्त्वज्ञान, विवेचना, दीर्घ कथाएँ, लघु कथाएँ, काव्यगीत, पत्रों के जरिये स्वच्छ व स्वस्थ मार्गदर्शन परक साहित्य सर्जन द्वारा उनका जीवन सफर दिन-ब-दिन भरापूरा बना रहता था. प्रेमभरा हँसमुख स्वभाव, प्रसन्न व मृदु आंतर-बाह्य व्यक्तित्व एवं बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय प्रवृत्तियाँ उनके जीवन के महत्त्वपूर्ण अंगरूप थी. संघ-शासन विशेष करके युवा पीढ़ी, तरुण पीढ़ी एवं शिशु-संसार के जीवन निर्माण की प्रक्रिया में उन्हें रुचि थी... और इसी से उन्हें संतुष्टि मिलती थी. प्रवचन, वार्तालाप, संस्कार शिबिर, जाप-ध्यान, अनुष्ठान एवं परमात्म भक्ति के विशिष्ट आयोजनों के माध्यम से उनका सहिष्णु व्यक्तित्व भी उतना ही उन्नत एवं उज्ज्वल बना रहा. पूज्यश्री जानने योग्य व्यक्तित्व व महसूस करने योग्य अस्तित्व से सराबोर थे. कोल्हापुर में ता. ४-५-१९८७ के दिन गुरुदेव ने उन्हें आचार्य पद से विभूषित किया. जीवन के अंत समय में लम्बे अरसे तक वे अनेक व्याधियों का सामना करते हुए और ऐसे में भी सतत साहित्य सर्जन करते हुए दिनांक १९-११-१९९९ को श्यामल, अहमदाबाद में कालधर्म को प्राप्त हुए.

प्रकाशकीय

यदि आप अपना नैतिक और धार्मिक उत्थान करना चाहते हैं, यदि व्यवहार लोकप्रिय करना चाहते हैं, तो यह पुस्तक आपको सुन्दर और सटीक मार्गदर्शन करेगी. वर्तमान कालीन समस्याओंको सुलझाने के लिए यह ग्रंथ कल्याणमित्र बन सकता है.

पूज्य आचार्य श्री विजयभद्रगुप्तसूरिजी महाराज (श्री प्रियदर्शन) द्वारा लिखित और विश्वकल्याण प्रकाशन, महेसाणा से प्रकाशित साहित्य, जैन समाज में ही नहीं अपितु जैनेतर समाज में भी बड़ी उत्सुकता और मनोयोग से पढ़ा जाने वाला लोकप्रिय साहित्य है.

पूज्यश्री ने १९ नवम्बर, १९९९ के दिन अहमदाबाद में कालधर्म प्राप्त किया. इसके बाद विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट को विसर्जित कर उनके प्रकाशनों का पुनः प्रकाशन बन्द करने के निर्णय की बात सुनकर हमारे ट्रस्टियों की भावना हुई कि पूज्य आचार्य श्री का उत्कृष्ट साहित्य जनसमुदाय को हमेशा प्राप्त होता रहे, इसके लिये कुछ करना चाहिए.

पूज्य राष्ट्रसंत आचार्य श्री पद्मसागरसूरिजी महाराज को विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्टमंडल के सदस्यों के निर्णय से अवगत कराया गया. दोनों पूज्य आचार्यश्रीयों की घनिष्ठ मित्रता थी. अन्तिम दिनों में दिवंगत आचार्यश्री ने राष्ट्रसंत आचार्यश्री से मिलने की हार्दिक इच्छा भी व्यक्त की थी. पूज्य आचार्यश्री ने इस कार्य हेतु व्यक्ति, व्यक्तित्व और कृतित्व के आधार पर सहर्ष अपनी सहमती प्रदान की. उनका आशीर्वाद प्राप्त कर कोबातीर्थ के ट्रस्टियों ने इस कार्य को आगे चालू रखने हेतु विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट के सामने प्रस्ताव रखा.

विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट के ट्रस्टियों ने भी कोबातीर्थ के ट्रस्टियों की दिवंगत आचार्यश्री प्रियदर्शन के साहित्य के प्रचार-प्रसार की उत्कृष्ट भावना को ध्यान में लेकर **श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबातीर्थ** को अपने ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित साहित्य के पुनः प्रकाशन का सर्वाधिकार सहर्ष सौंप दिया.

इसके बाद **श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबा** ने संस्था द्वारा संचालित **श्रुतसरिता** (जैन बुक स्टॉल) के माध्यम से श्री प्रियदर्शनजी के

लोकप्रिय साहित्य के वितरण का कार्य समाज के हित में प्रारम्भ कर दिया.

श्री प्रियदर्शन के अनुपलब्ध साहित्य के पुनः प्रकाशन करने की शृंखला में **धम्मं सरणं पवज्जामि** ग्रंथ के चारों भागों को प्रकाशित कर आपके कर कमलों में प्रस्तुत किया जा रहा है.

शेठ श्री संवेगभाई लालभाई के सौजन्य से इस प्रकाशन के लिये **श्री निरंजन नरोत्तमभाई के स्मरणार्थ, हस्ते शेठ श्री नरोत्तमभाई लालभाई परिवार** की ओर से उदारता पूर्वक आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है, इसलिये हम **शेठ श्री नरोत्तमभाई लालभाई परिवार** के ऋणी हैं तथा उनका हार्दिक आभार मानते हैं. आशा है कि भविष्य में भी उनकी ओर से सदैव उदारता पूर्ण सहयोग प्राप्त होता रहेगा.

इस आवृत्ति का प्रूफरिडिंग करने वाले **श्री हेमंतकुमार सिंघ, श्री रामकुमार गुप्तजी** तथा अंतिम प्रूफ करने तथा अन्य अनेक तरह से सहयोगी बनने हेतु **पंडितवर्य श्री मनोजभाई जैन** का हम हृदय से आभार मानते हैं. संस्था के कम्प्यूटर विभाग में कार्यरत **श्री केतनभाई शाह, श्री संजयभाई गुर्जर व श्री बालसंग ठाकोर** के हम हृदय से आभारी हैं, जिन्होंने इस पुस्तक का सुंदर कम्पोजिंग कर छपाई हेतु हर तरह से सहयोग दिया.

आपसे हमारा विनम्र अनुरोध है कि आप अपने मित्रों व स्वजनों में इस प्रेरणादायक सत्साहित्य को वितरित करें. श्रुतज्ञान के प्रचार-प्रसार में आपका लघु योगदान भी आपके लिये लाभदायक सिद्ध होगा.

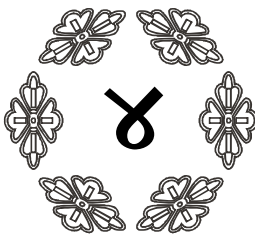
पुनः प्रकाशन के समय ग्रंथकारश्री के आशय व जिनाज्ञा के विरुद्ध कोई बात रह गयी हो तो मिच्छामि दुक्कडम्. विद्वान पाठकों से निवेदन है कि वे इस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करें.

अन्त में नये आवरण तथा साज-सज्जा के साथ प्रस्तुत ग्रंथ आपकी जीवनयात्रा का मार्ग प्रशस्त करने में निमित्त बने और विषमताओं में भी समरसता का लाभ कराये ऐसी शुभकामनाओं के साथ...

ट्रस्टीगण

श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबा

धम्मं सरणं पवज्जामि



प्रवचनकार

आचार्य श्री विनयभद्रगुप्तसूरिजी महाराज

धर्मबिंदु-सूत्राणि

- अदेशकालचर्यापरिहारः ॥४३॥
- यथोचितलोकयात्रा ॥४४॥
- हीनेषु हीनक्रमः ॥४५॥
- अतिसंगवर्जनम् ॥४६॥
- वृत्तस्थज्ञानवृद्धसेवा ॥४७॥
- परस्परानुपघातेनान्योन्यानुबद्धत्रिवर्गप्रतिपत्तिः ॥४८॥
- अन्यतरबाधासंभवे मूलाबाधा ॥४९॥
- बलाबलापेक्षणम् ॥५०॥
- अनुबंधेप्रयत्ने ॥५१॥
- कालोचितापेक्षा ॥५२॥
- प्रत्यहं धर्मश्रवणम् ॥५३॥
- सर्वत्रानभिनिवेशः ॥५४॥
- गुणपक्षपातिता ॥५५॥
- ऊहापोहादियोग इति ॥५६॥
- उपसंहार

- जहाँ आप रहते हो, जीते हो; वहाँ के वातावरण का, वहाँ के शासक का, लोगों का पूरा ख्याल करना चाहिए। सोच-समझकर कार्य करना चाहिए। अन्यथा अनचाही आफत का शिकार हो जाना पड़ता है।
- योगी पुरुष-सिद्ध पुरुषों की सेवा करते समय अपने स्वार्थ, अपने दुःख का विचार नहीं करना चाहिए।
- छोटी-छोटी मुश्किलों में और जरा जरा-सी बातों में प्रतिज्ञाएँ तोड़ देना बिल्कुल अनुचित है। ली हुई प्रतिज्ञा का पालन करना ही चाहिए।
- आज तो सबको धनवान होना है...चरित्रवान या गुणवान होने की कोई बात ही नहीं करता है!
- दूसरों की संपत्ति देखकर उसे छीनने की कोशिश मत करना...छीनकर, चोरी कर एकत्र की हुई संपत्ति आपके पास भी टिकेगी नहीं!
- कुछ भी करो...समय को पहचान कर, देश और समाज, लोग और आसपास की परिस्थिति का मूल्यांकन कर के करो, ताकि पछताने का मौका न आवे।



परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी, स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रन्थ में गृहस्थ जीवन के सामान्य धर्मों का प्रतिपादन करते हुए इक्कीसवाँ सामान्य धर्म बताते हैं 'अदेशकाल-चर्या का त्याग'।

अदेश और अ-काल को जानना होगा। अ-देश यानी कु-देश। देश से यहाँ भारत से मतलब नहीं है, गुजरात या महाराष्ट्र से मतलब नहीं है.... यहाँ मतलब है उस गाँव-नगर से कि जहाँ आपका निवास हो। जहाँ आप रहते हो...बसते हो।

वैसे, 'काल' से यहाँ उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल से मतलब नहीं है। चौथे या पाँचवें आरे से भी मतलब नहीं है, यहाँ मतलब है वर्तमान काल से। वर्तमान दिवस, वर्तमान महीना, वर्तमान वर्ष।

आसपास से अनजान मत रहो :

जिस गाँव-नगर में आप रहते हो वहाँ की परिस्थिति से आपको परिचित रहना चाहिए। आप अकेले हो या परिवार वाले हो, आप नौकरी करते हो या कोई धंधा करते हो, आपको नगर की परिस्थिति से वाकिफ रहना चाहिए।

अब तो भारत में राजा-महाराजा रहे नहीं हैं अन्यथा वह भी देखना पड़ता था कि राजा कैसा है? देश के विचार के साथ देश के अधिपति का विचार भी करना आवश्यक होता है। आज भले राजा नहीं हैं, परन्तु गाँव की पंचायत के लोग कैसे हैं, नगर है तो जिलाधीश कैसा है...! प्रजा का रक्षक है या भक्षक? प्रजा का पालक है या शोषक? किसी भी बात का स्वयं निर्णय करता है या किसी के कहे अनुसार निर्णय करता है? नगर के अधिपति का मित्रमंडल...मंत्रीमंडल कैसा है...। नगर में प्रजा की सुरक्षा का कैसा प्रबन्ध है...? इत्यादि देखना चाहिए। जो व्यक्ति ऐसा कुछ नहीं देखते हैं वे छोटी-बड़ी आफत में फँस जाते हैं। एक ऐतिहासिक घटना है। ‘सुकृतसागर’ नाम के ग्रन्थ में संग्रहित है :

देदाशाह की दास्तान :

मालव देश की ‘नांदुरी’ नगरी में ‘देद’ नाम का वणिक् था। दरिद्रता ने उसको घेर लिया था। सर पर लोगों का कर्जा भी बहुत हो गया था। उसने अपना ‘काल’ सोचा। ‘मेरे दुर्भाग्य का यह समय है...मुझे यहाँ नहीं रहना चाहिए। यहाँ मेरा बार-बार पराभव होता है...।’ उसने नगर छोड़ दिया। वह दिशाशून्य होकर चलता रहा। ‘हाँ मेरा भाग्य मुझे ले जायेगा वहाँ जाऊँगा...।’ उसने एक जंगल में प्रवेश किया। जंगल में घूमते-घूमते उसने एक योगी पुरुष को, एक वृक्ष के नीचे बैठा देखा। योगी पद्मासनस्थ था। उसके दोनों कान में स्फटिक-रत्न के कुंडल थे। उसके पास स्वर्ण दंड था। सारे शरीर पर भस्म का विलेपन था।

योगी को देखते ही देद वणिक् का हृदय हर्षान्वित हो गया। प्रफुल्ल नेत्रों से उसने योगी को देखा। आकाश में मेघ को-बादलों को देखकर जैसे मयूर आनन्दित हो जाता है...वैसे देद वणिक् आनन्दित हो गया!

एक ज्ञानी पुरुष ने कहा है : देवों का वरदान, सिद्ध पुरुषों का दर्शन, गुरुजनों का व राजा का सम्मान एवं नष्ट हुई संपत्ति की प्राप्ति, ये सब पुण्यकर्म के उदय से ही होता है।

प्रवचन-७३**३**

देद वणिक धीरे-धीरे योगी के पास गया। योगी के सामने चुपचाप बैठ गया। योगी आँखें मूँदकर ध्यान में निमग्न था। वह योगी उस समय का महान् रसायनविद् 'नागार्जुन' था। हालाँकि देद वणिक नहीं जानता था कि 'यह नागार्जुन योगी है,' परन्तु नागार्जुन की दिव्य प्रतिभा से वह प्रभावित हो गया। तीन दिन तक, बिना खाये-पिये वह योगी की सेवा करता रहा।

सत्त्वशीलता की पहचान :

उसने समय को पहचाना। योगी के पास उसने भोजन की याचना नहीं की। भूख तो लगी ही थी, परन्तु वह जानता था कि 'निःस्पृहता से सेवा करनेवालों पर योगी पुरुष प्रसन्न होते हैं और, सत्त्वशील पुरुष को ही वे कुछ प्रदान करते हैं।'

महापुरुषों की कृपा के पात्र बनने के लिए तीन बातें चाहिए ही-निःस्पृहता, सेवा और सहनशीलता। देद वणिक चाहे दरिद्र था, परन्तु उसने अपनी मनोवृत्तियों पर संयम रखा। उसने तीन दिन तक कोई याचना नहीं की। अपनी दरिद्रता का रुदन नहीं किया। वह बस, योगी की सेवा ही करता रहा! भूख-प्यास को सहन करता रहा।

नागार्जुन के मन पर इन बातों का अच्छा प्रभाव पड़ा। वह देद पर प्रसन्न हुआ। उसने देद से पूछा : 'वत्स, तू भोजन क्यों नहीं करता है? और यहाँ क्यों आया है?'

देद ने अपनी जो बात थी...बता दी। सच-सच बात कह दी। चूँकि वह जानता था कि 'महापुरुषों के सामने सत्य, प्रिय और हितकारी वचन ही बोलने चाहिए।' देद के सत्य और मधुर वचन सुनकर, नागार्जुन के हृदय में कृपा उभर आयी। नागार्जुन यौगिक शक्तियों का धनी था। उसने तत्काल योगशक्ति से, क्षीरान्न से भरा थाल, आकाश-मार्ग से मंगवाया और देद से कहा : 'भोजन कर ले।'

आचारपालन की निष्ठा :

देद ने दो हाथ जोड़कर विनम्र शब्दों में कहा : 'हे पूज्य, आपने यह भोजन किसी अनजान घर से मंगवाया है, इसलिए मैं यह भोजन नहीं कर सकता! चूँकि सत्पुरुष बड़े संकट में फँसा हो तो भी वह अपने आचार को त्याग नहीं सकता है।'

देद का प्रत्युत्तर बहुत ही मार्मिक है। उसने नीतिशास्त्र की उक्ति को मिथ्या सिद्ध कर दिया! नीतिशास्त्र कहता है : **‘बुभुक्षितो किं न करोति पापम्?’** भूखा मनुष्य कौन-सा पाप नहीं करता है? यानी कोई भी पाप कर लेता है। परन्तु देद, बुभुक्षित-भूखा होने पर भी अनजान घर का भोजन करने को तैयार नहीं हुआ। तीन-तीन दिन का भूखा था देद, फिर भी अपने आचारपालन में दृढ़ रहा! वह भी एक महायोगी के सामने...

मनोबल गिरता जा रहा है :

आप लोग क्या अपना आत्मनिरीक्षण करेंगे? मामूली विघ्नों में भी आप अपनी आचार-मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं करते हो न? कैसी कैसी बातें आप लोग करते हैं?

○ मुसाफरी में दूसरी कोई सब्जी नहीं मिलती है इसलिए हमें जमीनकंद खाना पड़ता है। आलू की सब्जी ही मिलती है।

○ पार्टी में जाना पड़ता है। वहाँ भोजन में जमीनकंद आ ही जाता है। होटल में जाते हैं, वहाँ पर भी जमीनकंद आता है।

○ यों तो शराब नहीं पीते हैं...परन्तु कभी ‘बॉस’ के साथ पार्टी में जाना पड़ता है, वहाँ मना नहीं कर सकते हैं...थोड़ी सी शराब पीनी पड़ती है।

○ रात्रि-भोजन तो करना ही पड़ता है...

ऐसी तो अनेक बातें लोग करते हैं। निःसत्त्वता व्यापक बनी है। निःसत्त्व मनुष्य आचार-मर्यादाओं का पालन नहीं कर सकता है।

निःसत्त्व और कायर मनुष्य, योगी पुरुषों की कृपा के पात्र नहीं बन सकते हैं। दिव्य कृपा, सत्त्वशील और सहनशील मनुष्य पर अवतरित होती है। देद वणिक सत्त्वशील था, सहनशील था। तीन दिन का भूखा होने पर भी, अनजान घर से योगशक्ति से मंगवाया हुआ भोजन करने से वह इनकार कर देता है! नागार्जुन जैसे योगी को मना करने में कितनी निर्भयता चाहिए?

नागार्जुन प्रसन्न हो उठा :

नागार्जुन, देद वणिक की आचारदृढ़ता देखकर प्रसन्न हो गया। उसने योगबल से, जहाँ से क्षीरान्न का भोजन मंगवाया था, देद को कह दिया : ‘वत्स, यह भोजन, नांदुरी नगर से, ‘नाग’ नाम के श्रेष्ठि के घर से मंगवाया है। नाग ने गोत्र देवता के सामने यह भोजन रखा था। इसलिए तू खा ले।’

देद ने भोजन किया। नागार्जुन के पास सुवर्णसिद्धि थी। वह यह सुवर्णसिद्धि किसी योग्य व्यक्ति को देना चाहता था। अयोग्य व्यक्ति को 'सिद्धि' नहीं दी जाती।

कच्ची मिट्टी के घड़े में पानी डालो तो? घड़ा ही ढह जायेगा न? वैसे अयोग्य व्यक्ति को सिद्धि दी जाय तो? उस व्यक्ति का ही अहित हो जाय! इसलिए महापुरुष, दूसरे जीवों पर उपकार की भावनावाले तो होते हैं, परन्तु वे पात्रता भी अवश्य देखते हैं।

भिखारी को क्या देना? :

सभा में से : आजकल कई ऐसे भिखारी होते हैं, उनको पैसा देते हैं तो वे जुआ खेलते हैं; अच्छे कपड़े देते हैं तो बेच देते हैं।

महाराजश्री : ऐसे लोगों को पैसा नहीं देना चाहिए। भोजन देने में ऐसा कुछ सोचने की जरूरत नहीं है। आपने जैसे भिखारी की बात कही, वैसे कई ऐसे लोग कि जो अपने को दुःखी बताते हैं-जैनधर्मी बताते हैं, वे भी भीख माँगना सीखे हुए हैं। कोई काम-धंधा करते नहीं, धर्मस्थानों में जाते हैं और सहायता की याचना करते हैं। उनको माँगने की आदत पड़ गई है। ऐसे लोगों को पैसा देकर उनकी आदत को दृढ़ करते हो आप लोग! और इस तरह उन्हें बढ़ावा देते हो।

एक युवक था। ग्रेज्युएट था। मेरे पास आया। नौकरी छूट गई थी। दरिद्र हो गया था। सहायता की याचना की। मैंने उससे कहा : 'किसी उद्योगपति के वहाँ तुझे नौकरी दिला दूँ, परन्तु चार बातों का पालन करना होगा। मांसाहार नहीं करना, शराब नहीं पीना, जुआ नहीं खेलना, और अपनी पत्नी को वफादार रहना। बोल, है इन बातों के पालन की तैयारी?'

उसने कहा : 'मैं कल सोचकर आऊँगा...' अभी तक नहीं आया है। कहिए, इन बातों का भी जो पालन करने को तैयार न हो, उसको पात्र कहेंगे या कुपात्र? ऐसे कुपात्रों पर उपकार कैसे किया जाय?

लोगों को धनवान् होना है, चरित्रवान् नहीं बनना है! चरित्रहीनता कितनी बढ़ गई है? चरित्रहीन व्यक्ति कभी भी महान् सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता है।

नागार्जुन ने, देद में उच्चकोटि का चरित्र देखा। महान् सिद्धि को पाने की और सुरक्षित रखने की क्षमता देखी। वचनपालन की दृढ़ता देखी। नागार्जुन ने देद से कहा :

'वत्स, मैं तुझे उपकृत करना चाहता हूँ। तू यदि मेरी एक बात माने तो...'।'

प्रवचन-७३**६**

‘हे पूज्य, आप ऐसा क्यों बोलते हैं? देवराज इन्द्र भी आपके आदेश का उल्लंघन करने में समर्थ नहीं हैं। मैं कौन हूँ? मेरी तो कोई शक्ति नहीं है। मैं सच्ची लगन से आपके वचन की आराधना करूँगा...जैसे कोई चिन्तामणि रत्न की आराधना करता है वैसे।’

सुवर्णसिद्धि दे दी :

देद के विनययुक्त वचन सुनकर योगी प्रसन्न हुआ, उसने कहा : ‘देद, वणिक लोग बड़े लोभी होते हैं। उनके पास लाखों-करोड़ों रुपये हों...तो भी दूसरे याचकों को एक कौड़ी देने को भी तैयार नहीं होते। इसलिए मैं तुझे कहता हूँ कि किसी भी याचक को, जो तेरे द्वार पर आये, नकारा मत करना। निराश मत करना। मैं तुझे सुवर्णसिद्धि देना चाहता हूँ।’

सुना आप लोगों ने? नागार्जुन जैसे सिद्धयोगी ने वणिकों के विषय में कैसा अभिप्राय दिया है? ज्यों ज्यों रुपये बढ़ते हैं त्यों त्यों उदारता बढ़ती है या लोभ? कृपणता ही बढ़ती है न? वणिक होगा परन्तु ‘जैन’ होगा या ‘श्रावक’ होगा तो कृपण नहीं होगा! सही बात है न?

सभा में से : हम लोग तो नाम मात्र के जैन हैं... हमारे में सच्चा जैनत्व ही कहाँ है?

महाराजश्री : सच्चा जैनत्व पाने की तमन्ना है? सच्चे जैन बनने से कौन रोकता है? मात्र वणिक यानी व्यापारी मत बने रहो। एक नीतिशास्त्रकार ने भी वणिक को लताड़ा है। उन्होंने कहा है : ‘राजा यदि किसी पर प्रसन्न होता है तो एक खेत दे देता है, खेत का मालिक किसान यदि प्रसन्न होता है तो थोड़ा धान्य दे देता है, परन्तु वणिक यदि तुष्ट होता है हालाँकि जल्दी होता नहीं है, पर कभी यदि गलती से हो भी जाय तो मात्र हाथों से ताली ही देता है। यानी कुछ भी नहीं देता है। नागार्जुन ने इस दृष्टि से देद को पहले ही सावधान कर दिया। सुवर्णसिद्धि देना है न?’

देद ने नागार्जुन योगी के चरणों में प्रणाम कर योगी की आज्ञा स्वीकार कर ली। आज्ञापालन करने के लिए वचनबद्ध हुआ। योगी ने उसको सुवर्णसिद्धि का प्रयोग कर बताया। लोहे के कुछ टुकड़ों पर, वनस्पति के रस से लेप करवा कर उन्हें अग्नि में डलवाया। लोहे के टुकड़े सोना बन गये। बाद में योगी ने देद के पास से वैसा ही प्रयोग करवाया, प्रयोग सफल हो गया। देद बड़ा आनंदित हो उठा।

आनंदित होना स्वाभाविक था! उसका भाग्योदय... पुण्योदय हुआ था। उसका पुण्योदय ही उसको जंगल में ले गया था और पुण्योदय ने ही नागार्जुन जैसे योगी का परिचय करवाया था। परिचय के बाद, देद ने उस परिचय को सफल बनाने के लिए बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ किया था। प्रारब्ध और पुरुषार्थ से उसके जीवन में...दरिद्रता के अन्धकारयुक्त जीवन में सुख का सूर्य उदित हुआ था।

कृतज्ञता का गुण महान् है :

योगी ने उसको आशीर्वाद दिया और घर जाने की इजाजत दी। देद ने योगी को श्रद्धा से वंदना की और घर जाने को चल दिया। रास्ते में उसका मन योगी के विषय में ही सोचता रहता है! 'लोहे का सोना....!! इस कलियुग में भी ऐसी सिद्धि वाले महापुरुष हैं...और कैसे महान् परोपकारी! मेरे जैसे तुच्छ व्यक्ति पर उन्होंने कैसा महान् उपकार किया! मैं उनका उपकार कभी भी नहीं भूलूँगा...।'

देद में यह 'कृतज्ञता' का गुण था। उपकारी के उपकारों को नहीं भूलना, यह बहुत बड़ा गुण है। देद सोचता है : 'मैं योगी को दिया हुआ वचन, बराबर निभाऊँगा। मैं किसी याचक को निराश नहीं करूँगा। क्यों करूँगा निराश जब कि मेरे पास 'सुवर्णसिद्धि' है। परन्तु, सर्वप्रथम तो मैं अपनी दरिद्रता दूर करूँगा। मेरे सर पर जिनका-जिनका कर्ज है, उनको ब्याजसहित रुपये दे दूँगा। बाद में अनेक अच्छे काम करूँगा। मंदिर बनवाऊँगा... धर्मशालाएँ बनवाऊँगा... दीन-अनार्थों को दान दूँगा....।'

उसके मन में अनेक अच्छी-अच्छी भावनाएँ पैदा होती हैं। 'पुण्यानुबंधी पुण्य' का उदय हो, तब ही ऐसी उत्तम भावनाएँ पैदा होती हैं।

देद अपने घर पहुँचा। योगी ने जो सोना बनाया था, वह सोना देद को दे दिया था, देद वह सोना अपने साथ ले आया था।

देद समय को परखना चूक गया :

देद को अब जो देश-काल का विचार करना था, वह नहीं कर पाया। न प्रजा का विचार किया, न राजा का विचार किया। अब उसकी दरिद्रता दूर हो गई थी, वह अचानक धनवान् बन गया था। उसने, जिन लोगों को रुपये देने थे, दे दिये। अपने घर को अच्छा बनाया। रहन-सहन भी बदल गया। नगर के लोग सोचने लगे : 'देद के पास इतने रुपये कहाँ से आ गये? उसने कोई

व्यापार तो किया नहीं है! चोरी करे वैसा आदमी भी नहीं है... तो क्या उसको जमीन में से खजाना मिला होगा? अवश्य ऐसा ही लगता है...खजाना मिल गया लगता है।'

‘मुझे अचानक प्राप्त हुई धनाढ्यता के विषय में लोग क्या सोचेंगे...और यदि यह बात राजा के पास गई, तो राजा क्या करेगा?’ यह विचार देद को नहीं आया। लोगों की विचारधारा से मनुष्य को परिचित रहना चाहिए, अन्यथा निष्प्रयोजन आफत आ सकती है। एक विषय का पुण्योदय होने से सभी विषयों का पुण्योदय नहीं हो जाता! पुण्योदय और पापोदय साथ-साथ चलते हैं, अपने जीवन में!

पुण्य और पाप की पटरी पर जीवन की गाड़ी :

○ किसी को धन-धान्य का पुण्योदय होता है, तो शरीर के आरोग्य का पुण्योदय नहीं होता, शरीर रोगी होता है...!

○ किसी को पुण्योदय से शरीर स्वस्थ और नीरोगी होता है, तो धन-धान्य का पापोदय होता है!

○ किसी को पुण्योदय से काफी धन-संपत्ति मिलती है, तो पापोदय से परिवार का सुख नहीं मिलता।

○ किसी को पुण्योदय से परिवार अच्छा मिलता है, तो पापोदय से धन-संपत्ति नहीं मिलती!

○ किसी को पुण्योदय से धन-संपत्ति मिलती है... तो पापोदय से शत्रु बहुत होते हैं!

○ किसी के पुण्योदय से मित्र बहुत होते हैं, तो पापोदय से धन-संपत्ति नहीं मिलती...!

○ संसार में कर्मों की ऐसी विचित्रता देखने को मिलती है। पुण्योदय थोड़ा और पापोदय ज्यादा। इसलिए सुख थोड़ा और दुःख ज्यादा। कब पुण्योदय समाप्त हो जाय और पापोदय शुरू हो जाय-वह भी जीव नहीं जान सकता है। इसलिए पुण्योदय पर भरोसा नहीं रखना चाहिए। कर्मों पर भरोसा रखना ही नहीं है।

देद ने अपने पुण्योदय पर भरोसा कर लिया। उसने माना होगा कि ‘अब मेरे दुःख चले गये, मैं सुखी हो गया...।’ उसने यह नहीं सोचा कि देश और काल बदलते रहते हैं। देद का दरिद्रता का काल चला गया था, संपत्ति का

प्रवचन-७३**९**

काल आ गया था....। संपत्ति का काल अचानक आया था न? संपत्ति का स्रोत भी गुप्त था। इसलिए नगरवासी लोग उसके प्रति शंका की दृष्टि से देखने लगे थे। देद ने किसी को भी बताया नहीं था कि उसने 'सुवर्णसिद्धि' पायी है। बताना भी नहीं चाहिए।

आफत आ गई :

कुछ ईर्ष्या से जलनेवाले लोग भी होते ही हैं। उन्होंने जाकर राजा को कह दिया : 'महाराजा, अपने नगर में एक देद वणिक है। उसको कोई गुप्त खजाना मिल गया लगता है।'

राजा देद को पहचानता नहीं था। परन्तु उसने ज्यों खजाने की बात सुनी, त्यों ही देद की खोज करने के लिए चार राजपुरुषों को भेज दिया। राजा ऐसा समझता होगा कि 'किसी भी प्रजाजन को खजाना-गुप्त खजाना मिल जाय, तो उस खजाने का मालिक मैं हूँ...चूँकि मैं राजा हूँ।' धन-संपत्ति का मोह छूटना बहुत मुश्किल है।

प्रजावत्सल राजा कैसे होते थे?

सत्ताधीश ऐसा मानता है कि 'मैं दूसरों की संपत्ति भी ले सकता हूँ।' सत्ताधीशों में प्रजावत्सलता बहुत कम दिखाई देती है। बहुत कम सत्ताधीश प्रजावत्सल होते हैं। प्रजा की संपत्ति देखकर खुश होने वाले कुछ राजाओं के नाम इतिहास में पाये जाते हैं। गुजरात का राजा सिद्धराज, एक दिन राजमार्ग से गुजर रहा था। संध्या का समय था। एक श्रेष्ठि की हवेली पर उसने अनेक दीपक जलते हुए देखे। साथ में मंत्री था, मंत्री से पूछा : 'इतने दीये क्यों जल रहे हैं, इस हवेली पर?' मंत्री ने कहा : 'महाराजा, ये दीपक संपत्ति के सूचक हैं। जितने लाख रुपये इस श्रेष्ठि के पास होंगे, उतने दीपक होंगे।' सिद्धराज ने दूसरे दिन उस हवेली के श्रेष्ठि को राजसभा में बुलाकर पूछा : 'श्रेष्ठि, आपके पास कितने लाख रुपये हैं?' श्रेष्ठि ने कहा : 'महाराजा, मेरे पास ८४ लाख रुपये हैं।'

राजा ने तुरन्त कोषाध्यक्ष से कहा : 'इस श्रेष्ठि के वहाँ १६ लाख रुपये भेज दो।'

श्रेष्ठि से कहा : 'श्रेष्ठि, अब आपको रोजाना इतने सारे दीपक जलाने नहीं पड़ेंगे! अब आपकी हवेली पर कोटि-ध्वज लहरायेगा!'

श्रेष्ठि राजा के प्रति हर्षाश्रु बहाता हुआ नतमस्तक हो गया!

अब आप सोचें कि ऐसे राजा के लिए, राज्य के लिए, प्रजा क्या त्याग नहीं कर सकती? कौन-सा समर्पण नहीं कर सकती? ऐसे सत्ताधीशों के देश में प्रजा निर्भयता से जी सकती है। निर्भय और निश्चित बन कर धर्म-अर्थ-काम-पुरुषार्थ कर सकती है।

चारों तरफ लूट मची है :

वर्तमानकालीन सत्ताधीशों की धनलालसा अमर्यादित बनी है। सत्ताधीशों ने अपने लिए 'पूँजीवाद' पसंद किया है! प्रजा के लिए 'निर्धनवाद' पसंद किया है। साम्यवाद और समाजवाद तो मात्र बोलने के रह गये हैं। चारों ओर प्रजा को लूटने का काम हो रहा है। प्रजा बुरी तरह पीसी जा रही है। कहते हैं 'प्रजा का राज्य है'-परन्तु यह भयानक असत्य है! प्रजा का राज्य नहीं है, मदान्ध सत्ताधीशों का राज्य है। प्रजा को कहाँ निर्भयता है?

इस परिस्थिति को देखते हुए आपको सजग बनना होगा। ऐसी जीवन पद्धति को अपनायें कि आप लूटे न जायँ, आफतों में फँस न जायँ। श्रीमन्त बनने के...बड़े धनवान् बनने के मनोरथ छोड़ दें। यदि श्रीमन्त बन भी गये तो संपत्ति का संग्रह न करें, अच्छे कार्यों में गुप्तदान देते रहें। हो सके उतना ज्यादा गुप्तदान दें। जाहिर में बड़े दान देने में भी खतरा है। सत्ताधीशों की निगाह में आ गये...तो आफत आ सकती है। देद वणिक राजा की निगाह में आ गया! हालाँकि उसने तो अभी कोई बड़ा दान भी नहीं दिया था...रहन-सहन में ही परिवर्तन हुआ था। कर्जा उतारा था...और जीवन-व्यवहार में थोड़ी उदारता आयी थी...बस, इतने में भी लोगों की ईर्ष्याभरी दृष्टि में आ गया! बात पहुँच गई राजा के पास! 'देद को कोई गुप्त खजाना मिल गया है!' राजा के मन में वह खजाना पाने की तीव्र इच्छा पैदा हो गई!

अफवाह के पंख लग जाते हैं :

गाँवों में और छोटे नगरों में ऐसी बातें जल्दी फैलती हैं! कोई श्रीमन्त बनता है...शीघ्र बात फैल जाती है और कोई निर्धन बनता है तो भी बात शीघ्र फैल जाती है! बंबई, कलकत्ता जैसे बड़े नगरों में ऐसा नहीं होता है। नांदुरी नगरी छोटी थी। देद की संपत्ति की बात शीघ्र फैल गई। कुछ लोग खुश होने वाले भी होंगे...कुछ लोग ईर्ष्या से जलने वाले होंगे। हर काल में जीवों के दो प्रकार मिलते हैं! चौथा आरा हो या पाँचवा आरा हो! सतयुग हो या कलियुग हो!

दूसरों की संपत्ति देखकर कभी भी ईर्ष्या मत करना। 'उनके पास लाखों-करोड़ों रुपये हैं और मेरे पास कुछ नहीं?' ऐसी हीन भावना से व्याकुलता बढ़ती है। संपत्ति पुण्य कर्म के उदय से ही मिलती है। बिना पुण्योदय, मानो कि किसी की संपत्ति छीन ली, तो भी वह संपत्ति आपके पास रहेगी नहीं। दूसरी बात, आप दूसरे को गिराने का, कष्ट में डालने का प्रयत्न करेंगे, परन्तु यदि उसका प्रबल पुण्योदय होगा, तो आप उसको नहीं गिरा सकेंगे, कष्ट में नहीं डाल सकेंगे। आप पापकर्मों से अवश्य बँध जायेंगे।

राजा के पास :

राजा के भेजे हुए चार राजपुरुष देद वणिक के घर पर पहुँच गये। देद भोजन करने के लिए बैठनेवाला ही था, राजपुरुषों ने कहा : 'भोजन बाद में करना, अभी चलो राजमहल में। महाराजा ने शीघ्र आपको बुलाया है।'

बिना भोजन किये देद राजपुरुषों के साथ राजा के पास गया। राजा ने देद का कोई उचित सत्कार किये बिना ही, तुरन्त पूछा : 'देद, लोग कहते हैं कि तुझे जमीन में से गुप्त निधान प्राप्त हुआ है, क्या यह बात सच है?'

राजा के प्रश्न से देद उसी क्षण सारी परिस्थिति को समझ गया। देद ने बड़ी स्वस्थता से प्रत्युत्तर दिया :

'महाराजा, मेरी आप से विनती है कि आप ऐसी सुनी हुई बात को सत्य नहीं मानें। आप सोचें कि मेरा ऐसा भाग्य कहाँ कि मुझे निधान प्राप्त हो? इसलिए, हे स्वामिन्, लोगों की बात सच्ची नहीं है। किसी हितशत्रु ने ऐसी बात आपको कही लगती है।'

राजा ने कहा : 'देद, तू माया-कपट मत कर। माया छोड़कर, जो सच बात हो, वह कह दे। मैं वणिकों के चरित्र जानता हूँ...।'

देद अपने मन में सोचता है : 'अब मुझे इस राज्य में नहीं रहना चाहिए। शीघ्र ही इस राज्य का त्याग करके मैं यहाँ से चला जाऊँगा। उपद्रवग्रस्त देश का त्याग कर देना चाहिए।'

जो देश अच्छा न हो, जो समय अनुकूल न हो, उसका त्याग करना-यह २१वाँ सामान्य धर्म है। इस सामान्य धर्म का पालन करने से मनुष्य इहलौकिक एवं पारलौकिक उपद्रवों से बच सकता है।

आज बस, इतना ही।



- अनेक प्रकार की यात्राओं में महत्त्वपूर्ण एवं जरूरी यात्रा है लोकयात्रा! लोकयात्रा यानी उचित लोकव्यवहार!
- बुद्धिहीन व्यक्ति लोकयात्रा को पहचान नहीं पाता है और यह निष्फल जाता है।
- धर्म की क्रियाओं में रचे-पचे लोग भी जब लोकविरुद्ध कार्यों का त्याग नहीं करते तब लोगों में, समाज में धर्म की निन्दा होती है।
- धर्म, परिवार, समाज और समाज व नगर के अग्रणी लोगों की मानसिकता से पूरे परिचित रहो।
- संघ के साथ दुर्व्यवहार करना या संघ की बात को ठुकराना उचित नहीं है, हालाँकि संघ को भी सब कुछ जिनाझा के मुताबिक ही करना चाहिए।
- परमात्मा के नामस्मरण में भी बड़ी ताकत छुपी हुई है। प्रतिपल चमत्कार हो सकते हैं, चाहिए हमारा आस्थासभर समर्पण परमात्मा के चरणों में।



परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रन्थ में, गृहस्थ जीवन के सामान्य धर्म का प्रतिपादन करते हुए बाईसवाँ सामान्य धर्म बताते हैं : योग्यतानुसार लोकव्यवहार। ग्रन्थकार ने 'लोकयात्रा' शब्द का प्रयोग किया है।

जैसे आप लोग तीर्थयात्रा करते हो, रथयात्रा करते हो, पदयात्रा करते हो... वैसे यह लोकयात्रा करने की है। तीर्थयात्रा वर्ष में एक-दो बार करते होंगे, रथयात्रा भी वर्ष में २/३ ही निकलती होंगी...पदयात्रा तो कभी-कभी ही करते होंगे!

लोकयात्रा करना सीखो :

तीर्थयात्रा करते हुए आप लोग परमात्मा का स्मरण करते हो, तत्काल चमत्कार देखने को नहीं मिलता। रथयात्रा निकल गई और पदयात्रा कर ली, तो तत्काल उसका कोई गलत 'रि-एक्शन' देखने को नहीं मिलता...परन्तु यदि

लोकयात्रा में आपने थोड़ी-सी भी गफलत कर दी, भूल कर दी तो तत्काल चमत्कार देखने को मिलेगा! लोकयात्रा बड़ी सावधानी से करने की होती है।

तीर्थयात्रा और रथयात्रा अथवा पदयात्रा तो आप अपनी इच्छा से कर सकते हैं, आपकी इच्छा पर निर्भर होता है, परन्तु लोकयात्रा तो करनी ही पड़ती है। यदि आपको लोकयात्रा करनी आ गई तो आपको लाभ ही लाभ है! यह सामान्य धर्म है परन्तु जीवन में इसका महत्त्व सामान्य नहीं है, असाधारण है!

लोकयात्रा में मनुष्य को सतर्क और जाग्रत रहना पड़ता है। बुद्धिमत्ता चाहिए। बुद्धिहीन मनुष्य लोकयात्रा में निष्फल जाता है। चूँकि इस यात्रा में आपको दूसरे लोगों के विचारों को जानने पड़ते हैं। लोगों की धारणाओं को जानना पड़ता है।

जिस संघ में, जिस समाज में, जिस नगर में आप रहते हैं, वहाँ आपका गौरव और आपके सदाचारों का गौरव सुरक्षित रखना चाहिए। गृहस्थ के जीवन में जैसे मकान, वस्त्र, भोजन, परिवार, मित्र वगैरह आवश्यक होते हैं वैसे अपना गौरव भी आवश्यक होता है। कोई आपका अनादर न करे, कोई आपके सदाचारों की भर्त्सना न करे, वह बड़ी महत्त्व की बात है। इसलिए आपको, लोगों के विचारों से परिचित रहना चाहिए।

आत्म-गौरव बनाये रखो :

जीवन-व्यवहार में गौरव बनाये रखना बहुत आवश्यक होता है। गौरव का अर्थ जानते हो क्या? गौरव का अर्थ केवल मान-सम्मान मत समझना! गौरव का अर्थ है मनुष्य के व्यक्तित्व की गरिमा। निराभिमानी मनुष्य के व्यक्तित्व की गरिमा से लोग काफी प्रभावित होते हैं।

मान लो कि आप बड़े धनवान् हो, आप बड़े सत्ताधीश हो...अथवा आप किसी बड़े ट्रस्ट के ट्रस्टी हो, आपका लोगों के साथ यदि नम्रतापूर्वक व्यवहार होगा, सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार होगा, लोगों को सहायक बनने का रवैया होगा, तो आपका गौरव बढ़ेगा। आपके धर्माचरण का भी गौरव बढ़ेगा।

लोगों के मुख्य चार विभाग कर सकते हैं :

१. परिवार के लोग,
२. संघ-समाज के लोग,
३. नगर के लोग,
४. प्रमुख लोग।

धर्म को प्रमुखता दो :

इन सभी लोगों के मानसिक विचारों से आपको परिचित रहना चाहिए। उनके कौन-कौन-से दृढ़ आग्रह हैं, दृढ़ मान्यताएँ हैं, दृढ़ धारणाएँ हैं...वे जान लेनी चाहिए। और, जो आग्रह, जो मान्यता, जो धारणा धर्मविरुद्ध न हो यानी गृहस्थधर्म से विपरीत न हो, उसका विरोध नहीं करना चाहिए। 'यह मान्यता धर्मविरुद्ध है अथवा धर्मविरुद्ध नहीं है,' इस बात का निर्णय करने की आपकी क्षमता होनी चाहिए। कुछ सरल जीव तो मान लेते हैं कि उनकी ऐसी क्षमता नहीं है। मंदिर-उपाश्रय में आनेवाले कुछ लोग ऐसे होते हैं कि जिनकी ऐसी क्षमता नहीं होती है, फिर भी वे मानते हैं कि उनकी वैसी क्षमता है। ऐसे लोग जो कार्य धर्मविरुद्ध नहीं होता है, उसको धर्मविरुद्ध कह देते हैं और जो कार्य धर्मविरुद्ध होता है, उस कार्य को धर्मसम्मत कह देते हैं।

जैसे, कार्य 'धर्मविरुद्ध' नहीं होना चाहिए, वैसी जिनाज्ञा है, वैसे कार्य 'लोकविरुद्ध' नहीं होना चाहिए, यह भी जिनाज्ञा है। लोगों के विचारों का ऐसा तिरस्कार नहीं करना चाहिए कि जिससे लोगों का मानस आपके प्रति तिरस्कारयुक्त हो जाय। आपका अनादर करें, आपके अच्छे कार्यों का भी अनादर करें।

अल्पज्ञ, जड़ बुद्धिवाले लोग, जो कि धर्मस्थानों में आते-जाते हैं, बात-बात में धर्म की दुहाई गाते रहते हैं, और लोकविरुद्ध कार्य करते रहते हैं, ऐसे ही लोगों ने जनमानस पर धर्म की विकृत छवि पैदा की है। धर्म के पवित्र आचारों की निन्दा करवाई है। वे लोग स्वयं तो निन्दित होते ही हैं, सदाचारों की भी निन्दा करवाते हैं।

परिवार का तिरस्कार मत करो :

पहले, परिवार के लोगों की बात कर लें। परिवार में आपके माता-पिता हैं, भाई हैं, बहनें हैं, पत्नी है, लड़के-लड़कियाँ हैं... इन सबके विचारों से, भावनाओं से आपको परिचित रहना चाहिए। घर में सभी लोग, आपकी विचारधारा में बहनेवाले नहीं भी हो सकते। आप यदि ऐसा आग्रह रखते हैं कि 'घर के सभी लोग मेरा कहा मानें, मैं कहूँ वैसा करें...', तो क्या संभवित है? आपको यदि परिवार का स्नेह अर्जित करना है, तो उन लोगों की बातों को बार-बार ठुकराना बंद करें, उन लोगों का तिरस्कार करना बंद करें।

मनुष्य की एक ऐसी भी भूमिका होती है कि वह सत्य को समझता हो, फिर भी आचरण नहीं कर सकता हो। सत्य को स्वीकार करना और सत्य को जीवन में जीना, दो अलग बातें हैं। जितना सत्य समझता हो, सभी सत्य को जीवन में जीनेवाला व्यक्ति वीतराग-सर्वज्ञ बने बिना नहीं रहे! अपने लिए यह सब संभव नहीं है। जो सत्य जीवन में जी सकने में अपन असमर्थ हों, उस सत्य का स्वीकार और पक्षपात तो होना ही चाहिए।

इस बात को अब पारिवारिक जीवन में कैसे लाया जाय, यह समझाता हूँ। आपका लड़का मानता है कि परमात्मा की पूजा करनी चाहिए, सामायिक-क्रिया करनी चाहिए, परन्तु वह नहीं कर पाता है, तो आप क्या करेंगे? क्या आप उसकी सच्ची मान्यता की सराहना करेंगे? नहीं न? आप तो उपालम्भ देंगे उसको...चूँकि वह पूजा करता नहीं है, सामायिक करता नहीं है। बार-बार कटु शब्दों में उसकी भर्त्सना करते हो न?

इससे आपके प्रति उसके मन में दुर्भाव पैदा होता है। आप जो पूजा, सामायिक वगैरह क्रियाएँ करते होंगे, उन धर्मक्रियाओं के प्रति भी दुर्भाव पैदा होगा। चूँकि दुनिया के लोग, धर्म करनेवालों से अच्छे व्यवहार की, सरल व्यवहार की अपेक्षा रखते हैं। वे चाहते हैं कि मंदिर में जानेवाले, धर्मगुरुओं के उपदेश सुननेवाले शान्त होने चाहिए, प्रामाणिक एवं विनम्र होने चाहिए। यदि ऐसे नहीं होते हैं तो दुनिया उनकी तो निन्दा करती ही है, धर्मक्रियाओं की भी निन्दा करती है।

जो लोग, 'धर्म उत्तम है, गुरुजन अच्छे हैं, परमात्मा की भक्ति करने जैसी है...दीन-अनाथजनों की सेवा करनी चाहिए,' ऐसा मानते हैं; उनका अनादर मत करें। अच्छी बातों का स्वीकार करनेवालों का भी जिनशासन ने मूल्यांकन किया है।

सबसे हिलमिल चलिए :

अलबत्ता, आपके हृदय में ऐसी भावना होना स्वाभाविक है कि 'मेरे घर में सभी लोग धर्म करनेवाले होने चाहिए। मेरे घर में सभी लोग सदाचारी होने चाहिए...'। आप उनको कभी-कभी मधुर शब्दों में प्रेरणा भी देते रहें, वहाँ तक तो उचित है, परन्तु आपको दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिए। दुर्व्यवहार करने से परिणाम अच्छा नहीं आता है।

संघ और समाज के लोगों के साथ भी अच्छा व्यवहार रखना चाहिए।

कैसा होना? दूसरों के लिए या अपने लिए भी? :

सभा में से : संघ के साथ अच्छा व्यवहार रखना चाहिए, परन्तु संघ कैसा होना चाहिए? 'नन्दीसूत्र' में जैसा संघ का वर्णन आता है, वैसा होना चाहिए न?

महाराजश्री : यदि संघ नन्दीसूत्र में जैसा बताया गया है वैसा होना चाहिए, ऐसा मानते हो, तो साधु 'आचारांग सूत्र' में जैसा बताया है वैसा होना चाहिए न? और श्रावक 'उपासक दशा' में जैसा बताया है वैसा होना चाहिए न? संघ कैसा होना चाहिए, यह सोचते हो; परन्तु हमें कैसा होना चाहिए, यह कभी सोचते हो? संघ क्या है? साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका का समूह ही संघ है। साधु-साध्वी एवं श्रावक-श्राविका जैसे होंगे, वैसा ही संघ होगा।

संघ के साथ दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिए। कभी कोई बात संघ की, आपको पसंद न भी हो, तो भी संघ का अपमान नहीं करना चाहिए। तुच्छ और कटु शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

कब कौन-सा हित महत्त्वपूर्ण? :

दुर्व्यवहार करनेवाले लोग अपना ही अहित करते हैं। संघ और समाज के साथ वैर बाँधनेवाले तो तत्काल दुःखी होते हैं। इसलिए जब परिवार का हित सामने आये तब व्यक्तिगत हित का विचार छोड़ दो। सामाजिक हित का प्रसंग आये तब पारिवारिक हित को गौण कर दो। जब राष्ट्रीय हित का अवसर हो तब सामाजिक हित को महत्त्व मत दो। राष्ट्रीय हित से भी बढ़कर होता है समग्र जीवसृष्टि का हित। समग्र जीवसृष्टि के कल्याण का लक्ष्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

सामान्य...क्षुद्र मनुष्य अपना ही हित सोचता है। वह भी आत्महित नहीं, भौतिक सुखों का ही विचार करता है। जब कष्ट आता है, आपत्ति आती है...तब वो अपना ही विचार करता है। संभव है कि परिवार को भी भूल जायँ! ऐसा व्यक्ति महान् धर्मसाधना करने योग्य नहीं होता है। कष्ट और आपत्ति में भी जो अपना धैर्य बनाये रखता है, वह मनुष्य उचित लोकयात्रा कर सकता है। अधीर और कायर व्यक्ति लोकयात्रा में सफल नहीं होता है।

देद श्रावक (महामंत्री पथेडशाह के पिता) धीर और वीर पुरुष थे। उनकी लोकयात्रा उचित ही थी, परन्तु वे लोगों के मन को समझ नहीं पाये! व्यवहार अच्छा था लोगों के साथ, परन्तु लोकमानस विचित्र होता है न! देद श्रावक का वैभव, कुछ लोगों के लिए ईर्ष्या का कारण बन गया। बात राजा के पास

पहुँची। राजा ने देद को बुलावा भेजा। राजपुरुष जब देद को लेने उसके घर पहुँचे तब देद भोजन करने की तैयारी करते थे। राजपुरुष ने उसको भोजन नहीं करने दिया। देद की धर्मपत्नी विमलश्री बुद्धिमती नारी थी। उसको संकट की गंध आ गई। सावधान हो गई। देद को राजपुरुष राजमहल में ले गये। उधर विमलश्री ने सारभूत संपत्ति की एक छोटी-सी गठड़ी बाँध ली...जिसको उठाकर वह चल सके।

देद पर आफत आ घिरी :

देद ने बड़ी धीरता एवं निर्भयता से राजा के प्रश्नों के उत्तर दिये। राजा को तो खजाना चाहिए था! देद के पास कहाँ खजाना था? उसने कह दिया : 'महाराजा, मेरे भाग्य में ऐसा गुप्त खजाना कहाँ? वह तो किसी महान् भाग्यशाली को ही प्राप्त हो सकता है! परन्तु राजन्, मैं मानता हूँ कि निधान का तो मात्र बहाना है। इस बहाने आप मेरी संपत्ति ले लेना चाहते हो...परन्तु, इस प्रकार तो मैं एक पैसा भी देनेवाला नहीं हूँ! आप राजा हैं, मालिक हैं, आप चाहें वो कर सकते हैं।'

राजा का गुस्सा आसमान को छूने लगा। इतने में विमलश्री का भेजा हुआ नौकर देदाशाह को भोजन के लिए बुलाने आया।

देद ने कहा : 'तू घर पर जाकर कह देना कि आज मेरे मस्तिष्क में भयंकर पीड़ा हो रही है, अतः मेरे भोजन में शंका है; परन्तु तुझे शीघ्र 'नस्य' करना है।'

नौकर चला गया घर पर। विमलश्री को अक्षरशः संदेश सुना दिया। चतुर थी विमलश्री। 'नस्य' का अर्थ समझ लिया। नौकर को छुट्टी दे दी और सारभूत संपत्ति की गठरी उठाकर वह घर से निकल गई। नगर छोड़कर जंगल के रास्ते चल पड़ी। जंगल में किसी सुरक्षित स्थान में जाकर छिप गई।

जेल की सलाखों में :

उधर राजमहल में राजा ने अत्यंत क्रुद्ध होकर देदाशाह के हाथ-पैरों में लोहे की बेड़ियाँ डलवा दीं और कारावास में बंद करवा दिया। कुछ राजपुरुषों को देदाशाह के घर पर भेजा, देदाशाह के घर को लूटने के लिए। वे लोग गये, घर खुल्ला ही था...कोई धन-संपत्ति उनके हाथ न लगी! निराश होकर लौटे। राजा को सारी बात बता दी। राजा भी निराश हो गया।

कारावास में रहा हुआ देद सोचता है : राजा इतना ज्यादा रोषायमान हुआ है कि मेरी सारी संपत्ति ले लेगा। धन-धान्य और सुवर्ण तो ले लेगा, परिवार को और मुझे नष्ट कर देगा।

देद के मन में चिन्ता होती है। परन्तु वह परमात्मा के प्रति अपूर्व श्रद्धावान् श्रावक था। उस काल में भगवान् स्तंभन पार्श्वनाथ की अद्भुत महिमा फैली हुई थी। देदाशाह स्तंभन पार्श्वनाथ के परम भक्त थे। उनके मन में स्तंभन पार्श्वनाथ भगवंत की स्मृति हो आयी। उनका चित्त प्रफुल्लित हो गया। चिन्ता के बादल बिखर गये। देदाशाह ने प्रार्थना की।

परमात्मा की आराधना :

‘इहभव और परभव में मोक्ष के कारणभूत श्री स्तंभन पार्श्वनाथ की मैं शरण स्वीकार करता हूँ।’

हे पार्श्वनाथ प्रभो! आपका नाम, मूर्ति का पाषाण, स्नात्र का पानी और पूजन के पुष्प...सभी पदार्थ आपको पाकर वांछित देनेवाले बनते हैं। आपके स्पर्श से वे सभी वस्तुएँ प्रभावशाली बन जाती हैं। आपकी महिमा अपरंपार है। किन शब्दों में मैं आपकी स्तवना करूँ?

‘हे प्रभो मैंने राजा को स्वर्णसिद्धि का रहस्य नहीं बताने की जो जिद्द की है वो आपके ही बल से की है। संसार के उत्पीड़ित जीवों का आप ही आश्रय हैं। आपको भावपूर्ण प्रणाम करनेवालों को आप भोगसुख और मोक्षसुख देनेवाले हो। हे स्तंभन पार्श्वनाथ प्रभो। आपकी कृपा से यदि मैं किसी भी प्रकार का धनव्यय किये बिना यहाँ से...इस विकट कारावास से मुक्त होऊँगा तो आपके चरणों में आकर, आपके सभी अंगों की स्वर्ण के आभूषणों से पूजा करूँगा।’

देद श्रावक की यह भावना, श्रीमद रत्नमंडन गणी ने ‘सुकृतसागर’ नाम के ग्रन्थ में बतायी है। उन्होंने एक-एक बात महत्त्वपूर्ण बताया है। संक्षेप में इन बातों का मैं पर्यालोचन करूँगा। हालाँकि प्रस्तुत विषय से (यथोचित लोकयात्रा) कुछ दूर जा रहे हैं, परन्तु प्रासंगिक विषय की चर्चा करना आवश्यक है। हर मनुष्य को जीवन में ये बातें उपयोगी हैं।

कष्ट और संकट हर व्यक्ति के जीवन में आते हैं। जिस मनुष्य के पास श्रद्धा, प्रज्ञा और निष्ठा नहीं होती है वह मनुष्य कष्टों के पहाड़ के नीचे दब जाता है। संकटों के विषधर उसको डस लेते हैं। निराशाओं में वह धिर जाता है और प्राणों को भी गँवा देता है।

देद श्रद्धावान् था, प्रज्ञावान् था और निष्ठावान् था। जीवन में कल्पना से बाहर का संकट आया...फिर भी वह नाहिम्मत नहीं हुआ। उसने परमात्मा की शरण स्वीकार कर ली। जिनका सहारा लेना हो, उनकी शरण में तो जाना ही पड़ेगा। बिना शरण लिये, सहारा नहीं मिल सकता। देद अच्छी तरह इस बात को जानता था, इसलिए सर्वप्रथम उसने पार्श्वनाथ भगवंत की शरण ले ली... सच्चे हृदय से, विशुद्ध भाव से।

परमात्मा के नाम से हर काम होता है :

वह प्रज्ञावान् था। निर्मल बुद्धि प्रज्ञा कहलाती है। कुशाग्र बुद्धि प्रज्ञा कहलाती है। उसने अपनी प्रज्ञा से निर्णय किया था कि 'परमात्मा के नाम में अपूर्व प्रभाव रहा हुआ है।' बात कितनी सत्य है! उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने भी कहा है :

‘करत कष्ट जन बहुत हमारे

नाम तिहारो आधार!

‘जस’ कहे जनम-मरण भय भांज्यो

तुम नामे भवपारा!

शीतल जिन मोहे प्यारा...’

परमात्मा के नाम में अपूर्व प्रभाव रहा हुआ है-यह बात निर्मल प्रज्ञा से ही समझी जा सकती है। देद श्रावक ने दूसरा निर्णय किया था कि 'परमात्मा की मूर्ति का पाषाण भी प्रभावशाली होता है।' पहाड़ का पाषाण और प्रतिमा का पाषाण-दोनों में कितना अन्तर है वह जानते हो? एक 'नोट-बुक' का कागज दूसरा 'करन्सी नोट' का कागज - दोनों में कितना अन्तर होता है, वह तो जानते हो न? इससे भी बहुत ज्यादा अन्तर दो पाषाणों के बीच होता है। आप लोगों ने इस विषय में कभी चिन्तन किया है क्या? निर्मल बुद्धि से ऐसा चिन्तन हो सकता है।

परमात्मा की मूर्ति पर गिरा हुआ पानी और चढ़े हुए पुष्प भी प्रभावशाली बन जाते हैं! उस पानी और पुष्प में गुणात्मक परिवर्तन आ जाता है। वो गुणात्मक परिवर्तन होता है भक्त मनुष्य के भक्तिसभर शुभ भावों से। शुभ-अशुभ भावों का असर कितना गजब का होता है, वो तो अब वैज्ञानिक भी समझने लगे हैं। वैज्ञानिक तो समझ रहे हैं... आप लोग कब और कैसे समझेंगे?

परमात्मा को स्पर्श करनेवाली यानी जिस किसी वस्तु का परमात्मा से स्पर्श होता है, वह वस्तु प्रभावशाली बन जाती है। यह मात्र कवि की कल्पना नहीं है...वास्तविक बात है। देद श्रावक की निर्मल बुद्धि ने इस वास्तविकता को पहचान लिया था। मात्र पहचान नहीं लिया था, गहरी निष्ठा थी।

वह निष्ठा ही उसके मन में ये भाव पैदा करती है न? उसने क्या कहा भगवान् से? 'आपकी शक्ति के सहारे ही मैंने राजा के सामने जिद्द कर ली है... स्वर्णसिद्धि नहीं बताने की।'

राजा ने देद को कारावास में बंद कर दिया था, फिर भी देद की निष्ठा विचलित नहीं हुई थी! उसने ऐसा नहीं सोचा था कि 'प्रभो, मैं आपका भक्त हूँ और आपने मुझे बचाया नहीं? आपने मेरी रक्षा नहीं की, आपके प्रति मेरी श्रद्धा कैसे रहेगी?' निष्ठाहीन मनुष्य ही ऐसे विचार करता है। निष्ठावान् मनुष्य कभी भी, कैसी भी विकट परिस्थिति पैदा होने पर भी, श्रद्धा से विचलित नहीं होता है।

भगवान् स्तंभन पार्श्वनाथ के साथ देद श्रावक इतने गहरे संबंध में था... इतना भाव-नैकट्य उसने प्राप्त किया था, कि उसने भगवान् को कह दिया : मुझे यहाँ से मुक्त करोगे, तो मैं आपके सभी अंगों की स्वर्ण के आभूषणों से पूजा करूँगा!

'ऐसी मनौती करनी चाहिए क्या?' ऐसा मत पूछना। यह कोई मनौती नहीं थी, यह तो था भक्त और भगवान् के बीच का 'प्राइवेट' वार्तालाप! निजी बात थी यह... 'पर्सनल मैटर' था! 'पर्सनल मैटर' को 'जनरल मैटर' नहीं बनाना चाहिए। हाँ, आप परमात्मतत्त्व से इतना भाव-नैकट्य प्राप्त कर लें फिर आप भी परमात्मा से ऐसी बात कर सकते हैं! परन्तु याद रखना, परमात्मा की आज्ञा भी आपको उसी तरह माननी होगी! देद श्रावक ने परमात्मा की आज्ञाओं का कैसा अद्भुत पालन किया है-वह आप जानते हैं क्या? जान लेना।

देद श्रावक, परमात्मा स्तंभन पार्श्वनाथ की शरण में निश्चित और निर्भय बन गया। स्वस्थ चित्त से उसने 'उवसग्गहरं' स्तोत्र का पुनः पुनः ध्यान किया। स्तोत्र के एक-एक शब्द पर और अर्थ पर उसने ध्यान किया।

श्रद्धा, प्रज्ञा और निष्ठा से ही मनुष्य निश्चित और निर्भय हो सकता है। निश्चित और निर्भय मनुष्य ही ध्यान कर सकता है। देद के मन में नहीं आता है पत्नी का विचार, नहीं आता है राजा का विचार और नहीं आता है अपने भविष्य का विचार! वह तो 'उवसग्गहरं स्तोत्र' में मग्न हो गया...और उसी मग्नता में उसको नींद आ गई।

और चमत्कार हो गया :

रात्रि के चतुर्थ प्रहर में जब गहन अन्धकार था, देद निद्रा से जगा। उसने एक अद्भुत घटना देखी! अपने पास खड़े हुए एक सैनिक को देखा। वह सर पर लाल रंग के रत्नों से खचित स्वर्ण-मुकुट पहना हुआ था। उस मुकुट के प्रकाश में सुभट की आकृति दिखाई देती थी। उसकी छाती विशाल थी। उसकी दोनों भुजाएँ बलिष्ठ और जानू तक दीर्घ थीं। उसके शरीर पर श्याम वर्ण का लोह-कवच था। वह सुभट, स्वर्ण के अलंकारों से सुशोभित अश्व पर आरुढ़ था।

सुभट ने देद से कहा : 'देद तू खड़ा हो जा और मेरे पीछे अश्व पर बैठ जा।'

देद ने कहा : 'मैं लोहे के बंधनों में जकड़ा हुआ हूँ...मैं कुछ भी नहीं कर सकता हूँ...मुझे क्षमा करें।'

सुभट ने कहा : 'तू क्या कर सकता है? मैं कहता हूँ तू खड़ा हो जा!' सुभट के दिव्य शब्दों से देद उत्साहित हुआ और खड़ा हो गया। लोहे की बेड़ियाँ टूट गईं और वह घोड़े पर बैठ गया। सुभट ने अश्व को वहाँ से दौड़ाया। अश्व दौड़ता ही रहा...उस जंगल में जा पहुँचा जहाँ कि देद की पत्नी विमलश्री छिप कर रह रही थी। विमलश्री ने देद को देखा...देद ने विमलश्री को देखी...परन्तु वह अश्वारोही अद्रश्य हो गया था...!

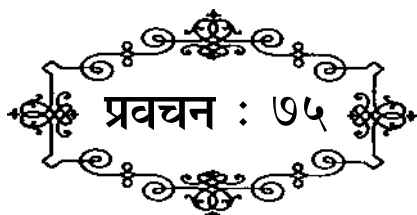
देद ने रोमांचित तन-मन से भगवान् स्तंभन पार्श्वनाथ भगवंत की स्तवना की। विमलश्री ने अपनी सारी बात देद को कही, देद ने अपनी कहानी विमलश्री को सुना दी। दोनों ने वहाँ से विद्यापुर नगर की ओर प्रयाण कर दिया।

यह तो हुई प्रासंगिक बात। प्रस्तुत विषय है उचित लोकयात्रा का। लोकयात्रा में, लोगों के मन को, विचारों को जान कर, लोग नाराज न हों - वैसा व्यवहार करना है। गृहस्थ जीवन में यह सामान्य धर्म विशेष महत्त्व रखता है। आज इस विषय को अधूरा छोड़ता हूँ, कल इसी विषय पर आगे विवेचन करूँगा।

आज बस, इतना ही।



- जिनके साथ हमें जीना है, जिन्दगी के सफर में जो हमारे संगी-साथी हैं...उनके साथ दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिए। उनको दुःखी करके हम सुख या शांति की अनुभूति नहीं कर सकते।
- यदि अपने पुरस्खों ने कुछ अनुचित परंपराएँ डाल दी हैं तो हमें ऐसी लोकविरुद्ध, समाजविरुद्ध एवं धर्म को प्रतिकूल मान्यताओं को छोड़ने का साहस दिखाना चाहिए।
- राग-द्वेष से बचना हो, मन को पल-पल की खुशी-नाराजी से मुक्त रखना हो तो 'कर्म फिलोसोफी' को आत्मसात् कर लो। कर्मों की कारीगरी जानने के बाद हम व्यक्तिगत राग-द्वेष से काफी हद तक बच जायेंगे।
- हर बात का सामना नहीं किया जाता। कहीं पर समझौता भी करना होता है...औरों को समझाने के बजाय स्वयं को भी समझाना पड़ता है!
- आप औरों की बुराई नहीं करें... लोग भी आपकी बुराई करना छोड़ देंगे, आज नहीं तो कल!



परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी, स्वरचित 'धर्मविन्दु' ग्रन्थ में, गृहस्थ जीवन के सामान्य धर्मों का प्रतिपादन करते हुए, बाईसवाँ सामान्य धर्म बताते हैं **यथोचित लोकयात्रा का।**

लोगों के विचारों की अवगणना नहीं करने का उपदेश आचार्यदेव देते हैं। लोकचित्त की विराधना करने की मनाही करते हैं। उचित लोकयात्रा का यदि आप अतिक्रमण करेंगे तो लोकचित्त की विराधना ही होगी। लोग आप से विरुद्ध हो जायेंगे। विरुद्ध बने लोग आपकी निन्दा करेंगे, आपका तिरस्कार करेंगे, आपको नुकसान पहुँचायेंगे। साथ साथ आपके सदाचारों की भी निन्दा करेंगे। लोकयात्रा के अतिक्रमण से यह सब होता है, इसलिए दोषित आप ही बनेंगे। आप यदि उचित लोकयात्रा का पालन करते रहें तो लोग आपका और आपके सदाचारों का गौरव बनाये रखेंगे।

किसी से भी दुर्व्यवहार नहीं :

एक सिद्धान्त आप समझ लें - **जिनके साथ, जिनके बीच, जीवन जीना है, उनके साथ कभी विरोध नहीं करना चाहिए।** गृहस्थ हो या साधु हो, लोगों के बीच ही जीवन जीना होता है। लोगों के साथ-सहयोग से जीवन जीना होता है। हालाँकि इसमें 'औचित्य' का पालन तो होना ही चाहिए। भिन्न-भिन्न प्रकार के लोग होते हैं न? उत्तम पुरुषों के साथ जैसा व्यवहार किया जाय, वैसा व्यवहार हीन लोगों के साथ नहीं किया जाता। फिर भी धनहीन, सत्ताहीन...परन्तु सरल मनुष्यों के साथ दुर्व्यवहार नहीं करना है। कभी कभी उन लोगों को भी थोड़ा महत्त्व देने से, सहायता करने से, वे लोग भी प्रसन्न होते हैं।

अपने-अपने पापकर्मों के उदय से, कोई जीव हीन जाति में जन्मा हो, कोई निर्बल हो, कोई अज्ञानी हो, कोई अल्प बुद्धि का हो... ऐसे जीवों का भी सदैव तिरस्कार नहीं करना चाहिए। कभी कभी उनकी इच्छा को भी मान देना चाहिए। ऐसा करने से वे लोग अपने आपको कृतार्थ मानेंगे। उनके चित्त प्रमुदित होंगे और कभी अवसर आने पर वे आपके महान् सहयोगी बन जायेंगे।

इसी विषय में, अभी मैंने कन्नड़ प्रदेश की एक सच्ची घटना पढ़ी। बहुत पुरानी घटना नहीं है, केवल ६० साल पुरानी कहानी है। लोकयात्रा का अनुसरण करने से क्या लाभ होता है और लोकयात्रा का अतिक्रमण करने से कितने नुकसान होते हैं-यह कहानी सुनने से, आपको मालूम हो जायेगा। लोकयात्रा के अनुसरण में 'औचित्य' क्या होता है...धर्मविरुद्ध लोकयात्रा नहीं करनी चाहिए...वगैरह बातें, आपको यह कहानी ही कहेगी!

कीनाकशी ने की बरबादी :

कर्णाटक में 'जलहल्ली' नाम का गाँव है। इस गाँव में 'भूतय्या' नाम का साहूकार रहता था। धनवान् था, परन्तु मदान्ध था। क्रूरता का दूसरा पर्याय था। गाँव की सारी जमीन का मालिक बन गया था। सभी खेतों का भी वह मालिक बन बैठा था। सभी किसानों को, साहूकार को किराया देना पड़ता था। सभी किसान भूतय्या से डरते थे। चूँकि उसने कई किसानों को बरबाद कर डाला था...जिन्होंने भूतय्या को नाराज किया था।

किसानों का ही गाँव था। लोग ज्यादा पढ़े-लिखे भी नहीं थे। सभी किसानों के हृदय में भूतय्या के प्रति रोष की ज्वालाएँ धधकती थीं। फिर भी मजबूरन वे लोग भूतय्या के अत्याचारों को सह लेते थे।

एक दिन भूतय्या की मृत्यु हो गई। सारे गाँव में आनन्द छा गया। किसानों ने अपने घरों में खुशियाँ मनाईं।

उसी गाँव में एक युवक किसान 'गुल्ला' रहता था। उसने किसानों को इकट्ठा कर कहा : 'मेरे भाइयो, अपने गाँव का पाप टल गया है, वो शैतान भूतय्या नरक में चला गया है... अब उसके लड़के 'अय्यु' (जो कि साहूकार का बेटा था) को हम जमीन का किराया नहीं देंगे। अब हमें साहूकार से दबना नहीं है।' किसान लोग तो साहूकार से दबे हुए थे, घबराये हुए थे, उन्होंने तो जमीन का किराया दे दिया, परन्तु गुल्ला ने नहीं दिया। अय्यु को मालूम हुआ कि 'गुल्ला ने किराया नहीं दिया है' उसने गुल्ला के पशुओं को पकड़वाकर अपने बाड़े में बंद करवा दिया। गुल्ला ने, रास्ते में अय्यु को मारा। यह पहली घटना थी... कि एक किसान ने साहूकार को मारा हो। अय्यु ने कोर्ट में केस कर दिया। गुल्ला ने शहर में जाकर अच्छा वकील किया। वकील को कहा : 'कुछ भी हो, मुझे जेल नहीं जाना पड़े, वैसा करें।' वकील की फीस ज्यादा थी। गुल्ला ने अपनी पत्नी के जेवर बेच दिये... वकील को फीस देने के लिए, फिर भी वह पूरे रुपये नहीं दे सका। केस तो खारिज कर दिया गया, परन्तु वकील ने गुल्ला से अपने रुपये वसूलने के लिए पुनः पुनः तकाजा किया। 'यदि मेरे रुपये न देगा तो मैं तेरी जमीन को... तेरे मकान को नीलाम करवा दूँगा। वकील ने धोंस जमायी। गुल्ला गहरी चिन्ता में पड़ गया। उसने सोचा : 'मुझे अय्यु को क्यों मारना पड़ा? उसके पिता ने तो हमारा शोषण किया, यह भी हमारा शोषण करता है... इसलिए न? इसने कोर्ट में केस नहीं किया होता तो मेरी यह बरबादी नहीं होती। उसके मन में अय्यु के प्रति घोर रोष पैदा हुआ। 'मैं उसकी हत्या कर दूँगा...' उसने अपने हाथ में तीक्ष्ण हँसिया उठाया... उसकी पत्नी ने उसका हाथ पकड़ लिया और करुण स्वर में कहा : 'कहाँ जा रहे हो...? मत जाओ। हम पूरे बरबाद हो जायेंगे...' गुल्ला ने उसको धक्का दे दिया और बोला : 'मैं अय्यु को जिन्दा नहीं छोड़ूँगा... वह मुझे बरबाद करने पर उतारू है...'।

गुल्ला की पत्नी दौड़ती हुई पहुँची अय्यु के पास। अय्यु ने पूछा : 'बहिन, तुम क्यों इतनी घबरायी हुई हो? तुम्हें किसका भय है?' गुल्ला की पत्नी ने कहा : 'साहूकार, आप छिप जायें कहीं पर, अभी मेरा पति आपकी हत्या करने आ रहा है...'।

अय्यु ने अपनी जेब से रिवोल्वर निकाल कर कहा : 'मैं गुल्ला से नहीं डरता हूँ, मेरे पास यह साधन है।' गुल्ला की पत्नी फटी-फटी आँखों से रिवोल्वर देखती रही...। 'ओहो...मेरा सर्वनाश हो जायेगा। अब मैं क्या करूँ?'।

वह अय्यु के घर से निकल गई और नदी के किनारे पहुँची। पानी में कूद पड़ी। पानी गहरा था... उधर, अय्यु भी अपने नदी पार के बंगले में जाने के लिए निकला था। उसने नदी में डूबती हुई स्त्री को देखा...। वो तुरन्त पानी में कूद पड़ा और गुल्ला की पत्नी को बचा लाया। किनारे पर अनेक किसान इकट्ठे हो गये थे... गुल्ला भी आ गया था। अय्यु ने गुल्ला के हाथों में उसकी पत्नी को सौंप दिया। उस समय गुल्ला अपनी पत्नी से कहता है :

अय्यु का मन बदला :

‘तू मर जाती तो मुझे इतना दुःख नहीं होता, जितना दुःख इस दुष्ट के हाथ तू बच गई, इससे मुझे हुआ है।’ गुल्ला उसकी पत्नी के साथ अपने घर चला गया, परन्तु अय्यु के मन पर इन शब्दों का गहरा प्रभाव पड़ा। अय्यु ने सोचा : ‘गुल्ला ने ऐसा क्यों कहा? गुल्ला मेरे साथ वैर क्यों रखता है? मेरे पिताजी ने उसके पिता पर और उसके ऊपर बहुत अत्याचार किये थे। सभी किसानों के साथ दुर्व्यवहार किया था। हमेशा झगड़े चलते हैं। घृणा से घृणा ही बढ़ती है। अब मुझे किसी से झगड़ा नहीं करना है। सबके साथ मैत्रीभाव से जीना है। द्वेष की परम्परा नहीं चलानी है। मेरे पास लाखों रुपये हैं, अब किसानों से जमीन का किराया भी नहीं लेना है।’ सारे गाँव में मालूम हो गया कि ‘साहूकार आज से जमीन का किराया नहीं लेगा।’ किसान लोग खुश हो गये।

दूसरे दिन, गुल्ला के घर के आगे, वकील पुलिस के साथ आ पहुँचा। घर को नीलाम करने की धमकी देने लगा। बहुत से किसान इकट्ठे हो गये। अय्यु को भी समाचार मिले...। उसने कुछ क्षण सोचा और गुल्ला के घर पहुँचा। वकील से पूछा : ‘क्या बात है? क्यों आये हो?’ वकील ने बात बताई। अय्यु ने रुपये दे दिये। गुल्ला ने बहुत मना किया : ‘मुझे तुम्हारा दान नहीं चाहिए... मेरा घर चला जाय तो चला जाय.... मुझे तेरा उपकार नहीं चाहिए।’

अय्यु ने कहा : ‘मैं तुझ पर उपकार नहीं कर रहा हूँ, दान भी नहीं दे रहा हूँ। तू मेरे घर पर नौकरी कर लेना...।’

गुल्ला ने अय्यु के वहाँ प्रामाणिकता से नौकरी कर ली। नौकरी करके पैसे चुका दिये।

गाँव का वातावरण अच्छा बन गया था। किसी भी किसान के मन में अय्यु के प्रति रोष नहीं रहा था। अय्यु ने भी गाँववालों के साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार शुरू किया था।

परन्तु एक दिन ऐसा आया कि अय्यु पर घोर आपत्ति गिर पड़ी। गाँव में प्रतिवर्ष 'देवी मरियम्मा' की वार्षिक पूजा होती थी। वार्षिक पूजा में भैंसे का वध किया जाता था। वह वार्षिक पूजा का दिन नजदीक था। अय्यु ने सोचा : 'देवी की पूजा में पशुबलि नहीं देना चाहिए। मुझ से तो वह देखा भी नहीं जाता। निर्दोष पशु की हिंसा बंद करनी चाहिए। अय्यु के हृदय में करुणा का सागर उमड़ने लगा। उसने गाँव में जाहिर करवाया : देवी की वार्षिक पूजा में पशुबलि की प्रथा बंद की जाती है। अब देवी को कोई भी व्यक्ति पशु की बलि नहीं देगा।

गाँव के लोगों में रोष फैलने लगा। लोग चिन्ता करने लगे। यदि देवी को पशुबलि नहीं दी जायेगी तो देवी का प्रकोप होगा। सारे गाँवों के लोगों को घोर आपत्ति सहनी पड़ेगी। अय्यु के कहने मात्र से पशुबलि की प्रथा कैसे बंद हो सकती है?

लोग चाहते थे : देवी को पशुबलि देनी चाहिए।

अय्यु चाहता था : पशुबलि की प्रथा बंद होनी चाहिए। उसने लोगों की इच्छा का अनुसरण नहीं किया, चूँकि वह इच्छा धर्मविरुद्ध थी। उसने संकल्प कर लिया पशुबलि की प्रथा को बंद करने का।

गाँव में लोग इकट्ठे हुए। धर्म के नाम पर मर-मिटने को तैयार हुए। सब के हाथों में लकड़ियाँ थीं। अगवानी की गुल्ला ने। सब चल पड़े अय्यु के घर की ओर। रात्रि का समय था। अय्यु अपने परिवार के साथ घर में सोया हुआ था। गुल्ला ने घर का दरवाजा खटखटाया। अय्यु उठा। एक हाथ में लालटेन और दूसरे हाथ में रिवोल्वर लेकर दरवाजा खोला।

लालटेन के प्रकाश में उसने लोगों की भीड़ को देखा। सबसे आगे गुल्ला को देखा। 'हम देवी को पशुबलि देंगे ही देंगे...।' लोग जोर-जोर से चिल्लाये। गुल्ला ने लोगों को उकसाया : 'घुस जाओ घर में और लूट लो इसकी माल-मिलकत को...।'।

अय्यु ने रिवोल्वर फेंक दी। परिवार के साथ घर से बाहर निकल गया। पशुओं को बाड़े में से छोड़ दिया...। इधर किसी ने अय्यु के घर में आग लगा दी। अय्यु मौन खड़ा रहा। लोगों ने घर की संपत्ति लूट ली थी... घर जल रहा था। लोग सब अपने-अपने घर चले गये थे।

अय्यु का दूसरा घर, नदी पर जो बाँध बँधा हुआ था, उसके पास था। परिवार के साथ अय्यु उस मकान में रहने को चला गया।

किसी ने शहर के पुलिस थाने में समाचार भेज दिये थे। गाँव में पुलिस की गाड़ी आ पहुँची। पूरी पुलिस पार्टी के साथ इन्स्पेक्टर आया था। गाँव के लोगों को इकट्ठा किया। 'साहूकार के घर को किसने आग लगाई?' पूछताछ होती है। अय्यु को भी बुलाया गया। लोगों के होशहवास उड़ गये। अब हम सब को जेल जाना पड़ेगा...। हमारे परिवार बरबाद हो जायेंगे...

पुलिस इन्स्पेक्टर ने अय्यु को पूछा : 'बताइये जमींदार साब, इन लोगों में से कौन-कौन अपराधी हैं? आग लगाने में कौन-कौन शामिल थे?'

अय्यु की दया ने सबको बचाया :

अय्यु ने गाँव के लोगों की ओर देखा। सबसे आगे गुल्ला खड़ा था। सभी लोगों के मुँह लटके हुए थे। सबकी आँखें जमीन पर स्थिर थी। अय्यु ने तो कभी का जो सोचना था वह सोच लिया था। उसके हृदय में दया-करुणा का सागर उफन रहा था। 'दुःख देनेवालों के प्रति भी द्वेष नहीं करना है... अपराधियों को भी क्षमा देना है... किसी भी मनुष्य को दुःख हो, वैसा नहीं करना है। किसी निर्दोष पशु-पक्षी को भी दुःख नहीं देना है। मैं किसी की हिंसा नहीं देख सकता हूँ... इसलिए मैंने पशुबलि का निषेध किया है। हिंसा किसी भी हालात में अच्छी नहीं है।'

अय्यु ने इन्स्पेक्टर से कहा : 'साहब, ये मेरे गाँव के लोग निर्दोष हैं। किसी ने भी मेरे घर को आग नहीं लगाई है। आग मेरी ही गलती से लगी थी। मैं बाड़े में पशुओं को देखने, लालटेन लेकर गया था, मेरे हाथ से लालटेन घास में गिर गई...आग लग गई... मैंने पशुओं को तुरन्त ही बंधनों से मुक्त कर दिया और बाद में मेरे परिवार को लेकर मैं घर से बाहर निकल गया...।'

इन्स्पेक्टर ने कहा : 'अच्छा, ऐसी बात है? आपको बहुत नुकसान हुआ। भगवान् आपकी सहायता करें...।' पुलिस-पार्टी को लेकर इन्स्पेक्टर चला गया। गाँव के लोग आश्चर्य से और अहोभाव से अय्यु को देखते रहे। अय्यु के चरणों में गिर पड़े। गुल्ला कुछ क्षण वहाँ रुका...बाद में अपने घर चला गया। उसके मन में जोरदार उथल-पुथल मच गई।

'अय्यु को क्या मानूँ? दोस्त या दुश्मन? मेरी पत्नी को बचाया.... मेरे घर को बचाया... वकील को रुपये देकर...! मुझे जेल जाने से बचा लिया। वह चाहता तो मुझे आजीवन कारावास में बंद करवा सकता था। उसने मुझे और दूसरे किसानों को बचा लिया। नहीं, नहीं, अय्यु दुश्मन नहीं है, सच्चा दोस्त

है। उसके हृदय का परिवर्तन हो गया है। उसने सभी किसानों से जमीन का किराया लेना बंद कर दिया है...। अब मुझे उससे दुश्मनी नहीं रखनी चाहिए।'

गुल्ला का हृदय-परिवर्तन हुआ। गाँव के लोग इकट्ठे हुए। गुल्ला ने लोगों से कहा : 'अय्यु ने हम सबको महान् क्षमादान दिया है। वह चाहता तो हम सबको जेल भिजवा सकता था... लेकिन उसने वैसा नहीं किया। अय्यु महान् है। हमने उसके घर को लूटा और जलाया... अब हमारा पहला फर्ज यह है कि उसको नया घर बना के दें।'

गाँव के सभी किसान गुल्ला की बात से सहमत हुए। सब अपने-अपने घर गये। उसी रात वर्षा हुई। मूसलाधार वर्षा हुई। नदी पर जो बाँध बँधा हुआ था, टूट गया। रात्रि का घनघोर अंधकार था। बाँध टूटने का धमाका सारे गाँव ने सुना। लोग अपने घरों से बाहर निकल आये। सब जानते थे कि 'बाँध के पास ही अय्यु का मकान है। मकान में पानी भर गया होगा। मकान गिर गया होगा...। क्या हुआ होगा अय्यु-परिवार का?' सबके हृदय में अय्यु-परिवार के प्रति गहरी हमदर्दी पैदा हुई। गुल्ला ने कहा : 'किसी भी तरह अय्यु-परिवार को बचा लेना चाहिए। मैं जाऊँगा... बाँस की नैया लेकर जाता हूँ। आप सब भगवान से प्रार्थना करें कि अय्यु-परिवार कुशल हों...।' गुल्ला ने बाँस की नैया ली और अय्यु के घर की ओर चल पड़ा। पानी का प्रवाह तीव्र था। उल्टे प्रवाह में जाना था। परन्तु गुल्ला के हृदय में अय्यु के प्रति अथाह मैत्रीभाव उमड़ रहा था...। जान की बाजी लगा दी उसने।

उधर, अय्यु दो दिन से शहर गया हुआ था। घर में अय्यु की पत्नी और दो बालक थे। घर में पानी भर जाने से, वे लोग मकान की छत पर चढ़ गये थे। असहाय स्थिति में वे भगवान का स्मरण करते थे। सहायता के लिए जोर-जोर से चिल्ला रहे थे। दूर से, अय्यु की पत्नी ने किसी को बाँस की नैया पर आता हुआ देखा। उसकी आँखों में हर्ष के आँसू भर आये।

गुल्ला वहाँ पहुँच गया। अय्यु की पत्नी ने गुल्ला को देखा, वह सहम गई। गुल्ला ने कहा : 'बहन, मैं दोस्त हूँ, दुश्मन नहीं... आ जाओ, बैठ जाओ इस नाव में। मुझे अपने उपकारी साहूकार के उपकारों का बदला चुकाने दो...।''

अय्यु के परिवार को लेकर गुल्ला जब किनारे पर आया तब अय्यु भी वहाँ पहुँच गया था। अय्यु ने अपने परिवार को सलामत पाया। अय्यु की पत्नी ने कहा : 'हम गुल्ला का एहसान कभी भी नहीं भूल सकेंगे। अपने प्राणों की बाजी लगाकर उसने हमें बचा लिया है।'

अय्यु और गुल्ला परस्पर प्रेम से मिले। एक-दूसरे को गले लगाया। दोनों आपस में पक्के दोस्त बन गये। गाँव के लोगों ने अय्यु के लिए बड़ा सुन्दर मकान बनवा दिया।

अय्यु की उचित लोकयात्रा को समझे न? समझ लो -

१. अय्यु ने अपने पिता भूतय्या की गलतियों को दोहराया नहीं।
२. उसने लोगों के मन को समझा - 'लोगों के मन में मेरे प्रति दुश्मनी है, वह मुझे मिटानी है।' ऐसा मानसिक निर्णय किया।
३. उसने लोगों के साथ दुर्व्यवहार करना बंद किया।
४. लोगों से जमीन का किराया लेना बंद किया।
५. अपने प्रति कट्टर शत्रुता रखनेवाले गुल्ला पर उपकार करता चला।
६. 'मैंने ऐसे-ऐसे उपकार किये...करता हूँ...' ऐसी बातें उसने कभी नहीं कीं।
७. अनेक वर्षों से चली आती 'पशुबलि' की प्रथा को बंद किया।
८. धर्मविरुद्ध कार्य का त्याग करने में उसने लोगों के विरोध की परवाह नहीं की।
९. जीवन में कष्ट आने पर भी उसने न शिकायतें की, न किसी से याचनाएँ की।
१०. गंभीरता से, उदारता से एवं सहनशीलता से उसने उचित लोकयात्रा में सफलता पायी।

कर्म के बारे में ज्ञान प्राप्त कर लें :

लोकयात्रा की सफलता-निष्फलता में यानी लोगों से यश मिलने में और अपयश मिलने में एक अदृश्य कारण है : शुभ-अशुभ कर्म का उदय। एक होता है 'यशःकीर्ति नामकर्म।' इस कर्म के उदय से मनुष्य को लोगों से यश मिलता है। दूसरा कर्म होता है 'अपयश-नामकर्म।' इस कर्म के उदय से मनुष्य की अपकीर्ति होती है।

परन्तु यश-अपयश की चिन्ता किये बिना, जो मनुष्य ज्ञानीपुरुषों के मार्गदर्शन के अनुसार जीवन जीता है, उचित लोकयात्रा करता है, वह मनुष्य अवश्य 'यशःकीर्ति नामकर्म' बाँधता है। चूँकि ऐसा व्यक्ति :

- किसी की निन्दा नहीं करता है,
- किसी के ऊपर आरोप नहीं लगाता है,
- गुणवान् स्त्री-पुरुषों की प्रशंसा करता है,
- दूसरों का सुख देखकर जलता नहीं है, खुश होता है,
- परमात्मा एवं सद्गुरुओं की स्तवना करता है।

यह सब करने से 'यशःकीर्ति नामकर्म' बंधता है। लोकयात्रा में भी ये बातें बहुत उपयोगी हैं। क्या आप लोग इन बातों का पालन नहीं कर सकते? कर सकते हो... यदि मन में द्रढ़ निर्णय कर लो तो मुश्किल नहीं है।

सफल जीवन जीने के लिए, आप लोगों को अपने जीवन में कुछ परिवर्तन करना ही होगा। दूसरों की निन्दा करने की आदत छोड़नी होगी। निन्दा करने का रस छोड़ना होगा। और, दूसरी बात, अपनी निन्दा सुनकर चंचल नहीं होने का। अपनी निन्दा सुनकर चंचल हो जाते हो न? अस्वस्थ और चिंतित हो जाते हो न?

सभा में से : सच बात है। निन्दा सुनते ही, निन्दा करनेवालों के प्रति गुस्सा आ जाता है।

महाराजश्री : चूँकि सहनशीलता नहीं है। हर बात का प्रतिकार करने को तैयार मत हो जाओ, कुछ सहन करना भी लाभदायी होता है। कोई आपकी बुराई करता है, इतने से आप बुरे नहीं बन जाते। 'लोग क्यों मेरी बुराई करते हैं?' यह सोचो। यदि आपको अपनी कोई गलती दिखाई दे तो उस गलती को दूर करो। गलती न हो तो निश्चित बने रहो।

पहल आप स्वयं करें :

आप किसी की भी निन्दा नहीं करेंगे तो प्रायः कोई आपकी निन्दा नहीं करेगा। आप गुणवानों की प्रशंसा करते रहेंगे तो आपकी भी प्रशंसा होगी। आप दूसरों के सुख-वैभव की ईर्ष्या नहीं करेंगे तो दूसरे लोग भी आपके सुख-वैभवों की प्रायः ईर्ष्या नहीं करेंगे। दूसरे यदि करते हैं ईर्ष्या, तो भी आप निश्चित रहें। आप अपने सुख को थोड़ा थोड़ा बाँटते रहें।

- आप यदि उदार होंगे,
- आप यदि शीलवान् होंगे,
- आप यदि विनम्र-विनयी होंगे,

तो दुनिया आपकी प्रशंसा करेगी ही। लोकयात्रा में ये तीन बातें काफी महत्त्व रखती हैं। इस विषय में एक ऐतिहासिक घटना सुनाकर प्रवचन पूर्ण करूँगा।

राजकुमार की करुणार्द्रता :

जब गुजरात में राजा भीमदेव राज्य करता था, उस समय की बात है। एक साल बिल्कुल वर्षा नहीं हुई। अकाल पड़ा। किसान लोग, राजा को कर नहीं दे पाये। राजा ने उन किसानों को जेल में डाल दिया। राजपुरुष किसानों को बहुत परेशान करते थे। राजकुमार मूलराज ने यह स्थिति देखी। उसकी आँखों में आँसू आ गये। उसने किसानों को कष्ट से मुक्त कराने का निर्णय किया।

मूलराज ने, राजा भीमदेव को अश्वों का खेल दिखाकर खुश कर दिया। राजा ने कुमार से कहा : 'चाहिए वह वरदान माँग ले।'

कुमार ने कहा : 'वरदान अभी आपके भंडार में ही रहने दो।'

राजा ने पूछा : 'क्यों?'

कुमार ने कहा : 'मिलने की आशा नहीं है।'

राजा ने पूछा : 'ऐसी कौन-सी बात है, तू जो मांगेगा वह मैं दूँगा।'

कुमार ने कहा : 'किसानों से राज्य का कर लेना बंद किया जाय। मुझ से किसानों के दुःख देखे नहीं जातें...।'

राजा की आँखों से हर्षाश्रु उभर आये। राजा ने तुरन्त ही राज्य में घोषित करवा दिया। किसानों को जेल से मुक्त कर दिया गया। सारे राज्य के किसान खुश हो गये। राजकुमार मूलराज की हर जबान पर प्रशंसा होने लगी।

दुर्भाग्य था राज्य का, कि राजकुमार जिंदा नहीं रहा। तीसरे ही दिन उसकी अकाल-मृत्यु हो गई। सारा गुजरात शोकमग्न हो गया।

'उचित लोकयात्रा' का विवेचन समाप्त करता हूँ।

आज बस, इतना ही।



- जहाँ पर साथ-साथ जीना होता है, सहजीवन होता है, वहाँ पर परिचय तो करना ही पड़ता है... पर किससे परिचय करना, कितना करना, यह सावधानी रखना भी अनिवार्य है।
- बच्चों के बारे में माता-पिताओं को बड़ी समझदारी एवं स्वस्थता से काम लेना चाहिए। उनके मित्रवर्तुल के बारे में परिचित होना ही चाहिए। पर यह बचपन से हो तो ही सार्थक है। बच्चे बड़े होने के पश्चात् उन पर नियंत्रण करना या रखना अकसर कलह का कारण बन जाता है।
- अति परिचय' तो करना ही नहीं। इसमें अनेक अनिष्ट छुये हुए हैं। अति परिचय के कारण दोषदृष्टि जनमती है।
- अपने शील-संस्कार एवं सदाचार की होली जलाये वैसा परिचय किस काम का?
- जब भी दुःख आये... परेशानी आये तो अपने ही कर्मों को टटोलो। पूर्वजन्म के पापकर्म उदय में आते हैं तो दुःख मिलता है।



परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी, स्वरचित 'धर्मविन्दु' ग्रन्थ में, गृहस्थ जीवन के सामान्य धर्मों का प्रतिपादन करते हुए, तेइसवाँ धर्म बताते हैं : 'अति परिचय का त्याग।'

परिचय जीवन का अभिन्न अंग है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के परिचय में आता ही है। जन्म होने के बाद परिचय का क्षेत्र विस्तृत होता ही जाता है। माता का परिचय, पिता का परिचय, घर के दूसरे स्वजनों का परिचय, मित्रों का परिचय, समाज का परिचय, नागरिकों का परिचय...यों परिचय बढ़ता ही जाता है।

परिचय को सीमित रखना उचित है :

मनुष्य के व्यक्तित्व पर 'परिचय' का विशेष प्रभाव गिरता है। अच्छे या बुरे व्यक्तित्व के निर्माण में 'परिचय' महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। मनुष्य, जन्म से लगाकर जब तक समझदार नहीं बनता है, तब तक भाग्याधीन परिचय

मिलता है। तब तक वह सोच-विचारकर परिचय नहीं कर सकता है। उसमें सोचने की, अच्छे-बुरे का भेद करने की बौद्धिक क्षमता ही नहीं होती है। इसलिए, भारतीय संस्कृति में ऐसी व्यवस्था है कि ऐसे अबोध बच्चों की जिम्मेदारी उनके पालक माता-पिता करते रहें। बच्चों को किसके परिचय में आने देना, किसके परिचय में नहीं आने देना - इसका निर्णय माता-पिता वगैरह पालक-वर्ग करें।

संस्कारसंपन्न मनुष्य का निर्माण करने की द्रष्टि, माता-पिता वगैरह पालक-वर्ग के पास होनी चाहिए। परन्तु ऐसी दृष्टि उनके पास ही होगी कि जो स्वयं संस्कारसंपन्न होंगे। सुसंस्कारों के जो पक्षपाती होंगे। अवांछनीय तत्त्वों से जो घृणा करते होंगे। जो स्वयं विवेकी होंगे।

परिचय तो होता रहेगा और करना भी पड़ेगा। जीवन-व्यवहार में, आवश्यकतानुसार परिचय करना पड़ता है। परन्तु, किस व्यक्ति से परिचय करना चाहिए और कितना परिचय करना चाहिए - वह निर्णय विवेक से करना चाहिए।

प्रस्तुत में ग्रन्थकार आचार्यश्री किसी से भी अति परिचय करने की मनाही फरमाते हैं। यह निषेध उन्होंने दूरदर्शिता से किया है, दीर्घदृष्टि से किया है।

‘अति’ अत्यंत खतरनाक है :

जो मनुष्य हमारे साथ अच्छा व्यवहार करता है, हमारे प्रति स्नेह-प्रेम बताता है, हमारा कोई काम कर देता है, हमें संकट के समय सहायता करता है, उसके साथ हमारा परिचय ‘अति’ हो जाता है। यानी गाढ़ परिचय स्थापित हो जाता है। इसमें हमें कुछ बुरा नहीं लगता है। सामनेवाले व्यक्ति को भी कुछ बुरा नहीं लगता है। हम ऐसे परिचयों से गौरवान्वित भी होते हैं। बोलते हैं : ‘...उनके साथ तो हमारा घर जैसा संबंध है।’ एक-दूसरे के घर जाना, खाना-पीना, घूमना, आदान-प्रदान...वगैरह व्यवहार अत्यधिक हो जाता है।

ग्रन्थकार महर्षि, ऐसे अति परिचय में एक बड़ा भयस्थान देखते हैं। वे कहते हैं : ‘अतिपरिचयाद् अवज्ञा।’ अति परिचय होने पर एक-दूसरे की मर्यादाओं का पालन नहीं होता है। कभी मर्यादाभंग हो जाता है...एक-दूसरे का तिरस्कार होने लगता है। वाणी पर संयम नहीं रहता है। असंयमी वाणी-व्यवहार संबंध-विच्छेद में परिणत होता है। अति परिचय अति द्वेष में परिणत हो जाता है। एक-दूसरे से बोलने का व्यवहार भी नहीं रहता है।

अति परिचय में जैसे वाणी पर संयम नहीं रहता है, वैसे रुपयों का लेन-देन भी होता है...करते हो न? परस्पर जेवरों का लेन-देन भी होता है...। कभी, इन बातों से ही परस्पर कलह हो जाता है। एक-दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप किया जाता है। लड़ाई-झगड़ा भी हो जाता है। अनेक अनर्थ पैदा हो जाते हैं।

आप गुणवान् होंगे, ज्ञानवान् होंगे...परन्तु अति परिचय किसी से भी करेंगे, तो आपकी अवज्ञा-उपेक्षा होगी। सतत सहवास उपेक्षा करवायेगा ही।

अति से अवज्ञा :

भारत में शत्रुंजय तीर्थ की महिमा कितनी है? लोग कहाँ कहाँ से पालीताना जाते हैं? जाकर कितने भाव से यात्रा करते हैं? परन्तु जो जैन लोग पालीताना में रहते हैं, उनको पूछना कि वे लोग वर्ष में कितनी यात्रा करते हैं। यदि वह सच सच बतायेंगे तो मालूम पड़ेगा कि शत्रुंजय की यात्रा में उनको कोई विशेष रुचि नहीं होती है।

हम लोग नासिक गये थे। नासिक-पंचवटी हिन्दुओं का बड़ा तीर्थ है। वहाँ की नदी में स्नान करने की बड़ी महिमा है। मैंने प्रत्यक्ष देखा था कि नासिक में रहनेवाले ही कुछ लोग उस नदी में कपड़े धोते थे और मलविसर्जन करते थे। तीर्थ का अति परिचय हुआ न? इसलिए तीर्थ की अवज्ञा होती है। क्या पता, इसलिए अनेक जैन तीर्थों में जैन-परिवार नहीं रहते हैं? इसलिए क्या जैन-परिवारों के हृदय में अपने तीर्थों के प्रति भक्तिभाव ज्यादा दिखाई देता है?

मंदिरों के जो पुजारी होते हैं, उनके हृदय में परमात्मा के प्रति क्या भक्तिभाव होता है? परमात्मा की मूर्ति का अति परिचय, मूर्ति की आसातना करवाता है। आज आप लोग यदि मंदिरों में देखेंगे तो दिखाई देगा कि पुजारी कितनी आशातनाएँ करता है। सर्दी के दिनों में कई पुजारी बिना स्नान किये ही पूजा करते हैं। पूजा करते-करते, मन्दिर से बाहर आकर धूम्रपान करते हैं... वापस वैसे ही मन्दिर में आकर पूजा करने लगते हैं। उनके हृदय में यह भाव पैदा ही नहीं होता है कि 'ये मेरे भगवान हैं।'

वैसे, जो श्रावक-श्राविकाएँ भी मंदिर में ज्यादा समय व्यतीत करते हैं... दो-तीन घंटे मंदिर में बिताते हैं...उन लोगों की भी ऐसी ही-पुजारी जैसी दशा होती है। मैंने कई मन्दिरों में देखा है कि भगवान की अभिषेक पूजा करते हुए, वस्त्र से प्रतिमाजी को साफ करते हुए श्रावक लोग आपस में गप्पे मारते रहते हैं। श्राविकाएँ भी बातें करती रहती हैं आपस में।

वैसे, जो श्रावक उपाश्रय में ज्यादा समय बिताते हैं, कि जिस उपाश्रय में साधुपुरुष रहे हुए होते हैं, उन श्रावकों के हृदय में साधुपुरुषों के प्रति सद्भाव नहीं रहता है। वे लोग साधुपुरुषों की कभी कभी अवज्ञा-अनादर कर ही देते हैं। वे लोग बैठे बैठे करते हैं सामायिक, फेरते हैं माला, परन्तु देखते रहते हैं साधुओं के छिद्र। देखते रहते हैं साधुओं की चर्या। सुनते रहते हैं साधुओं की बातें... बाद में, दो-चार मिलकर करते रहते हैं साधुनिन्दा।

साधु को भी अति परिचय से बचना है :

साधु भी जो गृहस्थों का अति परिचय रखते हैं, उनका अनादर होता ही है। अति परिचय से अति विश्वास होता है। अति विश्वास कभी धोखा देता ही है। मैंने कुछ वर्ष पहले सुना था कि राजस्थान में एक आचार्य (जो स्वयं आचार्य बने हुए थे) ने किसी कार्य के लिए (मंदिर या धर्मशाला) ७५ हजार रुपयों का चन्दा इकट्ठा करवाया और अपने अति परिचित एक गृहस्थ को ७५ हजार सौंप दिये, क्योंकि वह ब्याज ज्यादा देता था। दो साल बाद, जब उस आचार्य ने रुपये के लिए कहलवाया... तो उस गृहस्थ ने कहा : 'रुपये कौन-से और बात कौन-सी? मेरे पास एक रुपया भी नहीं है।'

यह बात सुनकर आचार्य को 'हार्ट-एटेक' हो गया। बीमार हो गये। अति परिचय में मनुष्य विश्वास तो कर ही लेता है...। अयोग्य-अपात्र व्यक्ति उस विश्वास का गैरलाभ उठाते ही है। हालाँकि, साधु-साध्वी को तो किसी से भी अति परिचय रखने का नहीं है। जो रखते हैं वे कभी न कभी चक्कर में आ ही जाते हैं। फिर वे दोष निकालते हैं अपने पूर्वजन्म के कर्मों का। वर्तमान जीवन की गलती वे नहीं समझते हैं। 'मैंने अति परिचय किया इसलिए मैं संकट में फँसा', ऐसा नहीं समझते हैं।

कर्म-सिद्धान्त को पूरा नहीं समझनेवाले, बात-बात में 'यह तो मेरे पुण्यकर्म का उदय है, यह तो मेरे पापकर्म का उदय है...' ऐसी बातें करते रहते हैं। इस आदत ने आत्मनिरीक्षण को और आत्म-सुधार को भुला दिया है। विशेष कर अपने जैन संघ में आत्मनिरीक्षण की बात ही भुला दी गई है।

अपना आत्मनिरीक्षण खुद करो :

'मैंने जिनाज्ञा का पालन नहीं किया, मैंने भूल की, इसलिए यह संकट आया,' यदि मनुष्य ऐसा सोचेगा तो उसके मन में जिनाज्ञा का पालन करने की भावना जगेगी। 'जिनाज्ञा क्या है,' वह समझने की इच्छा पैदा होगी।

‘मैंने ज्ञानीपुरुषों का मार्गदर्शन नहीं लिया, इसलिए मैं आफत में फँसा।’ ऐसा सोचेगा तो वह ज्ञानीपुरुषों के सम्पर्क में आने का विचार करेगा। कभी गाँव में गुरुजनों का संयोग मिलेगा तो वह उनके पास पहुँच जायेगा और अपनी समस्याओं का समाधान पाने का प्रयत्न करेगा।

परन्तु, यदि पूर्वजन्मों के कर्मों का ही दोष देखता रहेगा तो वह अपनी भूलों को नजरअंदाज ही करता रहेगा। भूलों को सुधारने की बात ही कहाँ? भूलों की परंपरा रुकेगी ही नहीं।

हाँ, यदि कर्म-सिद्धान्त की कुछ गहराई में जाकर सोचें, तो आत्मनिरीक्षण को अवकाश मिल सकता है। ‘मैंने कैसे कर्म बाँधे होंगे...कि आज इतने सारे दुःख आये? क्या क्या करने से ऐसे पापकर्म बंधे होंगे? अब मैं मन-वचन-काया से ऐसे आचरण नहीं करूँगा...।’

फिर वह जानने का प्रयत्न करेगा कि क्या क्या सोचने से, क्या बोलने से और कैसे कैसे काम करने से कौन-कौन-से कर्म बंधते हैं। उसके जीवन-व्यवहार में अच्छा परिवर्तन आयेगा। जीवनप्रवाह स्वच्छ, निर्मल और समत्वयुक्त बनेगा। आदर्श गृहस्थ बनकर जीवन जी सकेगा।

अति परिचय नहीं करने का उपदेश, यदि ऊपर-ऊपर से सोचोगे, तो नहीं जँचेगा। दीर्घदृष्टि से...परिणाम की दृष्टि से सोचोगे, तो ही जँचेगा।

एक पुरानी कहानी :

एक राजकुमारी ने संसार का त्याग किया और वह साध्वीजी बन गई। धर्मशास्त्र में यह कहानी पढ़ने को मिलती है। साध्वीजी तो बन गई, परन्तु एक गृहस्थ महिला, कि जो नगरश्रेष्ठि की पत्नी थी, उससे परिचय हुआ। ‘ये साध्वीजी राजकुमारी थी...राजगृह छोड़कर साध्वीजी बनी है...।’ लोगों को साध्वीजी के प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक है। गृहस्थ...कि जो गुणरागी होते हैं, वे तो आकर्षित होकर आयेंगे, परन्तु साधु-साध्वी को उनके प्रति आकर्षित नहीं होने का है। अपने भक्त बनाने का मोह साधु-साध्वी के जीवन में विघातक बन सकता है।

नगरश्रेष्ठि की पत्नी के साथ साध्वीजी का परिचय घनिष्ट हो गया। हालाँकि, साध्वीजी मानती होगी कि ‘यह संबंध तो धार्मिक है...इसलिए वर्ज्य नहीं है।’ वह भिक्षा लेने नगरश्रेष्ठि के घर जाती है तो वहाँ देर तक खड़ी रहती है और सेठानी से बातें करती रहती हैं। सेठानी साध्वीजी के पास आती

है तो वहाँ भी बातें करती रहती है। दोनों को अच्छा लगता है। साध्वीजी समझती है कि 'मैं सेठानी को धर्मसन्मुख करती हूँ।' और सेठानी मानती होगी कि 'मुझे बहुत अच्छी गुरुणी मिल गई।' परिचय बढ़ता ही चला। साध्वीजी जिनाज्ञा को भूल गई। 'अति परिचय' नहीं करने की जिनाज्ञा विस्मृत हो गई।

एक दिन, साध्वीजी नगरश्रेष्ठि के वहाँ भिक्षा लेने गई। सेठानी स्नानगृह में थी। भिक्षा देनेवाले तो दूसरे लोग घर में थे ही, परन्तु सेठानी को मिले बिना मन कैसे भरे? वह स्नानगृह के बाहर के खंड में खड़ी रही। खंड में वह एकेली ही थी। घर के लोग साध्वीजी से परिचित थे।

मोर ने हार निगला!

जिस खंड में साध्वीजी खड़ी थी, उस खंड में एक ऐसी घटना बनी...कि खुद साध्वीजी आश्चर्यचकित हो गई। उस खंड में पलंग पर सेठानी का स्वर्णहार कि जो रत्नजड़ित था, पड़ा था। पलंग के पास भित्ति पर एक मयूर का चित्र था। उस चित्र में से मयूर जीवंत हुआ, उसने वह हार निगल लिया और पुनः भित्ति के चित्र में समा गया।

सभा में से : ऐसा कैसे संभव हो सकता है?

महाराजश्री : यह कार्य व्यंतर-देव का था। किसी व्यंतर-देव ने कौतूहल से ऐसा किया था। साध्वीजी इस बात को समझ सकती है, परन्तु सेठानी यह बात कैसे मानती? स्नानगृह से बाहर आकर, पहले तो साध्वीजी को वंदना की, बाद में जब हार लेने जाती है, हार नहीं है। वह स्वयं अपने आपसे पूछती है : 'मैंने पलंग पर मेरा हार रखा था। मुझे बराबर याद है। मेरा हार कहाँ गया?' उसने साध्वीजी के सामने देखा और पूछा :

'आप जब यहाँ आये तब इस पलंग पर मेरा हार देखा था क्या? मैंने पलंग पर ही रखा था...।'

साध्वीजी ने कहा : 'हाँ, हार यहाँ ही पड़ा था... परन्तु कोई नहीं मान सके वैसी घटना बन गई और तुम्हारा हार गायब हो गया...।' साध्वीजी ने जो घटना देखी थी वह कह सुनायी, परन्तु सेठानी के मन में वह बात जँची नहीं। उसने अपने मन में सोचा : 'यहाँ साध्वीजी के अलावा दूसरा कोई भी आया नहीं है और सोना देखकर...रत्नजड़ित मूल्यवान् हार देखकर इनके ही मन में लालच जगी होगी... इसने ही मेरा हार लिया है।'

साध्वीजी पर इल्जाम आया :

सेठानी ने साध्वीजी पर हार की चोरी का आरोप लगा दिया। घर के लोगों में और बाद में नगर में बात फैल गई। साध्वीजी स्तब्ध-सी हो गई। 'मेरी निकट की श्राविका ने ही मेरे पर आरोप लगाया? लेकिन दोष उसका नहीं है, मेरा है। मैं निर्दोष हूँ। भविष्य में मेरी निर्दोषता सिद्ध होगी। परन्तु एक बार तो मैं कलंकित बन गई...चूँकि मैंने मेरे पूर्वजन्म में किसी निर्दोष व्यक्ति पर कलंक लगाया होगा, पापकर्म बाँधा होगा, वह पापकर्म इस भव में उदय में आया...।'

'दूसरी बात, गृहस्थों के साथ अति परिचय नहीं करने की जिनाज्ञा है, मैंने उस आज्ञा का खंडन कर...सेठानी के साथ अति परिचय किया। मेरी कितनी बड़ी गलती हुई? यदि अति परिचय नहीं होता तो मैं सेठानी के घर में खड़ी नहीं रहती। भिक्षा लेकर निकल जाती घर से...। मैं वहाँ खड़ी रही और यह घटना हुई। अब मैं गृहस्थ-वर्ग के साथ परिचय नहीं रखूँगी।'

साध्वीजी थी न, इसलिए आत्मनिरीक्षण किया। सेठानी के साथ झगड़ा नहीं किया। सेठानी के प्रति रोष भी नहीं किया। परन्तु सेठानी तो अज्ञानी थी। उसने सही चिन्तन नहीं किया। उसने तो दुनिया के चश्मे से ही देखा। 'सोना...हीरे...वगैरह ऐसी वस्तुएँ हैं कि जिसको देखकर मुनि भी विचलित हो जाते हैं। साध्वीजी का मन भी मेरा हार देखकर विचलित हो गया होगा और हार उठा लिया होगा। मैंने साध्वीजी को ऐसी नहीं मानी थी...मैं तो साध्वीजी को बहुत अच्छी ज्ञानी और तपस्विनी मानती थी। क्या पता उसका मन मैला होगा? अब मैं उसका मुँह भी नहीं देखूँगी...।'

सेठानी ने एक बात का विचार नहीं किया : 'यह साध्वीजी पूर्वावस्था में राजकुमारी थी। राजकुमारी के पास मुझसे भी ज्यादा अलंकार होंगे...। उसने राजवैभव का त्याग स्वेच्छा से किया था। वह मेरे हार को देखकर कैसे ललचा सकती है? और, वह झूठ भी नहीं बोल सकती। मैंने कभी भी उसको झूठ बोलते नहीं सुना है। महाव्रतों का अच्छा पालन करती है। वह चोरी कभी नहीं कर सकती...।'

ऐसे विचार सेठानी नहीं कर सकी। अति परिचय ने साध्वीजी की अवज्ञा-अपमान कराया ही।

बाद में जब उस व्यंतर-देव ने, सेठानी के देखते हुए मयूर के चित्र में प्रवेश किया और हार जहाँ से उठाया था वहाँ रख दिया...तब सेठानी हड़बड़ा

गई...आश्चर्य से उसकी आँखें चौड़ी हो गईं। उसने हार को अपने हाथों में लेकर देखा...‘यह मेरा ही हार है-’ ऐसा निर्णय हो गया। अब उसको साध्वीजी याद आयी, साध्वीजी ने सुनायी हुई घटना याद आयी। बड़ी पछताने लगी। रोने लगी। घोर पश्चात्ताप करने लगी। साध्वीजी के पास दौड़ती हुई पहुँची। क्षमायाचना की। साध्वीजी के मन में तो कोई रोष था ही नहीं। चूँकि उनकी ज्ञानद्रष्टि खुल गई थी। सच्चा...यथार्थ कार्य-कारण भाव जान लिया था। यथार्थता का अव-बोध होने पर जीव रागद्वेष से मुक्त होता जाता है।

‘अब मुझे किसी से भी परिचय करना नहीं है। मुझे तो मेरी आत्मा से परिचय करना है। विशुद्ध आत्मा को पाने का आन्तर पुरुषार्थ करना है। ज्ञानमग्न होना है। परमब्रह्म की मस्ती पाना है। संसार के रागी और द्वेषी जीवों का परिचय मुझे नहीं करना है। उन जीवों का आत्महित तो करेंगे धीर, वीर और गीतार्थ ऐसे साधु भगवंत, आचार्य भगवंत। मुझे तो अब डूबना है आत्मज्ञान में...आत्मध्यान में।’

आप स्वयं सोचें :

यह तो हुई एक साध्वीजी और एक महिला की बात। अति परिचय के अनिष्ट आप लोगों में कितने प्रविष्ट हो गये हैं, वे क्या आप नहीं जानते हैं? जानते हो, परन्तु कभी विचार नहीं किया...कि ‘मेरी पत्नी सुशील थी, फिर भी क्यों मेरे मित्र के साथ उसने सेक्स-संबंध बाँध लिया? इतना ही नहीं, मित्र की पत्नी के साथ मेरा भी अनुचित संबंध क्यों शुरू हो गया?’ हो रही है न ऐसी घटनाएँ संसार में? क्यों? कारण है अति परिचय। अति परिचय में से ही ‘मुक्त सहचार’ की बातें शुरू हुई हैं।

एक परिवार का दूसरे परिवार के साथ अति परिचय होने से, युवक और युवतियों के बीच सेक्स-संबंध बनते देर नहीं लगती है। सदाचारों की होली जलती है। दुराचारों के विष्वक्ष पैदा होते हैं।

अति में मति नहीं रहती :

दो परिवारों का घनिष्ट संबंध था। बम्बई में दोनों परिवार रहते थे। एक परिवार की स्त्री का दूसरे परिवार के पुरुष के साथ संबंध हो गया। स्त्री गर्भवती हुई। उसके पति को मालूम था कि ‘यह गर्भ उसका नहीं है, उसके मित्र का है।’ परन्तु परिचय इतना घनिष्ट था...कि इस घटना में उसको कुछ अनुचित नहीं लगा।

तीन-चार महीने के बाद, दोनों परिवारों का संबंध टूट गया। ऐसा टूटा कि एक-दूसरे के सामने भी देखते नहीं। इधर, उस पुरुष ने अपनी पत्नी को कह दिया : 'मुझे तेरी संतान नहीं चाहिए। या तो गर्भपात करा ले...अथवा तू उसके पास चली जा।' स्त्री को दो में से एक भी बात मंजूर नहीं थी। रोजाना झगड़े होने लगे। स्त्री कहती है : 'जो कुछ हुआ है, आप अनभिज्ञ नहीं थे। आप अपने मित्र को कितना चाहते थे? आप कहते थे : 'वह और मैं भिन्न नहीं हूँ, वह मैं हूँ, मैं वह हूँ।' आप भी उसकी पत्नी के साथ संबंध रखते थे...फिर भी मैं मौन थी। आज संबंध टूट गये...तो क्या मुझे गर्भस्थ जीव की हत्या करने की? एक बड़ा पाप तो कर लिया, अब दूसरा घोर पाप करूँ? मुझे क्षमा कर दो। यदि आपको बच्चा नहीं चाहिए, तो जन्म देने के बाद तुरन्त ही मैं बच्चे को अनाथाश्रम में दे दूँगी।'

अति परिचय से कितने अनिष्ट पैदा होते हैं... क्या क्या बताऊँ?

सभा में से : आपने जो घटना बतायी, वैसी घटनाएँ तो व्यापक बनती जा रही हैं। अति परिचय भी 'फैशन' बन गया है।

महाराजश्री : दूसरों की बात अभी जाने दें, आप लोग जो यहाँ उपस्थित हैं, प्रतिज्ञा कर लेंगे कि 'हम अति परिचय का त्याग करेंगे। किसी भी परिचय को 'अति' नहीं बनायेंगे। किसी से अति परिचय हो गया हो, तो धीरे-धीरे कम करते चलो। परिचय रखना आवश्यक हो तो रखिये, परिचय को दृढ़ मत बनाइये। कोई तुच्छ लाभ होता हो तो उस लाभ के लोभ का त्याग करें।

एक लड़की, एक श्रीमन्त के अति परिचय में आ गई। पड़ोस में ही रहती थी। वह श्रीमन्त उस कन्या को सिनेमा दिखाने अपने साथ ले जाता, होटल में ले जाता, अच्छे कपड़े दिलाता...। लड़की को वह श्रीमन्त 'देवदूत' जैसा लगा। लड़की की माँ गरीब थी। श्रीमन्त उसके घर पर अनाज भेजता है, रुपये देता है। माँ भी उस श्रीमन्त के जाल में फँस गई। परिणाम क्या आया होगा, आप अनुमान कर सकते हैं। लड़की का जीवन बरबाद करके, उसको छोड़ दिया। काम पूरा हो गया और परिचय समाप्त।

लोभ ही कारण है 'अति' का :

लाभ का लोभ ही तो अति परिचय में मुख्य कारण होता है न? लाभ अनेक प्रकार के होते हैं। किसी भी लाभ के लोभ में जीव फँसा...कि अति परिचय बन गया।

ग्रन्थकार आचार्यदेव ने तो अति परिचय का एक ही नुकसान 'अवज्ञा-अपमान' का बताया है, परन्तु वह तो निर्देश मात्र है। नुकसान एक नहीं, अनेक होते हैं। इसलिए कहता हूँ कि परिचय संतुलित रखिये। संतुलित परिचय सुख देनेवाला बनता है।

और, यदि आपको अति परिचय करना ही है तो एक मात्र परमात्मा से करिये। परमात्मतत्त्व से अति परिचय नहीं, पूर्ण परिचय करिये। परिचय ही नहीं, परमात्मा में लीन हो जाइये।

संसार के रागी, द्वेषी और मोही जीवों के साथ कभी भी अति परिचय मत करें। संबंधों को मधुर बनाये रखें, परन्तु संपर्क बहुत कम रखें। संपर्क तो ज्ञानी, सदाचारी और विवेकी पुरुषों के साथ ही रखें। गुणवान्, श्रद्धावान् और चरित्रवान् पुरुषों के साथ ही संपर्क बनाये रखें। मात्र बुद्धि से, बल से और संपत्ति से आकर्षित होकर परिचय को गाढ़ नहीं बनाइये।

तेइसवें गुण का विवेचन पूर्ण करता हूँ।

आज बस, इतना ही।



- हर आदमी अपने अपने स्वार्थ की खींचातानी में उलझकर औरों का शोषण करने पर उतारु हुआ जा रहा है, ऐसे में सघन आत्मीयता या भीतरी स्नेह की व्यास कहाँ बुझेगी?
- बाहरी तड़क-भड़क और दिखावे में समाज फैसता जा रहा है।
- ज्ञानी पुरुषों का सत्संग-संपर्क हमारी आत्मा के लिए संतर्पक सिद्ध होता है। पर आज का इन्सान सुख के पीछे पागल बना हुआ है, उसे ज्ञान के प्रकाश से क्या मतलब? वह तो निरे अज्ञान के अंधकार में भटक रहा है।
- जादू-टोना, दोरा-ताबीज, झाड़ूँक और मंत्र-तंत्र के चमत्कारों की गलियों में गुमराह हुए आदमी को सम्यक्ज्ञान देगा कौन?
- कभी किसी की गरीबी का मजाक मत उड़ाओ।
- किसी के दिल को दुःखाना बड़ा पाप है।
- किसी की मजबूरी, मायूसी पर ताने मत कसो।



परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर, आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी, स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रन्थ में गृहस्थ जीवन के सामान्य धर्मों का प्रतिपादन करते हुए, चौबीसवाँ सामान्य धर्म बताते हैं : व्रतधारी और ज्ञानवान् महान् पुरुषों की सेवा का।

जब तक व्रतों के प्रति और ज्ञान के प्रति आन्तरिक प्रीति नहीं होगी, तब तक व्रतधारी और ज्ञानी पुरुषों का मूल्यांकन नहीं होगा। अव्रत और अज्ञान में ही खुशी मनानेवाले लोग, व्रत और ज्ञान का महत्त्व कैसे समझेंगे?

अपना स्वार्थ, अपना सुख :

अव्रत यानी दुराचारों में फँसे मनुष्य, दुर्बलता से, रुग्णता से, चिन्ताओं से, अतृप्ति से, अशान्ति से और आशंका से ग्रसित होते हैं। अव्रत और अज्ञान से ग्रसित परिवारों की कैसी दयनीय स्थिति देखने को मिलती है? स्वार्थों की खींचातानी, आरंभ से लेकर अन्त तक चलती रहती है न? सभी अपनी-अपनी

गोद हरी करना चाहते हैं न? जिस सधन आत्मीयता के लिए मनुष्य तरसता है और घर बसाता है, उसका कहीं नामोनिशान भी दिखता है?

कोई ज्ञान का प्रकाश नहीं, कोई संयम की सुवास नहीं...कैसी करुण परिस्थिति निर्मित हो गई है? बस, बढ़िया कपड़े पहनो, बढ़िया आभूषण पहनो, बढ़िया शृंगार सज लो और दूसरों पर सौन्दर्य की और वैभव की छाप डालने के लिए भटकते रहो...। धन-वैभव का चमत्कार दिखाने के लिए बड़े बंगले बना लो, बढ़िया मोटर बसा लो, बढ़िया गृहसज्जा कर लो...। टी.वी., विडियो, फ्रिज, फोन, फियाट बसा लो, बड़प्पन का, वैभव का, सफलताओं का ढिंढोरा पीटने के लिए, धन की होली जलायी जा रही है।

अनीति से धनोपार्जन और उस धन का उद्धत अपव्यय...

आज का मनुष्य बुद्धिमान् तो है, परन्तु मूर्खता भी कम नहीं है। बुद्धिमानी और मूर्खता का कैसा विचित्र संयोग देखने को मिलता है।

अज्ञान और असंयम की जुगलबंदी है :

अज्ञान और असंयम ने मनुष्य को असमंजसों में घेर लिया है, विडंबनाओं में उलझा दिया है, संकटों से जकड़ लिया है। यह क्या जीवन है? जिसमें न संतोष है, न चैन है, न उत्साह है, न कोई उज्ज्वल भविष्य है। जब तक अज्ञान को मिटाया न जाय और असंयम का त्याग न किया जाय, तब तक इस परिस्थिति में परिवर्तन आना संभव नहीं है।

अज्ञान को अज्ञान समझे हो? असंयम को असंयम मानते हो? विष होते हुए भी अमृत मानकर पी लिया जाय तो? ऐसा ही कुछ हो रहा है।

जिसको अंधकार ही प्रिय हो, उसके आगे प्रकाश की प्रशंसा करने से क्या? जिसको बदबू ही पसन्द हो, उसके आगे इत्र की सुगन्ध की प्रशंसा करने से क्या? वैसे जिनको अज्ञान ही प्रिय है, उनके सामने ज्ञान और ज्ञानी की प्रशंसा करने से क्या? जिनको दुराचार ही प्रिय है उनके आगे सदाचारों की प्रशंसा करने से फायदा क्या?

मैंने आप लोगों को कई बार कहा है कि आप लोग जो जो धर्मक्रियाएँ करते हों, उन धर्मक्रियाओं के सूत्रों का अर्थज्ञान प्राप्त कर लो। कहा है न? आप लोगों ने अर्थज्ञान प्राप्त किया? नहीं न? क्यों? ज्ञान प्रिय नहीं है... अज्ञान प्रिय है।

मैंने आप लोगों को अनेक बार कहा है कि आप नव तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर लो। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष-इन तत्त्वों का ज्ञान होना ही चाहिए, आप लोगों ने प्राप्त किया? नहीं न? क्यों? ज्ञान की रुचि ही नहीं है। अज्ञान में ही मजा आ गया है।

सदाचार से प्रेम रखो :

मैंने आप लोगों को कई बार कहा है कि आपके जीवन में जो पाप आप नहीं करते हैं, जैसे-मांसाहार करना, शराब पीना, जुआ खेलना, शिकार करना...वगैरह, इन पापों का त्याग प्रतिज्ञापूर्वक कर लो। क्या ले ली प्रतिज्ञा आप लोगों ने? क्यों नहीं ली? चूँकि दुराचारों से प्रेम है, सदाचारों से प्रेम नहीं है। अरे, जो पाप आप करते ही नहीं, उन पापों का त्याग करने में आपको कौन-सी तकलीफ हो जाती है?

हाँ, यदि कोई ज्ञान देनेवाला नहीं मिला हो, तो दूसरी बात थी। ज्ञान देने वाले मिलने पर भी ज्ञान पाने की इच्छा भी नहीं जगे...तो क्या समझना चाहिए? पापों को समझानेवाले नहीं मिले हों और दुराचारों में फँसे हों, तो दूसरी बात थी, परन्तु दुराचारों को समझने पर भी दुराचारों का प्रेम बना रहे, तो क्या समझना चाहिए? सदाचारों को जानने पर भी सदाचारों का प्रेम नहीं जगे, तो क्या समझना चाहिए?

व्रतधारी और ज्ञानसमृद्ध महापुरुषों की सच्ची सेवा तभी हो सकेगी, जब व्रत और ज्ञान के प्रति अनुराग होगा। ऐसे महापुरुषों की सेवा करने से जो लाभ प्राप्त होते हैं, उन लाभों को प्राप्त करने की तीव्र इच्छा होगी। व्रतधारी ज्ञानी पुरुषों की सेवा से क्या प्राप्त होता है, जानते हो?

उपदेशः शुभो नित्यं, दर्शनं धर्मचारिणाम्।

स्थाने विनय इत्येतत् साधुसेवाफलं महत् ॥

- शुभ-कल्याणकारी उपदेश सुनने को मिलता है,
- धर्ममय जीवन जीनेवालों का दर्शन मिलता है,
- साधु पुरुषों का विनय करने को मिलता है।

आपको क्या चाहिए सेवा कर के?

कहिए, ये फल किनको चाहिए? जिनको चाहिए, वे तो आते ही हैं। इन फलों का मूल्यांकन जो कर सकें, वह तो साधुसेवा करेगा ही। ऐसी निर्मल

कामनावालों की साधुसेवा ही सच्ची साधुसेवा है। भौतिक ऋद्धि-सिद्धियाँ पाने की भावना से, दुःख-दर्दों से छुटकारा पाने के लिए ही जो साधु-पुरुषों के पास आते-जाते हैं, उन लोगों को ज्ञान या व्रतों से कुछ लेना-देना नहीं होता है।

वे लोग, देवी-देवताओं, मंत्र-तंत्रों, पूजा-पाठ और सिद्ध पुरुषों के इर्द-गिर्द मंडराते रहते हैं। प्रयोजन एक ही होता है। उनके ऊपर लदी हुई विपत्तियों से किसी कदर छुटकारा दिलाने में उनका वरदान काम आये।

ऐसे लोग, गुणात्मक-आध्यात्मिक वैभव को देख ही नहीं सकते हैं। व्रत और ज्ञान, मनुष्य का आध्यात्मिक वैभव है। व्रतपालन करना, कोई खाने का खेल नहीं है। जैन साधु को व्रतपालन त्रिविध-त्रिविध रूप से करना होता है। मन, वचन और काया से व्रतपालन करना होता है। करण-करावण और अनुमोदन से व्रतपालन करना होता है। कुछ उदाहरणों से समझाता हूँ -

साधुजीवन के नियम :

○ साधु को मन से, वचन से, काया से हिंसा करने की नहीं है। नहीं करनी है, नहीं दूसरों से करानी है और जो भी हिंसा करते हैं, न उनकी अनुमोदना करनी है।

○ साधु को मन से, वचन से, काया से मृषा-असत्य बोलना नहीं है। नहीं स्वयं बोलना है, न दूसरों से बुलवाना है, जो असत्य बोलते हैं, न उनकी अनुमोदना करनी है।

○ साधु को मन से, वचन से, काया से चोरी (अदत्त) करनी नहीं है। नहीं स्वयं चोरी करनी है, न दूसरों से करवानी है, जो चोरी करते हैं, न उनकी अनुमोदना करनी है।

○ साधु को मन से, वचन से, काया से मैथुन (अब्रह्म) का सेवन करना नहीं है। नहीं स्वयं मैथुन-सेवन करना है, न दूसरों से करवाना है, जो मैथुन-सेवन करते हैं, न उनकी अनुमोदना करना है।

○ साधु को मन से, वचन से, काया से परिग्रह रखना नहीं है। न स्वयं परिग्रह रखना है, न दूसरों से रखवाना है, जो परिग्रह रखते हैं, न उनकी अनुमोदना करना है।

○ वैसे साधु को रात्रिभोजन की भी त्रिविध-त्रिविध प्रतिज्ञा होती है। ऐसे महाव्रतों का पालन करनेवाले साधु-पुरुषों के प्रति आप लोगों के हृदय में सद्भाव पैदा हो, तो उनकी सेवा किये बिना चैन नहीं मिले।

कैसी सुन्दर निष्पाप-जीवन जीने की पद्धति है! दुनिया में कहीं पर भी...किसी भी दूसरे धर्म में, ऐसी जीवन-पद्धति नहीं बताई गई है। निष्पाप जीवन जीनेवाले महापुरुषों की सेवा करने का सौभाग्य, पुण्यशाली जीव को ही प्राप्त होता है।

निष्पाप जीवन के साथ अपूर्व ज्ञानोपासना जो करते रहते हैं, धर्मग्रन्थों का अध्ययन, चिन्तन, परिशीलन करते हुए जो अपने मन को निर्मल और सात्त्विक बनाते हैं। अपनी जीवन-यात्रा को निराकुल और प्रसन्नतापूर्ण बनाते हैं। ऐसे ज्ञानी पुरुषों का परिचय करने से मनुष्य अपने को मोहान्धकार से बाहर निकलता है। सच्ची जीवनदृष्टि पाता है, आत्मविशुद्धि की आराधना में अग्रसर होता है।

ऐसे व्रतधारी ज्ञानवान् महापुरुषों का संयोग महान् पुण्य के उदय से होता है। संयोग का लाभ उठाना चाहिए। मांडवगढ़ के महामंत्री पथड़शाह, जब वे मांडवगढ़ में आये नहीं थे, महामंत्री-पद मिला नहीं था, और जब उनके पिता देदाशाह का स्वर्गवास हो गया था, पथड़शाह निर्धन अवस्था में आ गये थे... उस समय की एक घटना सुनाता हूँ।

पथड़शाह की पूर्वावस्था :

विक्रम की तेरहवीं शताब्दी की यह घटना है। उस समय जैनसंघ में आचार्य श्री धर्मघोषसूरिजी का अद्भुत प्रभाव फैला हुआ था। वे उच्च कक्षा का संयमपालन तो करते ही थे, साथ साथ वे विशिष्ट मंत्रशक्ति के धारक थे। महान् श्रुतधर थे।

विद्यापुर नगर में, कि जहाँ पथड़शाह अपने परिवार के साथ रहते थे, आचार्यदेव का चातुर्मास था। पथड़शाह अपनी आजीविका की चिन्ता में इतने व्यग्र रहते थे कि उपाश्रय में आना भी उनके लिए असंभव-सा हो गया था। परन्तु एक दिन उनका भाग्य ही उनको उपाश्रय में ले आया।

जिस समय पथड़शाह उपाश्रय में आये, उस समय आचार्यदेव धर्मोपदेश दे रहे थे। सैकड़ों स्त्री-पुरुष धर्मोपदेश सुन रहे थे। पथड़शाह भी सबके पीछे बैठ गये।

आचार्यदेव व्रत की ही बात बता रहे थे। साथ-साथ अव्रत-अविरति के नुकसान भी बता रहे थे।

‘जो मनुष्य, धर्मोपदेश सुनकर, विशुद्ध भाव से थोड़ा भी व्रत ग्रहण करता

है, उनकी प्रशंसा देवलोक के देव करते हैं। चूँकि समकित दृष्टि देव, छोटा-सा भी व्रत ग्रहण नहीं कर सकता है। व्रत उसे अच्छा लगता है।'

एकेन्द्रिय जीव आहार (मुँह से) नहीं करते हैं, फिर भी उपवास का फल उनको नहीं मिलता है...चूँकि वे व्रत नहीं ले सकते हैं। वे अव्रती होते हैं। मन, वचन, काया से एकेन्द्रिय जीव एक भी पाप नहीं करते हैं, फिर भी 'अविरति' के कारण अनन्तकाल तक निगोद में रहते हैं।

'सभी अनर्थों का मूल 'अर्थ' है। अर्थ का परिग्रह है। इसलिए परिग्रह का प्रमाण निश्चित करना चाहिए। 'परिग्रह-परिमाण व्रत' लेना चाहिए। परिग्रह की मर्यादा बाँधनी चाहिए। यदि मर्यादा नहीं बाँधोगे तो लोभ बढ़ता ही जायेगा। तीव्र लोभ नरकादि दुर्गतियों में जीव को ले जाता है।'

आचार्यदेव का उपदेश सुनकर, वहाँ जो श्रीमन्त श्रावक बैठे थे, वे 'परिग्रह-परिमाण व्रत' लेने लगे। किसी अभिमानी श्रीमन्त ने दरिद्रावस्थापन्न पथड़ को देखा। पसीने से उसके फटे हुए वस्त्र दुर्गंध उगलते थे...। उस श्रीमन्त ने उपहास की भाषा में आचार्यदेव से कहा : 'गुरुदेव, इस पथड़ को भी परिग्रह-परिमाण व्रत देना चाहिए...चूँकि यह भी लखपति-करोड़पति होनेवाला है...भले, लाख वर्ष लग जायें।'

आचार्यदेव ने उस श्रीमन्त से कहा : 'महानुभाव, लक्ष्मी का गर्व करने जैसा नहीं है। लक्ष्मी कभी भी चली जा सकती है। बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी रास्ते के भटकते भिखारी हो जाते हैं और भिखारी राजा बन सकता है। किसी भी बात का गर्व करने जैसा नहीं है। अभिमान, मनुष्य के हित का नाश करता है।'

वह उद्धत श्रीमन्त चुप हो गया। आचार्यदेव ने पथड़ को प्रेम से कहा : 'हे भद्र, तू भी यह पाँचवा अणुव्रत स्वीकार कर ले। इहलोक और परलोक में सुख देनेवाला यह व्रत है।'

पथड़शाह ने व्रत लिया :

पथड़ ने कहा : 'गुरुदेव, जो लोग बहुत बड़े परिग्रही हों उनको यह व्रत लेना उचित है। मैं तो निर्धन हूँ... सरोवर में पानी ही न हो, तो पाल बाँधने से क्या फायदा?'

गुरुदेव ने कहा : 'वत्स, सभी लोगों को अपने-अपने धन के अनुसार 'परिग्रह-परिमाण' व्रत लेना चाहिए। दूसरे विचारों को छोड़ दें और सम्यक्त्वसहित व्रत को ग्रहण करें।'

ज्ञानी महापुरुष का आकस्मिक योग, पथङ्गशाह के जीवन में श्रद्धा का दीपक जला देता है। चरित्रनिर्माण की नींव डाल देता है। गुरुदेव श्री धर्मघोषसूरिजी सर्वप्रथम पथङ्गशाह को 'सम्यक्त्व' का स्वरूप समझाते हैं और प्रभाव बताते हैं। श्रद्धा के बिना व्रत या महाव्रतों का कोई विशेष फल नहीं है। श्रद्धा के बिना ज्ञान और ध्यान की कोई महत्ता नहीं है। आत्मविशुद्धि की आराधना का प्रारंभ श्रद्धा से होता है। श्रद्धा होनी चाहिए परमात्मा के प्रति, श्रद्धा होनी चाहिए सद्गुरु के प्रति और श्रद्धा होनी चाहिए धर्म के प्रति। आचार्यदेव ने पथङ्ग के हृदय में सम्यक्त्व का दीपक जला दिया।

परिग्रह का ग्रह बड़ी पीड़ा करता है :

परिग्रह-परिमाण का व्रत देने से पूर्व, गुरुदेव परिग्रह की विनाशकारिता समझाते हैं। उन्होंने कहा : 'परिग्रह की वासना से द्वेष पैदा होता है। परिग्रह की वासना मनुष्य के धैर्य को नष्ट कर देती है। परिग्रह की वासना मनुष्य को क्षमाशील नहीं बनने देती। परिग्रही मनुष्य सदैव व्याकुलता से जीता है। परिग्रही मनुष्य अभिमानी होगा। परिग्रही मनुष्य कभी भी परमात्मा का ध्यान नहीं कर सकता। परिग्रह का परिणाम दुःख है, सुखनाश है और पापकर्मों का बन्धन है।'

परिग्रह के नौ अनर्थ-अनिष्ट, आचार्यदेव ने बताये। गहरा चिन्तन करने जैसी बातें बताई हैं। रुपये के पीछे पागल बने लोग क्या इन बातों पर सोचेंगे?

रुपयों की आसक्ति के दुष्परिणाम :

१. परिग्रह की वासना में से द्वेष पैदा होता है। बाहुबली को भरत के प्रति द्वेष क्यों हुआ था? ९८ भाइयों को भरत के प्रति द्वेष क्यों पैदा हुआ था? परिग्रह की वासना थी। ज्यों ही परिग्रह की वासना नष्ट हुई, द्वेष मिट गया त्यों ही समभाव प्रगट हुआ।

मनुष्य के जीवन में जो भी छोटे-बड़े कलह...झगड़े होते हैं, क्यों होते हैं? इसी परिग्रह की वजह से। परिग्रह की वासना यानी आसक्ति मूर्च्छा...गृद्धि।

२. परिग्रह की वासना मनुष्य के धैर्य को नष्ट करती है। मनुष्य अधीर बन जाता है। 'मेरा धन वह ले जायेगा तो? मेरी सम्पत्ति चली जायेगी तो?' अधीर यानी चंचल।

३. परिग्रही मनुष्य, उसके अपराधी को कभी क्षमा नहीं करेगा। वह सजा करने में ही राजी होता है। कई श्रीमन्त ऐसे देखे जाते हैं कि उनके रुपये किसी ने लिये हों और समय पर चुका नहीं सका, तो तुरन्त वह श्रीमन्त कोर्ट में जायेगा...रुपये वसूल करने के लिए कोई भी पाप कर लेगा।

४. परिग्रह का दूसरा पर्याय ही व्याकुलता है। धनासक्त मनुष्य निराकुल हो ही नहीं सकता। सम्पत्ति पाने में व्याकुलता, संपत्ति की रक्षा करने में व्याकुलता और लक्ष्मी चली जाय तब भी व्याकुलता। परिग्रही का हृदय शान्त और स्वस्थ हो ही नहीं सकता। इसका प्रमाण खोजने के लिए भूतकाल को टटोलने की आवश्यकता नहीं है। वर्तमान काल में एक एक परिग्रही के हृदय के 'कार्डियोग्राम' देख लो।

५. परिग्रही-श्रीमन्त अभिमानी होगा ही। विनम्र श्रीमन्त कभी ही देखने को मिलेगा। अमीरी अभिमान से अभिशप्त होती है। श्रीमंत व्यक्ति यदि सम्यक्ज्ञानी नहीं होगा, अपनी सम्पत्ति के प्रति थोड़ा भी अनासक्त नहीं होगा, तो वह दूसरों के ऊपर रौब जमाने का प्रयत्न करेगा। दूसरों का तिरस्कार करेगा। परिग्रह के साथ प्रायः अभिमान रहता ही है।

६. परिग्रह ध्यान का शत्रु है। मनुष्य के मन में किसी भी प्रकार का ममत्व होगा, मूर्च्छा होगी, तो वह परमात्मा का ध्यान नहीं कर सकेगा। परिग्रही का मन धन के अलावा कहीं पर भी स्थिर नहीं रह सकता। फिर वह परिग्रह पाँच रुपये का हो, पाँच सौ रुपये का हो या पाँच लाख का हो। ममत्व, आसक्ति... मन को स्थिर रहने ही नहीं देंगे। यदि परमात्मध्यान में निमग्न होना है, स्थिरता प्राप्त करनी है...तो ममत्व से, आसक्ति से छुटकारा पाना ही होगा।

७. परिग्रह से दुःख आते ही हैं। दुनिया यह मानती है कि जितना परिग्रह ज्यादा उतना सुख ज्यादा! ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि जितना परिग्रह ज्यादा उतना दुःख ज्यादा! हाँ, श्रीमन्त होगा तो सुख के साधन उसके पास ज्यादा हो सकते हैं, परन्तु वह स्वयं सुख का अनुभव नहीं कर सकता है। कोई न कोई दुःख होता ही है। पारलौकिक दृष्टि से तो परिग्रह दुर्गति के दुःख देता ही है।

८. परिग्रह से सुख का नाश होता है। आन्तर सुख का नाश होता है। चित्त के सुख का नाश होता है। विषयासक्त मन, लोभमूर्च्छित मन कभी भी सुखानुभव नहीं कर सकता है। सुख के बाह्य साधन कितने भी ज्यादा हों, परन्तु मन अशान्त हो, मन उद्विग्न हो तो उन साधनों से क्या? दूसरी बात,

जिसके पास ज्यादा परिग्रह होगा उसको परेशान करनेवाले भी प्रायः ज्यादा ही मिलते हैं!

९. परिग्रह से ही सभी पाप पैदा होते हैं। पापों का ही निवासस्थान होता है परिग्रह। पैसे का पुजारी कौन-सा पाप नहीं करता है? हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार, परिग्रह, क्रोध...अभिमान...वगैरह असंख्य पाप वह करता रहता है। परिग्रह की गाढ़ आसक्ति, पापों को पाप मानने भी नहीं देती है!

श्री रत्नमंडन गणी ने 'सुकृत सागर' ग्रन्थ में परिग्रह के ये अनिष्ट बताये हैं एक ही श्लोक में। याद रखने जैसा श्लोक है :

द्वेषस्यायतनं धृतेरपचयः क्षान्तेः प्रतीपो विधि-
व्याक्षेपस्य सुहृन्मदस्य भवनं, ध्यानस्य कष्टोरिपुः।
दुःखस्य प्रभवः सुखस्य निधनं, पापस्य वासो निजः,
प्राज्ञस्यापि परिग्रहो ग्रह इव क्लेशाय नाशाय च ॥

आचार्यदेव ने परिग्रह के नुकसान-अपाय बताये। उसके बाद 'परिग्रह-परिमाण व्रत' के लाभ बताते हैं :

'हे महानुभाव, यह व्रत, लोभरूप उद्धत हाथी के लिए अंकुश है। चाहे धनिक हो या दरिद्र हो, उनके लोभ को संयम में रखनेवाला यह व्रत है। अमर्याद लोभसमुद्र से तारनेवाला यह व्रत है। संतोष से जीनेवाले मनुष्य का लाभान्तराय कर्म टूटता है और अनायास उसे लक्ष्मी प्राप्त होती है। इसलिए परिग्रह-परिमाण व्रत लेना चाहिए।'

गुरुदेव की करुणानजर पेथड़शाह पर :

ऐसा उपदेश देने के बाद आचार्यदेव ने पास में ही खड़े पेथड़ का हाथ अपने हाथ में लिया। करुणामयी दृष्टि से उसके सामने देखा। आचार्यदेव सामुद्रिक शास्त्र में भी पारंगत थे। उनकी दृष्टि पेथड़ के खुले हाथ पर पड़ी। हाथ की रेखाएँ देखीं। हाथ सुन्दर था। हाथ में जो रेखाएँ थीं वे भी स्पष्ट, अखंड और उत्तम थीं। पेथड़ के हाथ में ध्वज की रेखा थी, छत्र की रेखा थी, शंख और कमल की रेखाएँ थीं। स्वस्तिक भी था और मत्स्य की रेखा भी थी।

गुरुदेव ने सोचा : 'इसको सत्ता और संपत्ति दोनों प्राप्त होंगे। यह लड़का बहुत बड़ा भाग्यशाली है। जिनशासन की भव्य प्रभावना करनेवाला होगा।' गुरुदेव विचार में निमग्न थे।

पेथड़ ने कहा : 'गुरुदेव, मुझे २० रुपये का परिग्रह-परिमाण व्रत देने की कृपा करें।' गुरुदेव के मुख पर मुसकान आ गई। उन्होंने मना किया। पेथड़ ने १०० रुपये का परिग्रह-परिमाण माँगा। गुरुदेव ने मना किया। पेथड़ ने एक हजार रुपये की मर्यादा बतायी, तो भी गुरुदेव ने मर्यादा बढ़ाने को कहा। तब पेथड़ ने कहा : 'गुरुदेव, आप ही परिग्रह-परिमाण की मर्यादा बताने की कृपा करें।'।

गुरुदेव ने पाँच लाख रुपये का परिग्रह-परिमाण रखने को कहा। पेथड़ आश्चर्यचकित हो गया। उसने कहा : 'गुरुदेव, मुझे तो लाख रुपये की गिनती भी नहीं आती...मैं कल्पना भी नहीं कर सकता कि मेरे पास पाँच लाख रुपये हों!'

'पेथड़, तू भाग्यशाली है। भाग्य जब खुलेगा तब तेरी कल्पना नहीं होगी उतनी संपत्ति मिलेगी। परिग्रह-परिमाण का नियम, भाग्यशाली को कुछ विशाल ही रखना चाहिए, ताकि ज्यादा संपत्ति मिलने पर मन चंचल न हो और व्रतभंग की संभावना न रहे।

'पेथड़शाह ने गुरुदेव की आज्ञा का पालन किया। पाँच लाख रुपये का परिग्रह-परिमाण व्रत लिया। पाँच लाख से ज्यादा संपत्ति मिल जाय तो वह संपत्ति अपने पास नहीं रख सकता। शुभ कार्यों में वह संपत्ति खर्च कर देने की होती है।

यह तो कमजोरी है...आसक्ति है :

सभा में से : परिग्रह-परिमाण से ज्यादा संपत्ति मिल जाय तो क्या पत्नी के या पुत्रों के नाम की जा सकती है?

महाराजश्री : ऐसा कभी नहीं हो सकता। ऐसा कौन करवाता है, आप जानते हो? परिग्रह की ममता। जब व्रत लिया होता है तब ज्यादा संपत्ति मिलने की आशा न हो, छोटी-सी मर्यादा रखी हो, बाद में भाग्योदय से ज्यादा संपत्ति मिल गई हो... तब मन चंचल बन जाता है। 'इतने सारे रुपये खर्च कर देने के?' हाँ, अच्छे कार्य में खर्च करने का हो, तो भी मन नहीं मानता है। रुपये यों ही तिजोरी में पड़े रहनेवाले हों...फिर भी छूटते नहीं हैं। धन-संपत्ति का मोह छूटना, मामूली बात नहीं है।

व्रतभंग न हो, इस कल्पना से अज्ञानी जीव, परिग्रह-परिमाण से ज्यादा संपत्ति मिलने पर पत्नी के नाम, पुत्रों के नाम और माता-पिता के नाम कर देते हैं। धन-संपत्ति का मोह ज्यों का त्यों बना रहता है।

परिग्रह-परिमाण का व्रत, धन-संपत्ति का मोह कम करने के लिए लिया जाता है। परिग्रह का पापपिशाच जीवात्मा को नोंच न डाले इसलिए लिया जाता है।

गुरुदेव श्री धर्मघोषसूरिजी ने दीर्घदृष्टि से पथड़शाह को पाँच लाख रुपये का परिग्रह-परिमाण करवाया था। व्रत देनेवालों का, व्रत लेनेवाले का व्यक्तित्व ख्याल में रहना चाहिए। व्रत देने का अधिकार, ज्ञानी-गीतार्थ पुरुषों को ही है। विशिष्ट ज्ञानी पुरुष ही व्रत दे सकते हैं। व्रत लेनेवाले की उम्र, उसके संयोग, उसका भाग्य, उसका मनोबल... यह सब देखकर व्रत दिया जाना चाहिए।

प्रतिज्ञा का पालन दृढ़तापूर्वक करें :

व्रत-नियम और प्रतिज्ञाएँ देने मात्र से लेनेवाले का कल्याण नहीं हो जाता है। उन लिये हुए व्रतों का पालन करे, दृढ़ता से पालन करे, तो ही उसका आत्मकल्याण हो सकता है। इसमें भी, आजीवन व्रत देने में तो काफी सोचना चाहिए। आज के निर्बल मनवाले लोग, व्रत-पालन करने में कितने समर्थ हो सकते हैं - उसका गंभीरता से विचार करना चाहिए। मनुष्य संयोग और परिस्थिति का जब तक गुलाम है तब तक उसको व्रत देना, आजीवन व्रत देना, कहाँ तक उचित है, वह सोचना बहुत जरूरी है। व्रत लेने के बाद, जब व्रत-पालन की दृष्टि से प्रतिकूल संयोग पैदा होते हैं, तब कितनी दृढ़ता से वह व्रत को निभाता है - यह भी देखना चाहिए।

व्रत लेते समय मन उल्लसित होता है, परन्तु जब मन का उल्लास मंद पड़ जाता है, मनोबल गिर जाता है तब वह व्रत-पालन कर सकेगा या नहीं - यह भी सोचना चाहिए। व्रत लेनेवालों की अपेक्षा व्रत देनेवालों की जिम्मेदारी ज्यादा होती है। चूँकि उन पर विश्वास करके व्रत लेनेवाला व्रत लेता है।

रोगी तो नीरोगी बनने की आशा से, श्रद्धापूर्वक डॉक्टर के पास जाता है। कितनी और कैसी दवाई देना, वह डॉक्टर को सोचने का है। रोगी के जीवन की जिम्मेदारी डॉक्टर की हो जाती है।

पथड़शाह, व्रतधारी और श्रुतधर ऐसे महापुरुष के सेवक बन गये। आगे क्या होता है आज नहीं बताऊँगा।

आज बस, इतना ही।



- संयोग या पुण्योदय प्राप्त होने से क्या? यदि हम पुरुषार्थ नहीं करेंगे तो आत्मविशुद्धि की यात्रा आरंभ नहीं होगी। जीवनशुद्धि की प्रक्रिया शुरू नहीं होगी।
- शुद्ध-अशुद्ध, असली-नकली पहचानने की क्षमता पैदा करनी होगी... कम-से-कम धर्म की बाबत में तो अत्यंत जरूरी है यह।
- पेथड़शाह ने कितनी अद्भुत धर्मशासन की प्रभावना की थी? उनका व्यक्तिगत जीवन भी उतना ही आराधनापूर्ण था।
- जिनागम-जिनवाणी का श्रवण महान् पुण्योदय से प्राप्त होता है। पेथड़शाह ने 'भगवती-सूत्र' का श्रवण गुरुमुख से कैसे किया था, जानते हो?
- आत्मचिंतन कोई बहुत ज्यादा कठिन नहीं है... सरल है। बस भीतर में मुड़ना सीखें... आत्मा में देखना सीखें।
- सत्संग का रंग बड़ा गहरा होता है। एक बार बस, लग जाना चाहिए!
- संत समागम सदा सुखकारी।'



परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी, स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रन्थ में, गृहस्थ जीवन के सामान्य धर्मों का प्रतिपादन करते हुए चौबीसवाँ धर्म बताते हैं - व्रतधारी और ज्ञानी महापुरुषों की सेवा।

महाव्रतों से जिन्होंने अपनी आत्मा को अनुशासित किया हो और शास्त्रज्ञान एवं आत्मज्ञान से जिन्होंने दिव्यदृष्टि प्राप्त की हो, वैसे महापुरुषों का योग-संयोग मिलना सरल नहीं है। महान् भाग्योदय हो, तब ही ऐसा संयोग मिलता है।

संयोग भी, पुरुषार्थ भी :

संयोग प्राप्त होता है पुण्यकर्म के उदय से, संयोग का लाभ उठाया जाता है आत्मजाग्रति से। संयोग तो कभी तीर्थकर भगवंत का भी मिल जाय, परन्तु आत्मा जाग्रत नहीं हो, मोहनिद्रा में पड़ी हो, तो संयोग का लाभ नहीं उठा

सकता है। इसलिए, संयोग उत्तम मिलना चाहिए और संयोग को सफल बनाने का पुरुषार्थ होना चाहिए। पुरुषार्थ भी सही दिशा में होना चाहिए। उत्तम संयोग मिलने पर भी यदि बुद्धि कुंठित होती है अथवा मलिन होती है तो सही दिशा में पुरुषार्थ नहीं होता है। एक प्राचीन कहानी आती है : एक ब्राह्मण था, चक्रवर्ती राजा के दरबार में पहुँच गया। राजा ब्राह्मण पर खुश हो गया। राजा ने कहा : 'जो चाहे सो माँग लें।' ब्राह्मण ने कहा : 'महाराज, मुझे रोजाना एक समय की भोजन-सामग्री मिल जाय, वैसा प्रबन्ध करने की कृपा करें।'।

होगा न जड़ बुद्धि का ब्राह्मण? संयोग मिला चक्रवर्ती राजा का, परन्तु माँगने का पुरुषार्थ सही दिशा में नहीं कर सका। पुरुषार्थ करने के लिए सूक्ष्म और गहरी सूझ-बूझ चाहिए।

ज्ञानी की पहचान क्या? :

व्रतधारी के व्यक्तित्व को पहचानना पड़ेगा। ज्ञानगरिमा की पहचान होनी चाहिए। इतनी बुद्धि तो होनी ही चाहिए। केवल वेषधारी साधु तो बहुत मिल सकते हैं कि जो सही रूप में व्रतपालन नहीं करते हैं और जिनके पास विशिष्ट ज्ञान भी नहीं होता है। वे लोग अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए दुनिया के श्रीमन्तों की चापलूसी करते फिरते हैं।

व्रतधारी साधु अपनी व्रत-मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं करते हैं। आप लोगों को, साधु की व्रत-मर्यादाओं का ज्ञान होना चाहिए। है न ज्ञान? यदि ज्ञान नहीं होगा तो व्रतधारी को कैसे पहचान पायेंगे?

ज्ञानी को पहचानने का ज्ञान है? 'यह साधु ज्ञानवृद्ध है या नहीं?' इसका निर्णय आप कैसे करेंगे?

सभा में से : जो महाराज अच्छा व्याख्यान देते हों, सबको पसन्द आ जाय वैसा प्रवचन देते हों, उनको हम लोग ज्ञानी कहते हैं।

महाराजश्री : 'ये साधु जिनवचनानुसार प्रवचन देते हैं या नहीं? इनके प्रतिपादन, निश्चय-व्यवहार की समतुला लिये हुए है या नहीं? उत्सर्ग और अपवाद को ध्यान में रखते हुए प्रवचन करते हैं या नहीं? प्रवचन में जिनागम-सापेक्षता है या नहीं?' यह सब जिनके प्रवचन में हो, उस प्रवचन को आप लोग अच्छा प्रवचन कहते हो न? जो मोक्षमार्ग को हृदयंगम शैली में...बड़ी सरल भाषा में समझायें, उनको अच्छे वक्ता कहते हो न?

जिनाज़ा सबसे बड़ी पहचान :

ज्ञानी को समझने के लिए, ज्ञानी को परखने के लिए भी ज्ञान चाहिए। आप लोग ज्ञानी हैं क्या? यदि नहीं हैं तो ज्ञानवृद्ध महापुरुष को कैसे जानेंगे? ज्ञानवृद्ध महापुरुष उनको कहा जाता है कि जिनके पास मोक्षमार्ग का यथार्थ बोध हो। जो निश्चय और व्यवहार नय को स्पष्टता से समझे हों और दूसरों को समझाने की क्षमता हो। जो, उत्सर्ग मार्ग और अपवाद मार्ग के ज्ञाता हों और दूसरों को समझा सकते हों। जो 'नयवाद' और 'स्याद्धाद' को स्पष्टता से समझे हुए हों और दूसरों को समझाने की क्षमता रखते हों। जो पर्षदा की योग्यता को परखकर उपदेश देनेवाले हों। ये ज्ञानवृद्ध महापुरुष कहलाते हैं।

ऐसे महापुरुष का संयोग मिलने पर, उनकी सेवा सच्चे मन से कर लेनी चाहिए। मांडवगढ़ के महामंत्री पेंथड़शाह ने आचार्यदेव श्री धर्मघोषसूरिजी की सेवा सच्चे मन से की थी, इसलिए तो उन्होंने धर्म-आराधना और धर्म-प्रभावना - दोनों अद्भुत ढंग से की।

पेंथड़शाह की धर्म-प्रभावना :

गुरुदेव से सम्यक्त्व सहित, परिग्रह-परिमाण व्रत ग्रहण करने के बाद, कुछ वर्ष तो आर्थिक संकट में गुजरे, परन्तु मांडवगढ़ जाने के बाद क्रमशः उनका भाग्योदय होता चला। एक दिन वे महामंत्री के पद पर स्थापित हो गये। आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक और राजकीय दृष्टि से तो उनकी महान् उन्नति हुई ही, धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भी उनकी भव्य उन्नति हुई। उन्होंने गुरुदेव श्री धर्मघोषसूरिजी का संपर्क बनाये रखा। वे उनकी सेवा-भक्ति करते रहे। गुरुदेव से निरन्तर प्रेरणा-दान उनको मिलता ही रहा। जिससे पेंथड़शाह की धर्मभावना नवपल्लवित होती रही। उन्होंने कितने महान् सुकृत किये, आप लोग जानते हैं क्या?

- ७६ नये जिन प्रासाद, भिन्न भिन्न गाँव-नगरों में बँधवाये।
- प्रतिदिन, 'उपदेश माला' ग्रन्थ का एक-एक श्लोक कंठस्थ करते हुए, संपूर्ण ग्रन्थ कंठस्थ कर लिया-याद कर लिया।
- सात लाख मनुष्यों को शत्रुंजय-गिरनार तीर्थ की संघयात्रा करवायी।
- गिरनार तीर्थ, श्वेताम्बर जैन संघ का तीर्थ है' - ऐसा निर्णय करवाया।
- मांडवगढ़ के तीन सौ जिन मन्दिरों पर स्वर्ण-कलश स्थापित किये।

○ ७२ हजार रुपयों का सद्व्यय करके, गुरुदेव श्री धर्मघोषसूरिजी का मांडवगढ़ में प्रवेश करवाया।

○ मांडवगढ़ के आसपास चार कोश तक यदि गीतार्थ आचार्यदेव विचरते हों तो उनके पास जाकर पाक्षिक-प्रतिक्रमण करते थे। ऐसा उनका साधु पुरुषों के प्रति दृढ़ अनुराग था।

○ ३२ वर्ष की उम्र में, धर्मपत्नी के साथ उन्होंने ब्रह्मचर्यव्रत अंगीकार किया था।

○ ३६ हजार स्वर्णमुद्राओं से ज्ञान-भक्ति करते हुए, विनयपूर्वक पंचमांग भगवती-सूत्र उन्होंने सुना था।

○ सात बड़े ज्ञानभंडार बनवाये।

○ हर पुस्तक के ऊपर स्वर्ण की पट्टियाँ बँधवायी।

○ प्रतिदिन मध्याह्न काल में परमात्मा की पूजा करते थे।

○ राजा की रानी लीलावती की रक्षा की।

○ रास्ते में जाते समय यदि कोई नया साधर्मिक दिखाई देता तो अश्व पर से नीचे उतर जाते और साधर्मिक को नमस्कार करते थे। साधर्मिकों के प्रति उनके हृदय में अपूर्व प्रीति थी।

सेवा के अनेक प्रकार :

ये तो मैंने संक्षेप में उनके सुकृत बताये हैं। आचार्य श्री धर्मघोषसूरिजी की सेवा का यह फल था। परन्तु, 'सेवा' का अर्थ आप लोग समझे हैं क्या? सेवा का एक अर्थ होता है गुरुदेव को आहार-पानी, वस्त्र-पात्र, औषध वगैरह आदर के साथ देना। दूसरा अर्थ होता है गुरुदेव की आज्ञा का पालन करना। गुरुदेव से सम्यग्ज्ञान पाना। गुरुदेव से व्रतनियम ग्रहण करना। गुरुजनों का विनय करना, आदर देना और उनके प्रति हार्दिक प्रीति रखना।

एक दिन, परमात्मा की पूजा करने के बाद पथड़शाह गुरुदेव को वंदन करने उपाश्रय गये। उपाश्रय में अनेक साधु-मुनिराज शास्त्र-स्वाध्याय कर रहे थे। स्वाध्याय का मधुर घोष महामंत्री ने सुना। स्वाध्याय-ध्वनि उनको बहुत ही कर्णप्रिय लगी। गुरुदेव को विधिवत् वंदन कर, योग्य स्थान पर वे बैठे।

पास में ही एक मुनिराज, दूसरे मुनिराज को एक जिनागम का अध्ययन करवाते थे। उस आगम में बार-बार 'गौतम' शब्द आता था। पथड़शाह एक

घटिका पर्यंत सुनते रहे...। उनको वह आगम सूत्र बहुत प्रिय लगा। उन्होंने गुरुदेव से पूछा :

‘गुरुदेव, यह कौन-सा सूत्र है, कि जिसमें पुनःपुनः ‘गौतम’ शब्द आता है?’

भगवती-सूत्र का श्रवण :

गुरुदेव ने कहा : ‘महानुभाव, यह पाँचवा आगम-सूत्र ‘भगवती’ है। सभी आगमों में यह श्रेष्ठ आगम-सूत्र है। श्री गौतम गणधर ने भगवान महावीर स्वामी को ३६ हजार प्रश्न किये थे और भगवान ने स्वमुख से, गौतम स्वामी को संबोधित कर, प्रत्युत्तर दिये थे। इसलिए इस आगम-सूत्र में ३६ हजार दफे ‘गौतम’ नाम आता है। इसका मूल नाम ‘व्याख्याप्रज्ञप्ति’ है।’

पेथड़शाह ने दूसरा प्रश्न किया : ‘गुरुदेव, ये मुनिराज तो सूत्रपाठ ही करते जाते हैं...दूसरे सुनते जाते हैं...इसके अर्थ क्यों नहीं बताये जाते?’

गुरुदेव ने कहा : ‘जो मुनिराज आगम-सूत्र सुन रहे हैं, उनकी क्षमता नहीं है भगवती-सूत्र का अर्थ-भावार्थ समझने की। उन्हें इस सूत्र को पढ़ने की - ग्रहण करने की योग्यता पाने के लिए, ‘योगोद्धन’ की आराधना करने की होती है। इसलिए उनको सिर्फ ‘मूल सूत्र’ ही दिये जाते हैं। जो साधु तपश्चर्या के साथ इन आगम-सूत्रों को पढ़ता है, पढ़ाता है, सुनता है, लिखता है, लिखवाता है...वह सर्वज्ञत्व पाता है। आगम-सूत्रों की भावपूर्वक भक्ति करने से अपूर्व कर्मनिर्जरा होती है।’

जिनागमों के श्रवण-अध्ययन-अध्यापन की ऐसी महिमा सुनकर पेथड़शाह के हृदय में जिनागमों के प्रति प्रीति-भक्ति पैदा हुई। उन्होंने गुरुदेव से पूछा :

‘प्रभो, क्या मैं ‘श्री भगवती-सूत्र’ सुन सकता हूँ?’

‘महानुभाव, क्यों नहीं? श्रावक-श्राविकाओं को जिनागम सुनने का अधिकार है।’

‘गुरुदेव, मैं भी केवल सूत्रपाठ ही सुनना चाहता हूँ। अर्थसहित सुनने के लिए तो बहुत दिन चाहिए। अभी ज्यादा समय है नहीं...राज्य की प्रवृत्तियों में व्यस्त हूँ। गणधर भगवंत के वचन सुनने का सौभाग्य मिल जाय...।’

‘महामंत्री, मैं इन मुनिराज को कहता हूँ, वे तुम्हें भगवती-सूत्र आदि से अन्त तक सुनायेंगे। तुम कल से यहाँ आया करो।’

महामंत्री का हृदय, गुरुदेव की कृपादृष्टि से गद्गद् हो गया। वे घर पर आये। उन्होंने अपने मन में निर्णय किया : 'सूत्र श्रवण करते समय जब-जब 'गौतम' शब्द आयेगा, तब तब मैं एक स्वर्णमुद्रा से श्रुतभक्ति करूँगा।'

दूसरे दिन स्वर्णमुद्राएँ लेकर, शुद्ध वस्त्र पहनकर, महामंत्री उपाश्रय पहुँचे। गुरुदेव को वंदन कर, जिस मुनिराज के पास सूत्र श्रवण करना था, उनको भी विनयपूर्वक वंदना की। एकाग्र चित्त से, अप्रमत्त आसन से बैठकर उन्होंने भगवती-सूत्र सुनना शुरू किया। जब-जब 'गौतम' शब्द आया, एक-एक स्वर्णमुद्रा से श्रुतभक्ति की। ५ दिन में भगवती-सूत्र का श्रवण पूर्ण किया। ३६ हजार स्वर्णमुद्रा से महामंत्री ने श्रुतभक्ति की। उन स्वर्णमुद्राओं से उन्होंने भरूच वगैरह नगरों में सात ज्ञानभंडारों का निर्माण किया। प्रेरणा रही होगी आचार्य देव धर्मघोषसूरिजी की। ज्ञानी पुरुषों का समागम, भक्त के हृदय में ज्ञान की ज्योति जलायेगा ही।

आप लोगों के हृदय में जिनागम श्रवण करने की भावना पैदा होती है क्या? यदि ज्ञानी महापुरुषों का परिचय होगा, तो अवश्य जिनागम सुने होंगे।

गृहस्थ, पर साधु से कम नहीं :

अहमदाबाद में एक वकील थे। अच्छी वकालत चलती थी। वे एक दिन एक आचार्य के परिचय में आये। आचार्य जिनागमों के अभ्यासी थे। उन्होंने '४५ आगम विधिपूर्वक सुनने चाहिए,' यह बात वकील को समझायी। वकील के मन में उल्लास पैदा हुआ। उन्होंने आगमों का श्रवण करने का संकल्प किया।

नित्य एकासन का व्रत लेकर, सामायिक में अप्रमत्त भाव से बैठ कर, आगम श्रवण करना शुरू किया। ४५ आगमों का श्रवण किया। बाद में उन्होंने वकालत करना छोड़ दिया। ३५ या ४० वर्ष की उम्र में उन्होंने ब्रह्मचर्य-व्रत ले लिया।

मेरा उनसे अच्छा परिचय हो गया। एक दिन उन्होंने अपनी एक 'डायरी' मुझे बतायी। उस डायरी में उन्होंने अपने व्रत-नियमों का विवरण लिखा था। पढ़कर मस्तक झुक गया। जिनशासन में, इस काल में, गृहस्थ जीवन में इतने सारे व्रत-नियमों का पालन करनेवाले धर्मवीर पुरुष हैं।' मन प्रसन्नता से भर गया। उनकी धर्मपत्नी ने कहा : 'ये तो एकासन भी 'ठाम चौविहार' करते हैं।' यानी एकासन करते समय ही पानी पीते हैं। दूसरे समय में पानी भी नहीं

पीते। एक दफे आँखों का ओपरेशन करवाया था, उस समय भी एकासन नहीं छोड़ा। पानी भी एकासन करते समय ही पिया...। ओपरेशन सफल हो गया था। उनका मनोबल कितना दृढ़ होगा?

मैंने उनसे पूछा था : 'इतनी सुन्दर व्रतोपासना और ज्ञानोपासना आप कैसे कर पाये?' उन्होंने कहा था : 'यह सारी कृपा है ज्ञानी ऐसे गुरुदेवों की। मुझ पर गुरुजनों का महान् अनुग्रह है। उनका उपकार मैं भवोभव नहीं भूल सकता हूँ।'

आज वे नहीं रहे हैं, परन्तु उनके गुणों की सुवास तो फैली हुई है। ऐसे सदगृहस्थ प्रेरणास्रोत होते हैं। प्रेरणा लेने की दृष्टि होगी तो ही प्रेरणा ले सकेंगे।

व्यक्तित्व को अन्तर्मुखी बनाइये :

वही मनुष्य अपने जीवन में ऐसा सुन्दर परिवर्तन ला सकता है कि जो बाह्य परिस्थितियों के प्रभाव से प्रभावित नहीं होता है। जिनका व्यक्तित्व परिपक्व होता है। अन्तर्मुखी व्यक्तित्व का निर्माण करना चाहिए। ज्ञानी पुरुषों का संपर्क, ऐसे व्यक्तित्व के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। ज्ञानी महापुरुषों के चरणों में पूर्णरूपेण समर्पण होना जरूरी होता है। गृहस्थ भी समर्पित हो सकते हैं। अपने शारीरिक और मानसिक बल के अनुरूप उनका समर्पण होगा।

इस विषय में एक विदेशी तत्त्वचिंतक 'जी-डब्ल्यू-आलपोर्ट' लिखता है कि : बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना, आत्मचिन्तन में लीन रहना चाहिए। अपने लक्ष्य को बहुत स्पष्टता से जानने का प्रयास करना चाहिए। ऐसी स्थिति में मनुष्य परमार्थरत रहने पर भी लोकप्रवाह में बह जाता नहीं है। जीवन के आदर्शों का सदैव ध्यान रखते हुए, अपने आपको कभी भी दिशाशून्य नहीं होने देना चाहिए। प्रौढ़ व्यक्ति की सभी क्रियाएँ और सभी चिन्तन, आदर्शप्रेरित और आदर्श-संचालित होता है।

जो अन्तर्मुख व्यक्तित्ववाले नहीं होते हैं, उनकी आन्तर-बाह्य स्थिति का विश्लेषण, 'कार्ल जुंग' नाम के तत्त्वचिंतक ने अच्छा किया है। वह लिखता है : 'बहिर्मुख चिन्तन, अविकसित व्यक्तित्व का परिचायक है। ऐसे मनुष्य परिस्थितिजन्य संवेदनाओं से प्रभावित होते हैं। ऐसे लोग परिस्थितियों से अपना तालमेल बिठाने का प्रयत्न करते हैं अथवा परिस्थितियों को बदलने के प्रयत्न करते रहते हैं। उनको आत्मचिन्तन की न तो आवश्यकता महसूस होती है, न ही

आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवेश करने का अनुभव होता है। वे तो सदैव बाह्य परिस्थितियों में उलझे हुए रहते हैं। अपने जीवन-प्रवाहों में परिवर्तन करने की बात, वे लोग विवेकपूर्वक सोच नहीं सकते हैं। ऐसे लोगों की सफलता वहाँ तक सीमित रहती है, जब तक अनुकूलता उपलब्ध होती है।

चिंतन ही ज्ञान की कुंजी है :

जब तक मनुष्य बाह्य परिस्थितियों में उलझा हुआ रहता है, तब तक वह आत्मचिन्तन नहीं कर सकता है। बाह्य परिस्थितियों की विसंवादिता तो चलती ही रहेगी। अनुकूलता-प्रतिकूलता का चक्र तो चलता ही रहेगा जीवनपर्यंत। तो फिर आत्मचिन्तन कब करेंगे? बिना आत्मचिन्तन, व्रत-नियमों की महत्ता कैसे समझ पायेंगे? बिना आत्मचिंतन किये, सम्यक्ज्ञान की आवश्यकता कैसे महसूस करेंगे।

आत्मकेन्द्रित तो होना ही पड़ेगा। दिन-रात में ५/१० मिनट भी आत्मचिंतन करना पड़ेगा। 'मैं कौन हूँ?' और 'मेरा क्या है?' ये दो प्रश्न अपनी आत्मा से पूछने पड़ेंगे। उसके बाद, दूसरे दो प्रश्न अपनी आत्मा से पूछने के हैं : 'मैं कहाँ से आया हूँ?', 'मैं कहाँ जाऊँगा?'

आत्मचिंतन का प्रारम्भ इन प्रश्नों से शुरू करें।

सभा में से : इन प्रश्नों के उत्तर तो हमें आते नहीं हैं।

महाराजश्री : उत्तर आते होते तो प्रश्न पूछने की क्या आवश्यकता थी? उत्तर नहीं आते हैं इसलिए प्रश्न है! प्रतिदिन पूछते रहेंगे...तो भीतर से उत्तर मिलेंगे! बाहर से तो उत्तर मिलते ही हैं, परन्तु वे उत्तर उतने मर्मस्पर्शी नहीं बनते, जितने भीतर से मिलनेवाले उत्तर बनते हैं।

सभा में से : फिर भी, आत्मचिन्तन करने की पद्धति बताने की कृपा करें...।

आत्मचिंतन करने का तरीका :

महाराजश्री : ठीक है, बताता हूँ। आत्मचिन्तन करने का समय ऐसा पसंद करें कि जब आपको एकान्त मिलता हो। शान्ति से बैठकर सोचें कि 'मैं कौन हूँ? वास्तव में मैं कौन हूँ? जो मेरा बाह्य शारीरिक रूप है, वह मैं नहीं हूँ। लोग मुझे जिस नाम से पुकारते हैं...वह भी मैं नहीं हूँ। मैं तो विशुद्ध आत्मा हूँ। मेरा वास्तविक स्वरूप शुद्ध है। सारी अशुद्धियाँ कर्मजन्य हैं। कर्मजन्य

प्रभावों को अज्ञानवश मैंने मेरे मान लिये हैं। घर, दुकान, स्नेही, स्वजन, धन-संपत्ति और शरीर...सब कुछ कर्मजन्य है। यह शरीर भी मैं नहीं हूँ। मैं तो आनन्द स्वरूप शुद्धात्मा हूँ।'

‘मेरा क्या है?’ यह दूसरा प्रश्न है। इन्द्रियों से अनुभूत कोई भी विषय-पदार्थ मेरा नहीं है। अज्ञान से मैंने उन पदार्थों को मेरा माना है। जो मेरा है वह कभी भी आत्मा से अलग नहीं हो सकता है। यह घर, दुकान, स्वजन, परिजन, वैभव, संपत्ति और शरीर...आत्मा के साथ सदैव नहीं रहते हैं...इसलिए मेरे नहीं हैं। मेरा है ज्ञान, मेरा है दर्शन, मेरा है चरित्र, मेरा है वीर्य, मेरी है वीतरागता...। यह जो मेरा है, कर्मों के प्रभाव से दब गया है। है आत्मा में ही। ये गुण कभी भी आत्मा से अलग नहीं होते हैं। जो मेरा है, मुझे उसे प्रकट करना है। प्रकट करने के लिए चाहिए ज्ञानी पुरुषों का सच्चा मार्गदर्शन। मैं ऐसे ज्ञानी पुरुषों को खोजूँगा और उनसे मार्गदर्शन लेता रहूँगा...मेरे आत्मगुणों को प्रकट करके रहूँगा। जो मेरा नहीं है, मैं उन पदार्थों से ममत्व तोड़ूँगा। तोड़ने का प्रयास करूँगा।'

तीसरा प्रश्न है **‘मैं कहाँ से आया?’** हमें अपने जन्म से पूर्व की स्थिति में ज्ञानदृष्टि से जाना पड़ेगा। हम कोई दूसरी योनि में थे, वहाँ हमारी मृत्यु हुई होगी... और यहाँ इस मनुष्य योनि में हमारा जन्म हुआ है। हमें मनुष्य योनि में जन्म मिला, वह भी आर्य देश में। आर्य देश में भी संपूर्ण अहिंसक जैन-परिवार में। ऐसे ही यहाँ जन्म नहीं मिल गया है...अकस्मात् से। कोई लोटरी नहीं लगी है। हमने हमारे पूर्वजन्म में कुछ व्रत-नियमों का पालन किया होगा, दुःखी जीवों के प्रति दया की होगी। किसी जीव की हिंसा नहीं की होगी। अतिथि को भाव से दान दिया होगा...तीव्र भाव से पाप नहीं किये होंगे...तभी हमें ऐसी मनुष्य योनि में जन्म मिला है।

पशु भी मरकर मनुष्य योनि में जन्म पा सकता है। परन्तु वे पशु मनुष्य योनि में आते हैं कि जो क्रूर नहीं होते, जो मांसाहारी-शिकारी नहीं होते। जो शान्त होते हैं...गाय, भैंस, हाथी, घोड़े...वगैरह जैसे पशु मरकर मनुष्य योनि में जन्म ले सकते हैं। लेकिन, पशुयोनि में से आये हुए मनुष्य में ‘आहार-संज्ञा’ प्रायः प्रबल होती है।

देव भी मरकर मनुष्य योनि में जन्म ले सकते हैं। देवलोक से मनुष्य योनि में जन्म लेनेवाले मनुष्य में ‘मैथुन संज्ञा’ प्रायः प्रबल होती है। ‘परिग्रह संज्ञा’ का भी प्रभाव दिखाई देता है।

हमें ऐसा चिन्तन करना है कि : 'मैं कितने जनम-मरण करता करता इस मनुष्य गति में आया हूँ। कितना दुर्लभ यह जीवन मुझे मिला है...। इस जीवन का मुझे दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। हिंसा, झूठ, चोरी, अनाचार...क्रोध-मान-माया-लोभ...जैसे पापों से मुझे मेरा यह मानवजीवन निष्फल नहीं बनाना है। पूर्वजन्म में मैंने कुछ अच्छे काम किये होंगे, धर्म की आराधना की होगी, पुण्य कर्म किये होंगे...तभी मुझे ऐसा अच्छा जीवन मिला है।'

चौथा प्रश्न है : 'मरकर मैं कहाँ जाऊँगा?' यदि मैं इस जीवन को पापों में ही बिता दूँगा तो अवश्य पशु-पक्षी की योनि में अथवा नरक योनि में जाऊँगा। नहीं, मुझे अब दुर्गति में नहीं जाना है। यदि मैं धन-संपत्ति की माया-ममता में, कुटुम्ब-परिवार की माया-ममता में फँसा हुआ रहूँगा...पापाचरण करता रहूँगा...तो मेरी दुर्गति ही होगी। दुर्गति के भयानक दुःख क्या मुझे से सहन होंगे?

अब मुझे उन्नति की ओर अग्रसर होना है। अवनति की गहरी खाई में गिरना नहीं है। ज्ञानी और व्रतधारी महापुरुषों से जीवन जीने का मार्गदर्शन लेता रहूँगा। दुर्गति में ले जानेवाले पापाचरणों का मैं अवश्य त्याग करूँगा।'

सत्संग से जो महान् बने :

इस प्रकार कुछ आत्मचिन्तन करना चाहिए। लक्ष्य का निर्णय कर, जीवनयात्रा करते चलो। समय-समय पर ज्ञानी एवं व्रतधारी महापुरुष का मार्गदर्शन लेते रहो। जीवनपर्यंत ऐसे महापुरुषों से संपर्क बनाये रखो। जिनशासन में ऐसे अनेक गृहस्थ श्रावक-श्राविका के नाम मिलते हैं कि जिन्होंने ज्ञानी महापुरुषों के संपर्क में रहते हुए, उनसे समय-समय पर मार्गदर्शन लेते रहे, उनकी सेवा-भक्ति करते रहे और अपने जीवन को उन्नत बनाते रहे। धर्म की आराधना भी करते रहे और धर्म की प्रभावना भी करते रहे। कुछ प्रसिद्ध ऐतिहासिक उदाहरण बताता हूँ :

○ राजा विक्रमादित्य ने श्री सिद्धसेन दिवाकरसूरिजी से धर्मतत्त्व को पाया, उनसे जीवनपर्यंत संपर्क बनाये रखा।

○ राजा आम ने, आचार्य श्री बप्पभट्टी से धर्मतत्त्व को पाया और जीवनपर्यंत उनकी सेवा की।

○ राजा कुमारपाल ने आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिजी से धर्मतत्त्व पाया और आजीवन उनकी और उनके शिष्यों की सेवा की।

प्रवचन-७८**६३**

○ राजा अकबर ने आचार्य श्री हीरविजयसूरिजी से धर्मतत्त्व पाया और आजीवन उनकी और उनके शिष्यों की सेवा की।

○ महामंत्री पेशवा साहेब ने आचार्य श्री धर्मघोषसूरिजी से धर्मतत्त्व पाया और आजीवन उनकी सेवा करते रहे।

○ राजा वनराज ने, आचार्य श्री शीलगुणसूरिजी से धर्मतत्त्व पाया और आजीवन उनकी सेवा करते रहे।

ऐसे तो अनेक प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध श्रावक-श्राविकाओं के नाम जैन-इतिहास की परम्परा में भरे पड़े हैं। जीवन को ज्ञान के प्रकाश से आलोकित करना है, व्रत-नियमों की सुवास से सुवासित करना है, तो ज्ञानी और व्रती महापुरुषों की सेवा करनी ही पड़ेगी। आप ऐसी सेवा करके अपने-अपने जीवन को धन्य बनायें, यही मंगल कामना करता हूँ।

आज बस, इतना ही।



- धर्म, अर्थ और काम-ये तीनों विभाग परस्पर संकलित हैं और हमें इनका पालन भी इस तरह करना है ताकि किसी भी विभाग की हानि न हो।
- देखिए, जैसे किसी विभाग की उपेक्षा नहीं करना है वैसे ही किसी भी विभाग में अतिरेक भी नहीं करना है। अन्तिम छोर हमेशा दुःखदायी होता है।
- जैसे के पीछे पागल बना हुआ आदमी न तो आत्मा या परमात्मा के बारे में सोचता है...नहीं औरों की सुख-दुःख की संवेदना उसके भीतर में ठठती है! परिवार के प्रति अपने कर्तव्यों से भी वह आँख चुराता है। चूँकि उसके लिए ऐसा ही सब कुछ है।
- जिसके लिए पैसा इकट्ठा करने का दावा करते हो कभी उस परिवार को भी देखो! आपकी पत्नी, आपके बच्चों के जीवन में झाँको!



परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी, स्वरचित 'धर्मविन्दु' ग्रन्थ में २५वाँ गृहस्थोचित सामान्य धर्म बताते हैं : परस्पर संकलित रूप से एक-दूसरे का उपघात न हो वैसे धर्म, अर्थ और काम का सेवन करना।

ग्रन्थकार आचार्यदेव ने धर्म, अर्थ और काम का निर्देश 'त्रिवर्ग' शब्द से किया है। गृहस्थ जीवन के सभी क्रिया-कलापों का समावेश 'त्रिवर्ग' में हो जाता है। यानी गृहस्थ की एक भी क्रिया ऐसी नहीं है कि जिसका समावेश 'त्रिवर्ग' में नहीं होता हो।

धर्म, अर्थ और काम-ये तीन वर्ग या तीन विभाग, परस्पर संकलित हैं। तीन विभाग में से एक भी विभाग को हानि न हो, वैसे उनका सेवन करने का है। धर्म-आराधना, अर्थोपार्जन और विषयभोग - इन तीन प्रकार के क्रिया-कलापों का परस्पर सामंजस्य स्थापित होना चाहिए। किसी की भी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए।

जैसे उपेक्षा नहीं होनी चाहिए, वैसे अतिरेक भी नहीं होना चाहिए। उपेक्षा

और अतिरेक से वही मनुष्य बच सकता है, जो संतुलित बुद्धिवाला होता है, जो भावावेश में बह जानेवाला नहीं होता है। इस विषय की चर्चा बाद में करूँगा, पहले इन तीन पुरुषार्थ की परिभाषाएँ बताता हूँ। इस ग्रन्थ के टीकाकार आचार्यश्री ने बहुत ही सुंदर परिभाषाएँ बताई हैं।

‘धर्म’ की परिभाषा :

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।

जिससे अभ्युदय-सिद्धि प्राप्त होती है और जिससे निःश्रेयस की प्राप्ति होती है-उसका नाम है धर्म।

इस ग्रन्थ के प्रारंभ में ही ग्रन्थकार आचार्यदेव ने कहा है :

‘धनदो धनार्थिनां प्रोक्तः कामीनां सर्वकामदः ।

धर्म एवापवर्गस्य पारम्पर्येण साधकः ॥’

इस श्लोक में भी, धर्म अभ्युदय और निःश्रेयस प्रदान करता है, यही बात कही गई है। अर्थ और काम अभ्युदय है। अपवर्ग यानी मोक्ष निःश्रेयस है।

धर्म क्या है? :

मन-वचन-काया का ऐसा पुरुषार्थ धर्म है कि जिससे पुण्यकर्म बँधते हैं और पापकर्म नष्ट होते हैं। मन के कुछ विचार ऐसे होते हैं कि जिनसे पुण्यकर्म बँधता है, कुछ ऐसे विचार होते हैं कि जिनसे पापकर्म बँधता है और कुछ विचार ऐसे होते हैं कि जिनसे कर्मों का नाश होता है। तो, जिन-जिन विचारों से पुण्यकर्म बँधता है और जिन-जिन विचारों से कर्मों का नाश होता है - वे सारे विचार ‘धर्म’ हैं।

कुछ वाणी-व्यवहार ऐसा होता है जिससे पुण्यकर्म बँधता है, कुछ वाणी-व्यवहार ऐसा होता है कि जिससे पापकर्म बँधता है और कुछ वाणी-व्यवहार ऐसा होता है कि जिससे कर्मों का नाश होता है। तो, जिन-जिन वाणी-व्यवहारों से पुण्यबंध होता है और कर्मों का नाश होता है-वह सारा वाणी-व्यवहार ‘धर्म’ कहलायेगा।

पाँच इन्द्रियों की-शरीर की कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी होती हैं कि जिससे पुण्यकर्म बँधता है, कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी होती हैं कि जिससे पापकर्म बँधता है और कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी होती हैं (कायस्थिरता) कि जिससे कर्मों का नाश

होता है। जिस प्रवृत्ति से पुण्यबंध होता है और कर्मों का नाश होता है, वह प्रवृत्ति 'धर्म' है।

जीवात्मा ने जो पुण्यकर्म बाँधा हुआ होता है, यानी धर्म से जो पुण्यकर्म उपार्जित हुआ हो पूर्व जन्मों में, उन पुण्यकर्म के उदय से मनुष्य का अभ्युदय होता है। उसको धन्य-धान्य, आरोग्य, अच्छा परिवार, यशःकीर्ति वगैरह वैषयिक सुखों की प्राप्ति होती है। इस वर्तमान जीवन में जीवात्मा जो पुण्यकर्म का उपार्जन करता है, उससे जो पुण्यकर्म बाँधता है, वह पुण्यकर्म आनेवाले भवों में जब उदय में आयेगा तब अभ्युदय होगा।

जब सभी कर्मों का क्षय होगा तब निःश्रेयस-मोक्ष की प्राप्ति होगी। सभी कर्मों का क्षय होता है तपश्चर्या से। समभाव के साथ की हुई तपश्चर्या कर्मों का नाश करती है। न होना चाहिए कोई लोभ, न होनी चाहिए कोई लालच। 'मैं तप करूँगा तो मुझे घर में, समाज में मान-सम्मान मिलेगा, मुझे धन-संपत्ति मिलेगी, मुझे पुत्रप्राप्ति होगी...' ऐसी-वैसी लालच से किया हुआ तप कर्मक्षय नहीं करता है।

तपश्चर्या के व्यापक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। बाह्य और आभ्यन्तर तपश्चर्या का ज्ञान प्राप्त करें। बाह्य तप करते करते आन्तर तपश्चर्या की ओर जाना चाहिए। स्वाध्याय, ध्यान, विनय, कायोत्सर्ग, प्रायश्चित्त वगैरह आन्तर तपश्चर्या है। कर्मक्षय में यह आन्तर तपश्चर्या असाधारण कारण है। गृहस्थ जीवन में यह बाह्य-आन्तर तपश्चर्या की उचित आराधना करनी चाहिए।

सभा में से : 'उचित आराधना' से क्या मतलब है?

महाराजश्री : अर्थ-पुरुषार्थ और काम-पुरुषार्थ को हानि न पहुँचे, इस प्रकार तपश्चर्या करने की है। गृहस्थ जीवन में अर्थ-पुरुषार्थ और काम-पुरुषार्थ विशेष महत्त्व रखते हैं।

'अर्थ' का अर्थ : 'यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः सोऽर्थः'।

टीकाकार आचार्यश्री ने अर्थ की कैसी व्यापक परिभाषा दी है! जिससे सभी प्रयोजनों की सिद्धि होती है-वह अर्थ है। अर्थ यानी स्थावर और जंगम संपत्ति। संपत्ति कहेँ, वैभव कहेँ, रुपये कहेँ, जमीन कहेँ, मकान कहेँ... सभी 'अर्थ' है। संपत्ति से सभी कार्य सिद्ध हो सकते हैं। मनुष्य का समग्र गृहस्थोचित व्यवहार को नहीं निभा सकता है। इसलिए मनुष्य को अर्थ-प्राप्ति के प्रति दुर्लक्ष नहीं करना चाहिए। जीवन-व्यवहार सुचारु रूप से चलता रहे, उतनी

अर्थप्राप्ति हो गई हो, उस व्यक्ति को ज्यादा अर्थप्राप्ति के व्यामोह में नहीं फँसना चाहिए, यानी अर्थपुरुषार्थ में उलझना नहीं चाहिए। यों तो, किसी भी पुरुषार्थ में मनुष्य उलझेगा तो दूसरे पुरुषार्थों को नुकसान पहुँचायेगा ही! यानी अर्थपुरुषार्थ में उलझा हुआ मनुष्य, धर्मपुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ को और क्षति पहुँचाता है। धर्मपुरुषार्थ में उलझा हुआ मनुष्य, अर्थपुरुषार्थ को और कामपुरुषार्थ को क्षति पहुँचाता है। स्वयं को क्षति पहुँचाता है और दूसरों को भी क्षति पहुँचाता है। पारिवारिक जीवन को नुकसान होता ही है।

केवल पैसा ही सब कुछ!

बंबई में एक डॉक्टर थे। 'मैं मनुष्यों की सेवा करता हूँ,' सिर्फ बोलते ही थे, उनका लक्ष्य था धन और संपत्ति। प्रातः ६ बजे उठ कर वह अपने 'क्लिनिक' में चले जाते थे और रात को १० बजे वह घर वापस लौटते थे। उनकी तीन या चार संतानें थीं। संतानें अपने पिता को रविवार के दिन ही देख सकती थीं! चूँकि रविवार के दिन डॉक्टर 'क्लिनिक' में नहीं जाते थे। फिर भी, मरीज घर पर आते रहते थे। बच्चों के साथ डॉक्टर बैठ नहीं सकते थे, बातें नहीं कर सकते थे। पत्नी का भी असंतोष बढ़ता जाता था। डॉक्टर पत्नी को भी संतोष नहीं दे पाता था। केवल रुपयों से क्या घर चलता है? डॉक्टर घर के लिए पत्नी को रुपये तो काफी देता था, परन्तु पत्नी की बातें सुनने का उसके पास समय नहीं था। उनकी तो एक ही लगन थी...हिमालय जितना धन का ढेर कर देना था!

धर्म की बात ही नहीं! न मंदिर जाते थे, न धर्मोपदेश सुनने धर्मगुरुओं के पास जाते थे! न कभी सामायिक करते थे, न कभी प्रतिक्रमण करते थे! हम लोग पास में ही चातुर्मास रहे हुए थे...परन्तु पर्युषण पर्व में संवत्सरी के दिन ही हमने उनको देखा। उनके पिताजी ने पहचान करवायी थी।

उनका मन ही धर्मक्रिया में लग नहीं सकता था। उनकी एक ही धुन थी श्रीमन्त बनने की। उन्होंने न तो धर्मपुरुषार्थ किया, न काम-पुरुषार्थ में सफलता पायी। असंतुष्ट पत्नी से उनको कैसे कामसुख मिलता? कैसे प्रेम-स्नेह व आदर मिलता? वह धीरे-धीरे घर से दूर होते गये। लड़के-लड़कियों का भी उनके प्रति आदर-स्नेह नहीं रहा। उधर, डॉक्टर के जीवन में एक दूसरी स्त्री ने प्रवेश किया। गृहक्लेश उग्र बना। माता, पिता, पत्नी, संतान, सभी के जीवन अशान्तिमय बन गये।

कहिए, अब लाखों रुपये किस काम के रहे? अभी दो साल पूर्व उन डॉक्टर का देहावसान हो गया...शायद उनको केन्सर हो गया था। लाखों रुपये छोड़कर वह मरे। मानव जीवन की कौन-सी सफलता उन्होंने पायी? एक भी सफलता नहीं पायी...घोर निष्फलता पायी। जीवन हार गये।

साध्य-साधन का भेद :

धन-संपत्ति को जो लोग साधन नहीं, साध्य मान लेते हैं, ऐसे लोगों की दुर्दशा होती ही है। धन-संपत्ति को मात्र साधन के रूप में माननेवाले, धर्मपुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ में धन का यथोचित विनियोग करते हैं। अर्थोपार्जन का उतना ही प्रयत्न करते हैं कि जिससे उनकी धर्माधना अच्छी चलती रहे और इन्द्रियों के विषयसुख भी उचित रूप से भोगे जा सकें।

धन-संपत्ति की तीव्र लालसा ने कितने घोर अनर्थ करवाये हैं, यह क्या समझाने की बात है? आज की दुनिया ही अर्थप्रधान बन गई है। सभी क्षेत्रों में अर्थ-प्रधानता छा गई है। हर व्यक्ति को श्रीमन्त हो जाना है। 'धर्म' को भुलाया जा रहा है। अर्थलोलुप मनुष्य के हृदय में धर्म को स्थान होता ही नहीं है।

आजीविका के लिए अर्थप्राप्ति करना, वह अर्थलोलुपता नहीं है। परिवार की पालना करने हेतु अर्थप्राप्ति करना वह तो गृहस्थ का कर्तव्य है। अर्थलोलुपता, जीवन में आवश्यक तत्त्व नहीं है। अर्थान्ध मनुष्य धर्मविमुख होता है। विवेकशून्य होता है। पापप्रिय होता है। धन-संपत्ति की लालसा से मनुष्य स्नेही-स्वजनों की हिंसा करने में हिचकिचाता नहीं है। झूठ और चोरी तो उसके श्वासोच्छ्वास में होती है।

अर्थान्ध मनुष्य को न आत्मा का विचार होता है, न महात्मा का विचार होता है, न परमात्मा का विचार होता है। न उसको दूसरों के सुख-दुःख का विचार होता है, न उसको अपने स्नेही-स्वजनों के प्रति कर्तव्यों का बोध होता है।

एक कबाड़ी राजा की बात ! :

विक्रम की ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में गुजरात का राजा सिद्धराज जयसिंह, ऐसा ही अर्थान्ध राजा था। उसको राज्यविस्तार की तीव्र लालसा थी। दूसरे राज्यों पर विजय पाने के लिए वह युद्ध करता ही रहता था।

सौराष्ट्र के जूनागढ़ का राज्य पाने के लिए उसने बारह वर्ष तक संघर्ष जारी रखा था। मानव जीवन के मूल्यवान वर्ष उसने युद्धों में बरबाद कर दिये थे। परंतु, एक दिन उसकी आँखें खोलनेवाला दूसरा राजा मिल गया। वह था मालवा का राजा मदनवर्मा।

जब सिद्धराज ने मालवा पर आक्रमण किया, सिद्धराज का दूत राजा मदनवर्मा से मिलने आया, मदनवर्मा तो राजदूतों से मिलता ही नहीं था। महामंत्री मिले। सिद्धराज का संदेश महामंत्री ने मदनवर्मा को सुनाया। मदनवर्मा ने महामंत्री से कहा : 'उस कबाड़ी सिद्धराज को जितने रुपये चाहिए उतने दे दो और बिदा कर दो।'

महामंत्री ने सिद्धराज के दूत को मदनवर्मा का संदेश सुनाया। दूत ने जाकर सिद्धराज से कहा : 'महाराजा, राजा मदनवर्मा ने कहा है कि 'उस कबाड़ी सिद्धराज को जितने रुपये चाहिए उतने मिल जायेंगे, लेकर वह यहाँ से रवाना हो जाय।' और, राजा तो किसी राजदूत को मिलता भी नहीं है। राजसभा में भी कम ही आता है...। दिन-रात अन्तःपुर में रहता है, पाँच इन्द्रियों के विषयसुख भोगता है।'

सिद्धराज दूत की बातें सुनकर गहरे विचार में डूब गया। उसने मुझे 'कबाड़ी' कहा...जितने रुपये चाहिए उतने देने को तैयार हुआ...दिन-रात अन्तःपुर में - रनिवास में रहता है...यह कैसा राजा है? मुझे उससे मिलना होगा।

सिद्धराज मदनवर्मा से मिला। मदनवर्मा ने बड़े प्रेम से सिद्धराज का स्वागत किया। सिद्धराज ने पूछा : 'मुझे 'कबाड़ी' क्यों कहा?' मदनवर्मा ने सस्मित कहा : 'हे गुर्जर नरेश, आप इतने सारे युद्ध क्यों करते हैं? आपको धनदौलत चाहिए न? जिसको 'कपर्दिका' (पैसा) से प्रेम होता है, उसी को पाने के लिए जो जीता है, वह 'कबाड़ी' कहलाता है। राजन्, क्या आपके अन्तःपुर में रानियाँ नहीं हैं? क्या आपका परिवार नहीं है? इतना सारा राज्यवैभव किसलिए मिला है? युद्ध के मैदानों पर ही जीवन पूरा कर देने का है? संसार के सुख मिलने पर भी जो भोगता नहीं है और ज्यादा सुख पाने के लिए लड़ता-झगड़ता रहता है, वह मेरी दृष्टि में बुद्धिमान् नहीं है।'

सिद्धराज को मदनवर्मा की बात अच्छी लगी। उसने अपना आत्म-निरीक्षण किया। अपनी राजधानी पहुँच कर, उसने युद्ध नहीं करने का संकल्प किया। बाद में तो आचार्यदेव श्री हेमचन्द्रसूरिजी के संपर्क में आया और जीवन में

धर्मपुरुषार्थ को भी स्थान दिया। धर्म-अर्थ और काम, तीनों पुरुषार्थ को जीवन में यथोचित स्थान दिया।

सभा में से : कभी भविष्य की चिन्ता सताती है, इसलिए अर्थ-पुरुषार्थ को विशेष महत्त्व देते हैं।

महाराजश्री : भविष्य की चिन्ता सताती होती तो आप धर्म-पुरुषार्थ को विशेष महत्त्व देते। आप लोगों को आपके भविष्य की चिन्ता होती है क्या? आपके वर्तमान जीवन के कृत्यों से आपका कैसा भविष्य निर्मित होगा, इस बात को सोचते हो क्या? लेकिन, आपको आत्मचिन्ता नहीं है! आपको पेट की चिन्ता है... 'भविष्य में मेरे पास पैसे नहीं होंगे तो मेरा क्या होगा? मेरे बेटों का क्या होगा? बेटे के बेटों का क्या होगा? मैं इतने रुपये कमा लूँ कि मेरे बेटों-पोतों को भी कमाना नहीं पड़े।'।

चिन्ता कहाँ तक की? :

ऐसी ही चिन्ता जटाशंकर को हुई थी। उसने मंदिर, धर्मस्थान सब कुछ छोड़कर अर्थपुरुषार्थ करना शुरू कर दिया था। कुटुम्ब-परिवार की ओर भी देखता नहीं था। रात-दिन बस, पैसा कमाने की ही धुन लग गई थी। ढेर सारे रुपये कमाये भी थे। एक दिन उसने अपने मुनीम को कहा : 'मुनीमजी, आप मेरी संपत्ति का हिसाब लगायें कि, मेरी संपत्ति कब तक चलेगी। यानी मेरी कितनी पीढ़ी तक चलेगी?'

मुनीम ने हिसाब लगाकर कहा : 'सेठ साहब, आपके पास इतनी संपत्ति है कि आपका पुत्र अपने १०० साल की आयु तक बैठा हुआ खायेगा, तो भी चलेगी।'।

जटाशंकर ने पूछा : 'क्या मेरे पोते के लिए मेरी संपत्ति नहीं बचेगी?'

मुनीम ने कहा : 'नहीं।'।

बस, जटाशंकर को चिन्ता लग गई और 'चिन्ता तो चिता के समान।'। जटाशंकर का शरीर भी चिन्ता से गलने लगा। एक दिन एक संन्यासी उसके घर भिक्षा लेने आया। भिक्षा देने के बाद जटाशंकर ने कहा : 'महात्मन्, मुझे भविष्य की बहुत चिन्ता सताती है... ढेर सारी संपत्ति होने पर भी शान्ति नहीं है।'।

संन्यासी ने कहा : 'तू प्रतिदिन एक भिक्षुक को एक सेर अनाज देने के बाद भोजन करना।'। संन्यासी चला गया। जटाशंकर प्रतिदिन भोजन से पहले

किसी भी भिक्षुक को एक सेर अनाज देकर ही भोजन करता है। एक दिन, जटाशंकर को एक भी भिक्षुक नहीं मिला। उसको भूख लगी थी...घर के बाहर खड़ा वह भिक्षुक को खोज रहा था...। एक गरीब किसान सा व्यक्ति वहाँ से गुजर रहा था। जटाशंकर ने उसको अपने पास बुलाकर कहा : 'भैया, यह एक सेर अनाज तू ले जा, आज की रोटी बन जायेगी।'

किसान ने कहा : 'घर पर रोटी तैयार है महाराज, क्षमा करे, मुझे अनाज नहीं चाहिए।'

जटाशंकर बोला : 'आज नहीं तो कल काम आयेगा यह अनाज...।'

किसान ने कहा : 'कल के लिए और परसों के लिये भी मेरे पास पर्याप्त अनाज है।'

जटाशंकर ने कहा : 'उसके बाद आने वाले दिनों में काम आयेगा...।'

किसान ने हँसते हुए कहा : 'महाराज, आने वाले दिनों की चिन्ता मैं नहीं करता हूँ। वह चिन्ता तो भगवान करेगा...। मैं तो कल की भी चिन्ता नहीं करता हूँ...।' किसान चला गया। जटाशंकर किसान की बातें सुनकर गहरे विचारों में खो गया। विचारों के गहरे पानी से जब वह बाहर निकला तब उसकी सारी की सारी अशान्ति धुल गई थी। पुत्र-पौत्रों की चिन्ताओं से उसको मुक्ति मिल गई थी।

अनीति बढ़ रही है :

कुछ वर्षों से अर्थोपार्जन में अनीति, अन्याय और बेईमानी तो बढ़ी ही है। चोरी और 'स्मगलिंग' तस्करी काफी बढ़े हैं। राष्ट्रनिषिद्ध व्यापार लोग धड़ल्ले से करते हैं। पुण्यकर्म का उदय जिसका होता है वे लोग गलत रास्ते लाखों-करोड़ों रुपये पा लेते हैं जरूर, परन्तु उन लोगों को भय इतना ज्यादा होता है कि :

- शान्ति से नींद नहीं आती है।
- शान्ति से भोजन नहीं कर सकते हैं।
- अति भय से 'हार्ट-एटेक' और 'ब्रेइन हेमरेज' जैसे दर्द होते हैं।
- कभी भी जेल में जाना पड़ सकता है।
- सारी संपत्ति चली भी जा सकती है।

अर्थोपार्जन ज्यादा करनेवालों को स्वार्थी लोग, अपना स्वार्थ सिद्ध करने के

लिए पब्लिक में सराहते हैं...उनकी झूठी प्रशंसा करते हैं, बस, इतना ही। बाद में, प्रशंसा करनेवाले लोग ही निन्दा करते रहते हैं।

गलत रास्तों पर चल कर धनवान बनने की स्पृहा छोड़ सकेंगे? मन का दृढ़ संकल्प करें और ऐसी वितृष्णा से मुक्त बनें। आजीविका के लिए धनार्जन तो करना ही पड़ेगा, परन्तु श्रीमन्त बनने की स्पृहा से यदि धनान्ध बन कर धनोपार्जन में लग गये तो धर्म-आराधना तो दूर रहेगी ही, संसार के सुख भी नहीं भोग सकोगे।

सोचिए, आप कहाँ जा रहे हैं? :

एक महानुभाव ने अपने विगत जीवन की भूलों की आलोचना करते हुए बताया था कि 'मैं मेरे यौवनकाल में धन कमाने के लिए दिन-रात मेहनत करता था। मेरे पास आजीविका के लिए तो पर्याप्त धन था, परन्तु मुझे तो करोड़पति बनना था। मेरी बंबई में, मद्रास में और अहमदाबाद में ऑफिसें थीं। महीने में २० दिन मैं प्रवास में ही रहता था। पत्नी मेरे बंबई के घर में रहती थी। पत्नी मुझे हमेशा कहा करती थी कि 'आप ज्यादा प्रवास मत करें। आपके बिना मुझे बेचैनी रहती है।' परन्तु मैं उसकी बात ध्यान में नहीं लेता था। वह मुझे से वैषयिक सुख नहीं पा सकती थी। विषयव्याकुलता बढ़ती गई। एक दूसरे पुरुष से उसका शारीरिक संबंध हो गया। मैं तो नाम का ही पति बना रहा...। कुछ वर्ष तक यह परिस्थिति बनी रही। मैं तो अपने व्यापार में ही उलझा हुआ रहता था। घर में पत्नी को जितने रुपये चाहिए, दे देता था। मैंने कभी यह नहीं सोचा कि 'पत्नी की मानसिक स्थिति क्या होगी। क्या उसके मन में विषयभोग की इच्छा नहीं जगती होगी? जगती होगी तो वह क्या करती होगी? मैं तो ज्यादातर घर से बाहर ही रहता हूँ।'।

परन्तु एक दिन मैं अचानक घर पर पहुँचा...और मैंने अपने घर में उस पुरुष के साथ मेरी पत्नी को देखा। वह पुरुष तो चला गया। मैं मौन रहा। मेरी पत्नी भी मौन रही। भोजन से निवृत्त होकर मैं बैठा था, रात पड़ गई थी। मेरी पत्नी मेरे पास आकर बैठ गई...मेरे पैरों में गिरकर रोने लगी। उसने परपुरुष के साथ बँधा हुआ संबंध कबूल किया...और अब फिर से गलती नहीं करने का वचन देने लगी। मैं गहन विचार में डूब गया था। मैंने उससे कहा : 'पहले मेरी गलती हुई है, मेरी गलती के कारण तेरी गलती हुई है। मैं ज्यादा धन कमाने की लालच में तुझे भूल ही गया...। मैं तो अति व्यस्तता में भोगसुख को भूल ही गया था...तुझे विषयवासना उतनी सताती नहीं थी...परन्तु

मैं तेरा विचार नहीं कर पाया। मैंने मद्रास और अहमदाबाद की ऑफिसें बंद कर दीं। मैं बंबई में रहने लगा। पत्नी को संतोष हुआ। परन्तु, पत्नी के दुराचार-सेवन में मैं निमित्त बना, इस बात का मुझे बड़ा दुःख है, मुझे प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करें।'

दूसरे एक परिवार के पति-पत्नी ने कहा था : 'मैं अपने व्यापार में काफी उलझा हुआ रहता हूँ, और मेरी पत्नी सामाजिक प्रवृत्तियों में एवं सांस्कृतिक प्रवृत्तियों में उलझी हुई रहती है...हम दोनों हमारे लड़के-लड़कियों का ख्याल ही नहीं रख सके...। परिणाम इतना तो खराब आया है, कि क्या करें...? कुछ समझ में नहीं आता है। लड़की का संबंध एक ऐसे लड़के से हो गया है...कि जो लड़का 'आवारा' है। लड़की ऐसी मोहवश हो गई है...कि उसको छोड़ने को तैयार नहीं है। समाज में भी चर्चा होने लगी है। चार साल से यह संबंध चला आ रहा है...। हमने तो कुछ ख्याल ही नहीं किया...।'

दोनों पति-पत्नी आत्महत्या के विचार में पहुँच गये थे। काफी समझाया और धनान्धता से मुक्त होने की प्रेरणा दी। मात्र पैसा ही पैसा...। वह पैसे के पीछे पागल था... लड़की ने तो सचमुच का ही पागल बना दिया न?

आज ऐसे पागलों की संख्या बढ़ती जा रही है। पारिवारिक जीवन में व्यापक रूप से दुराचारों का प्रवेश हो गया है। न रहा है धर्म और नहीं रही है संस्कृति। अधर्म और विकृतियों ने मनुष्य की नैतिकता को नष्ट कर दिया है। धार्मिकता को रौंद डाला है। आध्यात्मिकता को सर्वथा भुला दिया है।

'धन-दौलत ही सब कुछ है,' यह मान्यता कितनी व्यापक बन गई है? हजारों साधु-संतों के उपदेश, जिस देश की जनता को सुनने मिलते हैं...उस देश की प्रजा कितनी अर्थप्रधान बन गई है? क्या उपदेशों का असर नहीं होता है, आप लोगों के हृदय पर?

अर्थप्रधान हृदय, धन-दौलत का प्यासा हृदय क्रूर, उग्र और दयाहीन होता है। अर्थप्रधान...अर्थान्ध मनुष्य का जीवन पाप-प्रचुर होता है। न उसको अपनी आत्मा की स्मृति होती है...न उसे धर्म से कोई लगाव होता है।

ऐसे लोग, धर्म से विमुख और भोग-सुखों से भी विमुख, अपने जीवन में घोर अशान्ति और संताप का अनुभव करते हैं। यदि ये लोग दुराग्रही होते हैं तो उनको कोई सच्ची बात समझा भी नहीं सकते हैं। ये लोग तो ठोकरें खाने पर समझें तो ठीक है...अन्यथा यों ही जीवन व्यर्थ गँवाकर दुर्गति में चले जाते हैं।

एकांगी मत बनो :

ग्रन्थकार आचार्यदेव ने, यह सामान्य धर्म बताकर, जीवन जीने का बहुत ही स्पष्ट और सुन्दर मार्गदर्शन दिया है। धर्म, अर्थ और काम-तीनों पुरुषार्थ का औचित्य समझा कर उन्होंने महान् उपकार किया है। एकांगिता का त्याग करने का उन्होंने उपदेश दिया है। जैसे विचारों में एकांगी मनुष्य दुःख पाता है वैसे आचार-व्यवहार में एकांगी मनुष्य भी दुःख ही पाता है। मात्र पैसे के पीछे पागल बनना एकांगिता है। मात्र भोगसुखों में डूब जाना एकांगिता है और मात्र धर्म ही करते रहना भी एकांगिता है।

तीनों पुरुषार्थ में, किसी भी पुरुषार्थ को क्षति नहीं पहुँचे वैसा जीवन जीना है। आज तो मात्र, अर्थपुरुषार्थ को ही लक्ष्य बनाकर जीवन जीनेवाला कैसे शेष दो पुरुषार्थ को क्षति पहुँचाता है, उसका ही विवेचन किया है, शेष विषय का विवेचन आगे करूँगा।

आज बस, इतना ही।



- धर्मपुरुषार्थ करने के लिए भी साधन तो इन्द्रियाँ और शरीर ही रहेंगे! अतृप्त एवं अशक्त इन्द्रियोंवाला व्यक्ति शान्त मन से धर्मआराधना कर कैसे सकेगा? और मरते मरते...गुरझाये मन से कोई धर्मआराधना करता भी है तो उसमें जान नहीं होगी। जीवन्तता प्रतीत नहीं होगी।
- वैषयिक-ऐन्द्रिक सुख-साधनों को एकत्र करने में विवेकहीन अन्ध-अनुकरण बढ़ रहा है। चमकीले, भड़कीले प्रदर्शन की वृत्ति से पूरा समाज धीड़ित है! और यह मनोवृत्ति आदमी को बरबाद कर डालती है!
- धार्मिकता का दावा रखनेवालों के घरों में भी टी.वी., विडियो चगैरह अनेक प्रदूषण प्रविष्ट हो गये हैं!
- बाहरी खानपान ज्यों-ज्यों बढ़ा है त्यों-त्यों घर का खर्चा भी बढ़ा और शरीर में रोग भी बढ़ने लगे।



परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रन्थ में, गृहस्थ जीवन के सामान्य धर्मों का प्रतिपादन करते हुए, पचीसवाँ सामान्य धर्म बताया है 'परस्पर संकलित धर्म-अर्थ-काम का, परस्पर क्षति न हो उस प्रकार सेवन करना।'

गृहस्थ जीवन में जितना महत्त्व धर्मपुरुषार्थ का है, उतना ही महत्त्व अर्थपुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ का है। तीन में से किसी एक पुरुषार्थ को भी क्षति नहीं होनी चाहिए। तीनों पुरुषार्थ एक-दूसरे के पूरक हैं। इसलिए तो ग्रन्थकार ने कहा : 'अन्योन्यानुबद्ध' तीनों पुरुषार्थ एक-दूसरे से अनुबद्ध हैं।

'काम' क्या है :

अर्थपुरुषार्थ को ही प्रमुख मानकर जो मनुष्य दिन-रात अर्थोपार्जन में ही व्यस्त रहता है, वह मनुष्य धर्म और काम को कैसी क्षति पहुँचाता है, यह बात मैंने कल बतायी थी। आज, जो मनुष्य कामपुरुषार्थ को ही प्रमुख बनाकर दिन-रात भोग-विलास में ही लीन रहता है, वह मनुष्य धर्म को और अर्थ को कैसा नुकसान पहुँचाता है-यह बात करूँगा।

टीकाकार आचार्यश्री ने 'काम' की परिभाषा अच्छी दी है :

यतः अभिमानिकरसानुविद्धा सर्वेन्द्रियप्रीतिः सः कामः।

सामान्यतया 'काम' का अर्थ यौनलिप्सा से किया जाता है। प्रचलित मान्यता के अनुसार 'काम' को सन्तति-उत्पादन का कारण माना गया है। परन्तु 'काम' की यह परिभाषा एकांगी है। टीकाकार आचार्यश्री ने यहाँ जो व्याख्या प्रस्तुत की है वह सर्वांगीण व्याख्या प्रतीत होती है। उन्होंने कहा : सभी-पाँचों इन्द्रियों की प्रीति-उसी का नाम काम है। वह प्रीति भी सामान्य नहीं, उल्लसित प्रीति। उछलती हुई प्रीति।

यौनाचार तो मात्र स्पर्शनेन्द्रिय की संतुष्टि तक सीमित है। यौनाचार, कामपुरुषार्थ का एक छोटा रूप है। उसको मात्र यौनतृप्ति का आधार मान लेना, भारी भूल है।

काम-वासना और काम-पुरुषार्थ के बीच जो अन्तर है-'डिफरन्स' है, सर्व प्रथम उसे समझ लेना चाहिए। काम-पुरुषार्थ वह कामवासना नहीं है। कामवासना जगती है मोहनीय कर्म के उदय से। पुरुष-वेदरूप मोहनीय कर्म के उदय से स्त्रीविषयक कामवासना पैदा होती है। स्त्री-वेदरूप मोहनीय कर्म के उदय से पुरुषविषयक कामवासना पैदा होती है। नपुंसक-वेदरूप मोहनीय कर्म के उदय से सजातीय और विजातीय-उभयविषयक कामवासना पैदा होती है। वासना का सम्बन्ध मन से होता है। मोहनीय कर्म का उदय तृप्ति नहीं देता है, अतृप्ति की आग सुलगाता है। वेदोदय से बेचैनी पैदा होती है...प्रीति पैदा नहीं होती है।

इन्द्रियों की तृप्ति और तृप्ति से प्रीति तभी मिलती है जब 'वीर्यान्तराय कर्म' का क्षयोपशम होता है। काम-पुरुषार्थ का संबंध वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से है। वीर्यान्तराय कर्म यानी वीर्योल्लास में अवरोधक कर्म। अवरोधक कर्म दूर होने पर ही वीर्योल्लास होता है। वीर्योल्लास ही काम-पुरुषार्थ का प्रेरक तत्त्व है।

इन्द्रियजन्य प्रीति का नाम 'काम' है। वैषयिक सुखों की प्रीत्यात्मक अनुभूति 'काम' है। फ्रायड जैसे मनोवैज्ञानिकों ने 'काम' का अर्थ मात्र यौनलिप्सा ही किया है। कामुकता के धरातल पर ही उन्होंने 'काम' की चर्चा की है। फ्रायड वगैरह का चिन्तन अपूर्ण है। वे 'काम' की व्यापकता नहीं समझ पाये।

बच्चे को प्रिय भोजन मिलता है और फुदकने लगता है, यह काम है। किशोरों को प्रिय संगीत सुनने मिलता है और उल्लास से भर जाते हैं, यह काम है। युवा स्त्री-पुरुषों को अपना प्रिय पात्र मिल जाता है और भोगसुख में लीन हो जाते हैं, यह काम है। वृद्धों को प्रिय भोजन, अच्छे वस्त्र और प्रिय शब्द मिलते हैं और वे हर्षान्वित होते हैं, यह 'काम' है।

इन्द्रियों की सामान्य-साधारण तृप्ति...प्रीति वह काम नहीं है। वह तृप्ति, वह प्रीति प्रगाढ़ हो, औद्धत्ययुक्त हो...तब उसे 'काम' कहते हैं। इन्द्रियों की ऐसी प्रगाढ़ प्रीति पाने के लिए पुरुषार्थ करना पड़ता है, वह 'कामपुरुषार्थ' कहलाता है।

साधन भी उपेक्षणीय नहीं हैं :

धर्मपुरुषार्थ करने के लिए साधन तो इन्द्रियाँ ही हैं। अशक्त और अतृप्त इन्द्रियाँ गृहस्थ मनुष्य को धर्मपुरुषार्थ में सहायता नहीं देती हैं। अशक्त और अतृप्त मनुष्य धर्मपुरुषार्थ कैसे कर सकता है? कोई धर्मक्रिया करेगा तो भी मरते-मरते करेगा। विक्षिप्त मन से करेगा। अतृप्त इन्द्रियाँ अर्थपुरुषार्थ में भी बाधाएँ डालती हैं। इसलिए गृहस्थ मनुष्य को उचित कामपुरुषार्थ करना उपादेय माना गया है।

पाँच इन्द्रियों को उनके प्रिय विषय देकर तृप्त करना एक बात है, और पाँच इन्द्रियों को तृप्त करने के लिए ही जीना, दूसरी बात है। धर्मपुरुषार्थ को एवं अर्थपुरुषार्थ को क्षति न हो, व्याघात न हो उस प्रकार कामपुरुषार्थ करना चाहिए। जैसे धर्मपुरुषार्थ करते समय अर्थपुरुषार्थ एवं कामपुरुषार्थ की उपेक्षा नहीं करने की है वैसे कामपुरुषार्थ में धर्मपुरुषार्थ एवं अर्थपुरुषार्थ की उपेक्षा नहीं करने की है। जो लोग उपेक्षा करते हैं वे दुःख पाते हैं, त्रास और वेदना पाते हैं।

दुनिया विज्ञापनों की दीवानी है :

एक-एक इन्द्रिय के विषय में लुब्ध-आसक्त जीव, अपने प्राणों को गँवा देते हैं - यह आप नहीं जानते क्या? तो फिर पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्त जीव की कैसी दुर्दशा हो सकती है - उस बात का अनुमान करें। आफत तो यह है कि संसार के बाजार में एक से एक आकर्षक विषय-वस्तुएँ सजी सजाई रखी जाती हैं। लोग-अज्ञानी लोग जहाँ से भी निकलते हैं उधर की चमकीली वस्तुओं को देखकर ललचाते हैं और पाने के लिए मचलने लगते

प्रवचन-८०**७८**

हैं। उन्हें इस बात का भी ज्ञान नहीं होता कि वे वस्तुएँ उनके उपयोग की हैं या नहीं।

वैषयिक सुखों की स्पृहा तो जीवात्मा में अनादिकाल से पड़ी है ही। जब उन स्पृहाओं को उत्तेजित करनेवाले विषय दिखते हैं दुनिया में, तब उस मनुष्य की विषयेच्छा प्रबल हो जाती है। और, दुनिया में क्या नहीं है? यहाँ तो हर प्रयोजन की हर वस्तु मौजूद होती है। पर उसका मतलब यह तो नहीं है कि वे सब अपने लिए ही हैं। जैसे,

○ रेडियो का नया 'मॉडेल' देखा...मनुष्य ललचाता है, लेने की इच्छा करता है...।

○ टी.वी. सेट देखा, रंगीन टी.वी. देखा, विडियो देखा...मनुष्य ललचाता है और लेने को तत्पर होता है।

○ नयी 'कार' देखी, इम्पोर्टेड 'कार' देखी... मनुष्य ललचाता है और लेने को तत्पर होता है।

○ नये 'फैशन' के कपड़े देखे...पसन्द आ गये, लेने को तैयार होता है... नये कपड़े सिलवाने की इच्छा होती है।

○ नयी 'डिजाइन' का 'फर्निचर' देखा, पसन्द आ गया, लेने की इच्छा हो जाती है...।

○ कोई नया 'सेंट-एसेन्स' देखा... पसन्द आ गया, खरीदने की इच्छा हो जाती है...।

○ कोई सुन्दर मकान देखा, पसन्द आ गया, लेने को जी मचलने लगता है।

○ कोई सुन्दर स्त्री देखी, पसन्द आ गयी...पाने की इच्छा हो जाती है।

○ किसी 'पिक्चर' की काफी प्रशंसा सुनी या पढ़ी, देखने की प्रबल इच्छा पैदा हो जाती है।

○ किसी होटल के भोजन की बहुत प्रशंसा सुनी...वहाँ जाकर भोजन करने की इच्छा तीव्र हो जाती है।

○ किसी विशेष भोजन का स्वाद किया, पुनः-पुनः वैसा भोजन करने की प्रबल इच्छा बनी रहती है।

विज्ञापनों का नशा छाया है :

इन विषयेच्छाओं को भड़काते हैं, छोटे-बड़े अखबारों में प्रकाशित विज्ञापन। लोग सच्चे-झूठे विज्ञापनों को पढ़ते रहते हैं। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से सम्बन्धित असंख्य विज्ञापन आजकल अखबारों में छपते रहते हैं। मनुष्य के मन पर विज्ञापनों का प्रबल असर होता है, यदि वह मनुष्य विवेकहीन व्यक्तित्व वाला होगा तो। ज्यादातर लोगों में विवेक है ही कहाँ? अनुकरण की वृत्ति भी, ऐसे लोगों में ही विशेष रूप से पायी जाती है। वैषयिक सुख-सुविधाओं का विवेकहीन अनुकरण हो रहा है। मनुष्य में वैभवशाली प्रदर्शन की तीव्र स्पर्धा-वृत्ति प्रबल हो उठी है। साधनसंपन्न मनुष्य भी दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक कष्टपूर्ण, अशान्तिपूर्ण परिस्थिति में फँसता जा रहा है। दुर्बलता, रुग्णता, उद्विग्नता, स्वजनों की कृतघ्नता, मित्रों की शत्रुता, वगैरह से श्रीमन्त मनुष्य भी कितना त्रस्त है? सुख-सुविधाएँ होने पर भी मनुष्य कितना परेशान है? त्रास और परेशानियाँ होंगी ही। कामासक्त मनुष्य, विषयासक्त मनुष्य स्वस्थ, नीरोगी और प्रसन्न नहीं रह सकता है। शारीरिक दृष्टि से निर्बल होगा, आर्थिक दृष्टि से निर्धन होता जायेगा, पारिवारिक दृष्टि से अविश्वसनीय बनेगा, सामाजिक दृष्टि से अकेला पड़ जायेगा।

आप लोग, अपने हृदय पर पड़े हुए पर्दे को खोलकर कभी भीतर में देखते हो क्या? इन्द्रियों के विषयसुखों की चमक दमक के पीछे कितनी पीड़ा, कितनी खोज और कितनी निराशा भरी पड़ी है? मनुष्य किस कदर खोखला बन गया है? क्या इस आपाधापी में मानवीय गरिमा और सभ्यता का अन्त आ जायेगा? लोग ऐसे माहौल में जी रहे हैं कि जिसमें आतंक, अनाचार और प्रपंच-पाखंड के अतिरिक्त और कुछ बच ही नहीं रहा है। सर्वत्र विषाक्त वातावरण छाया हुआ है।

सुखोपभोग भी सोच-समझकर!

इहलौकिक-पारलौकिक प्रयोजनों को सिद्ध करनेवाले धर्मपुरुषार्थ को एवं इहलौकिक प्रयोजनों को सिद्ध करनेवाले अर्थपुरुषार्थ को भूलकर, जो मनुष्य मात्र वैषयिक सुखों में डूब जाता है, वह मनुष्य अपना विनाश तो करता ही है, साथ-साथ परिवार की भी अधोगति करता है।

कामपुरुषार्थ में आर्थिक दृष्टि से एवं धार्मिक दृष्टि से मनुष्य को जाग्रत रहना चाहिए। रुपयों के बिना वैषयिक सुख प्राप्त नहीं होते हैं। वैषयिक सुख-

साधन प्राप्त करने के लिए इतना ही आर्थिक व्यय करना चाहिए कि जिससे दरिद्रता घर न ले-यह सोचना चाहिए-धार्मिक दृष्टि से यह सोचना चाहिए कि कौन-से वैषयिक सुख भोगने चाहिए और कौन-से वैषयिक सुख नहीं भोगने चाहिए। - वैसे गीत सुनने चाहिए, वैसी बातें सुननी चाहिए कि जिससे आपके मन में निर्मल, पवित्र भाव जगें। वैसे गीत और वैसी बातें नहीं सुननी चाहिए कि जिससे मन में दुष्ट भाव जगें। मन की पवित्रता नष्ट हो जाय।

वैसे चित्र, वैसे दृश्य, वैसे प्रसंग देखने चाहिए कि जिससे श्रद्धा दृढ़ बने, ज्ञान की वृद्धि हो और चरित्र उज्ज्वल हो। वैसे चित्र वगैरह नहीं देखने चाहिए कि जिससे श्रद्धा निर्बल हो, ज्ञान का नाश हो और चरित्रहीनता प्राप्त हो।

सभा में से : सुनने का और देखने का हमारे बस में तो है नहीं! रेड़ियो स्टेशन से जो प्रसारित होता है वह सब सुनते हैं और टी.वी. में भी जो कार्यक्रम प्रसारित होते हैं, वे ही हम लोग देख सकते हैं। रेड़ियो और टी.वी. तो आज घर-घर में आ गये हैं।

रेड़ियो और टी.वी. प्रदूषण हैं :

महाराजश्री : पहली बात तो यह है कि आपके घरों में रेड़ियो और टी.वी. होने ही नहीं चाहिए। ज्यादातर रेड़ियो स्टेशन अच्छे संस्कारी कार्यक्रम बहुत कम प्रसारित करते हैं। घर में छोटे-बड़े सभी होते हैं न? ऐसे गंदे गीत बजते रहते हैं कि बच्चों पर बुरे प्रभाव पड़ते ही हैं। बच्चे भी गंदे गीत गाते रहते हैं। टी.वी. पर भी अच्छे सुरुचिकर कार्यक्रम कितने प्रतिशत आते हैं? कार्यक्रम प्रसारित करनेवाले लोकरुचि का विचार करते हैं...लोकरुचि को परिशुद्ध करने का नहीं सोचते हैं। ज्यादातर लोगों की रुचि 'सुरुचि' नहीं होती है, निम्नस्तर की...वासनाप्रधान अश्लील रुचि होती है। यौनवृत्ति को उत्तेजित करनेवाले द्रश्य, टी.वी. पर ज्यादा दिखाई देते हैं न? हम लोग तो नहीं देखते हैं परन्तु आप लोगों से ही सुनी हुई बात है।

सभा में से : सच बात है, टी.वी. पर पिकचर भी वैसे ही ज्यादा बताये जाते हैं... स्त्री-पुरुष के यौन-संबंधों को विकृत रूप में प्रदर्शित किया जाता है।

महाराजश्री : इसलिए हम लोग कहते रहते हैं कि जिस परिवार को अपने सुसंस्कारों को सुरक्षित रखना है, संवर्द्धित करना है, उस परिवार को अपने घर में टी.वी. नहीं रखना चाहिए। दूसरों के घर जाकर भी नहीं देखना चाहिए। परन्तु यह उपदेश ९९ प्रतिशत लोगों के दिमाग में नहीं जँच रहा है।

धार्मिक क्रियाकांड करनेवाले परिवारों में भी रेडियो और टी.वी. प्रविष्ट हो गये हैं। लोग अच्छा-बुरा सब सुनते हैं, अच्छा-बुरा सब कुछ देखते हैं। विवेक ही नहीं रहा है। कान को प्रिय लगे वह सुनना और आँखों को प्रिय लगे वह देखना-यह बात व्यापक बन गई है। धर्म की आज्ञाओं की अवहेलना हो रही है। मनुष्य का व्यक्तित्व गिरता जा रहा है। मनुष्य जैसा सुनता है और जैसा देखता है वैसा उसका व्यक्तित्व बनता है।

क्या रखा है फिल्मों में! :

९९ प्रतिशत चलचित्र भी कैसे बनते हैं? स्वदेशी और विदेशी चलचित्रों का निर्माण किस दृष्टि से होता है? है क्या मानवता की दृष्टि? है क्या आध्यात्मिकता की दृष्टि? है कोई महान् व्यक्ति के निर्माण की दृष्टि? हाँ, एक मात्र अर्थोपार्जन की दृष्टि है। मानव जीवन के उच्च मूल्यों का चलचित्रों में स्थान ही कहाँ है? दया, करुणा, त्याग, बलिदान, औदार्य, धैर्य...वगैरह आदर्शों का चलचित्रों में स्थान ही कहाँ है? अविनय, औद्धत्य, झूठ, चोरी, दुराचार की ही बोलबाला हो रही है। अर्थपुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ के प्रति उत्तेजना पैदा करने का ही काम हो रहा है।

संयम से काम लें!

कहने का तात्पर्य यह है कि श्रवणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय को संतुष्ट करना है तो करें, परन्तु प्रशस्त विषयों से करें। तो काम-पुरुषार्थ भी धर्मपुरुषार्थ में प्रेरक तत्त्व बन जायेगा।

वही भोजन करें कि जो भक्ष्य हो, प्रकृति के विपरीत नहीं और शास्त्रनिषिद्ध न हो। अभक्ष्य भोजन नहीं करना चाहिए। प्रकृतिविरुद्ध और शास्त्रनिषिद्ध भोजन नहीं करना चाहिए। वैसे, उसी ही पेय का पान करें कि जो पेय प्रकृतिविरुद्ध न हो और शास्त्रनिषिद्ध न हो। खाने-पीने का निषेध, धर्म नहीं करता है, परन्तु विवेकपूर्वक खाने-पीने का उपदेश देता है। रसनेन्द्रिय की संतुष्टि करना है तो करें, परन्तु विवेक से करें। दोनों प्रकार का विवेक चाहिए : धार्मिक और आर्थिक।

बाहर का खाना छोड़ो! :

आपकी आर्थिक स्थिति का ख्याल आपको होना चाहिए। उसी के अनुरूप खाने-पीने का प्रबन्ध करना चाहिए। बड़े शहरों में कुछ वर्षों से होटलों में

जाकर भोजन करने का फैशन चल पड़ा है... छुट्टी के दिन। घर में बने भोजन से होटल का भोजन ज्यादा 'स्वीट' लगता है न? परन्तु खर्च कितना आता है? चार व्यक्ति का परिवार होटलों में जाकर एक बार भोजन लेता है तो सौ रुपये पूरे हो जाते हैं। बड़ी 'फाइव स्टार' होटलों में जायें तो चाय-पानी में ही सौ रुपये खर्च हो जायें न?

बंबई-अहमदाबाद जैसे बड़े शहरों में और कुछ छोटे शहरों में भी, बाजार में खड़े खड़े पाव-भाजी खाने का फैशन चल पड़ा है, वह भी रात्रि के समय। आर्थिक दृष्टि से सोचा जाय तो यह सारा खर्च फालतू होता है। धार्मिक दृष्टि से तो उचित है ही नहीं। रात्रिभोजन का दोष लगता ही है। जमीनकन्द-भक्षण का दोष भी लगता है।

कई परिवारों में ऐसा देखा जाता है कि घर में खाने-पीने का जितना खर्च होता है, इससे ज्यादा खर्च घर से बाहर खाने-पीने में लगता है। घर से बाहर खाने-पीने में अभक्ष्य भोजन बढ़ा। रोग भी बढ़े। लोगों का शरीर-स्वास्थ्य कितना बिगड़ने लगा है? इससे दवाइयों का खर्च बढ़ गया है।

स्पर्श भी खतरनाक हो सकता है :

○ स्पर्शेन्द्रिय की तृप्ति होती है प्रिय और अनुकूल स्पर्शसुख से। पुरुष को स्त्री के स्पर्श से और स्त्री को पुरुष के स्पर्श से सुख का अनुभव होता है। गृहस्थ जीवन में यह सर्वथा वर्ज्य नहीं माना गया है। साधुजीवन में यह सुख सर्वथा वर्ज्य माना गया है।

○ माता-पिता करुणा से, वात्सल्य से अपनी संतानों को स्पर्श करते हैं, यह स्पर्श निषिद्ध नहीं है। वैसे, निर्विकार भाव से स्त्री स्त्री को स्पर्श करे, पुरुष पुरुष को स्पर्श करे, वह भी निषिद्ध नहीं है। विजातीय का स्पर्श भी, निर्विकार भाव से किया जाय तो वर्ज्य नहीं है। विजातीय स्पर्श विकारों को-मनोविकारों को पैदा होने में निमित्त बनता है, इसलिए विशेष प्रयोजन के बिना विजातीय को स्पर्श नहीं करना चाहिए।

○ विजातीय-स्पर्श 'यौन-संबंध' की दृष्टि से सर्वथा वर्ज्य नहीं माना गया है। पुरुष का अपनी पत्नी के साथ यौन-संबंध वर्ज्य नहीं है, परन्तु स्व-पत्नी के अलावा दूसरी सभी स्त्रियों के साथ का यौन-संबंध वर्ज्य है, निषिद्ध है। यौन-संबंध की सार्थकता मात्र सुप्रजनन की दृष्टि से ही है। परन्तु इसमें तीव्र कामुकता नहीं होनी चाहिए। कामुकता, स्त्री और पुरुष दोनों के लिए

नुकसान करनेवाली है। 'कामपुरुषार्थ' में कामुकता का समावेश नहीं हो सकता है। जिसके जीवन में धर्मपुरुषार्थ होगा वह व्यक्ति यौन-संबंध में संयम रखेगा। कामपुरुषार्थ में संयम और सदाचार को महत्त्व देना चाहिए। जो लोग कामुक होते हैं, वे लोग अति विषयासक्त होते हैं...उनमें नहीं होता है संयम, नहीं होता है सदाचार-पालन। ऐसे लोग धर्मपुरुषार्थ और अर्थपुरुषार्थ की उपेक्षा ही करते होते हैं।

इन दिनों कामुकता निःसंदेह बढ़ रही है। उसे बीभत्स साहित्य और फिल्मों ने विशेष रूप से उत्तेजित किया है। वैसे क्लब और सोसायटियाँ भी आग में घी का काम करती हैं। कामुकता के विचारों में निरंतर निरत रहनेवाले लोग, शारीरिक दृष्टि से रतिकर्म के लिए उपयुक्त क्षमता नहीं बनाये रखते हैं। ऐसे अति कामुक मनुष्य नपुंसकता की ओर बढ़ रहे हैं।

अति कामुकता के परिणाम :

प्रजनन विशेषज्ञ डॉ. जौन मैक्लाइड की गणना के अनुसार, स्वस्थ मनुष्य के एक मिलीमीटर वीर्य में १ करोड़ ७० लाख शुक्राणु होने चाहिए। पर इन दिनों औसत घटकर ६०/७० लाख से अधिक नहीं पाये जाते हैं। किसी-किसी क्षेत्र में तो उनकी संख्या और भी कम होकर ४० लाख से भी कम रह गई है। इसका प्रभाव न केवल प्रजनन पर पड़ता है, वरन् शारीरिक अक्षमता के रूप में भी देखा जाता है।

शुक्राणुओं की कमी के कारण, सन्तानें दुर्बल, निस्तेज और आलसी होती जाती हैं। जवानी में बुढ़ापा घिर आने का क्या कारण है? यही... अति कामुकता। अति कामुक मनुष्य का पौरुष घटता जाता है। इससे मनुष्य की कर्मशीलता, स्फूर्ति, तत्परता, दक्षता घटती जाती है। पौरुषहीन मनुष्य, बूढ़ों की तरह, अपनी घटी हुई क्षमता के कारण, इच्छा होने पर भी, बड़ा पराक्रम किसी भी क्षेत्र में नहीं कर पाता।

अति कामुक स्त्री-पुरुषों की सन्तानें प्रखर व्यक्तित्ववाली एवं संयमी-सदाचारी प्रायः नहीं होती हैं। यदि आपको अपनी सन्तानें सुशील चाहिए, सदाचारी, बुद्धिमान्, तेजस्वी और पराक्रमी चाहिए तो आप कामुकता से बचो। अश्लील चिन्तन करना बन्द करो। उच्चस्तरीय सज्जनों का सान्निध्य प्राप्त करें। तीर्थसेवन करें और शास्त्रस्वाध्याय को जीवन में स्थान दें। वातावरण का असर मनुष्य पर पड़ता ही है।

अति कामुक पुरुष परस्त्रीगामी बनता है, वेश्यागामी बनता है और अनेक बुरे व्यसनों में फँसता है। धर्मविमुखता तो आ ही जाती है, अर्थहानि भी काफी होती है। पारिवारिक जीवन क्लेशमय बन जाता है। पति-पत्नी के बीच संघर्ष, मनमुटाव और मारामारी भी होने लगती है। आज ऐसी दुःखद परिस्थिति व्यापक बनी है। कामुकता ने स्त्री और पुरुष को पशु से भी निम्नस्तर का बना दिया है।

कामुकता का बहुत ज्यादा बुरा प्रभाव मनुष्य के मन पर पड़ता है। तन तो अशक्त, सामर्थ्यहीन बनता ही है, मन भी चंचल, अस्थिर और दोषयुक्त बन जाता है। ऐसे मनुष्य में न तो धर्मपुरुषार्थ करने का उत्साह रहता है, न अर्थपुरुषार्थ करने का उल्लास रहता है।

सच्ची घटना :

उत्तर गुजरात के एक शहर में कुछ वर्ष पूर्व ही मैंने एक घटना सुनी थी। एक पिता ने अपने इकलौते बेटे को पाँच लाख रुपये की संपत्ति दी और पिता का देहावसान हो गया। माता का स्वर्गवास पहले ही हो गया था। लड़का युवक था, शादी भी हो गई थी। पिता के स्वर्गवासी होने के बाद लड़का पाँचों इन्द्रियों के विषयसुख भोगने में हजारों रुपये खर्च करने लगा। कमाने की चिन्ता नहीं थी। पिता ने पाँच लाख रुपये दिये थे न?

वह घूमने के लिए, मौजमजा करने के लिए बार-बार बंबई जाने लगा। वैभवशाली होटल में ठहरने लगा। वेश्यागामी बना। शराबी बना। पानी की तरह पैसे बहाने लगा। उसकी जन्मभूमि में उसकी जो फैक्टरी चलती थी, वह बन्द हो गई। नुकसान भी बहुत हुआ। लेकिन उस युवक ने ध्यान नहीं दिया। उसकी पत्नी दुःखी-दुःखी हो गई। चूँकि जब 'कैश' रुपये पूरे हो गये, युवक ने अपनी पत्नी के गहने छीन लिये...। अलंकारों को बेचकर वह अपनी कामुकता को संतुष्ट करने लगा। फैक्टरी भी बिक गई।

रहने के घर के अलावा उसकी समग्र स्थावर-जंगम संपत्ति नष्ट हो गई। दरिद्रता ने उसको घेर लिया। उसका शरीर भी दुर्बल हो गया। मानसिक स्थिति बड़ी दयनीय हो गई। धर्म तो उसके जीवन में था ही नहीं। स्नेही-स्वजन उसके सामने भी देखना नहीं चाहते थे।

कोई पुण्य का...थोड़ा-सा 'बेलेन्स' होगा उसके भाग्य में...। उसके पिता के एक मित्र, जो दूर देश में रहते थे, वे उस शहर में आये, उन्होंने अपने मित्र

प्रवचन-८०**८५**

के पुत्र की दयनीय स्थिति देखी...। मित्रपुत्र की पत्नी से सारी बात जान ली और उन्होंने उस युवक को बहुत समझाया। सही रास्ते पर चलने की प्रेरणा दी, आर्थिक सहारा दिया। धर्म का रास्ता बताया...और वह परिवार दुर्गति में गिरते-गिरते बच गया।

सोचना कि यदि उस युवक को उस महानुभाव का सहारा नहीं मिलता तो क्या होता? सहारा देनेवाला मिल जाता, परन्तु वह यदि कुछ समझने को ही तैयार नहीं होता तो? ऐसे लोग भी दुनिया में देखे जाते हैं कि बरबाद हो जाने पर भी गलत रास्ते को छोड़ते नहीं हैं और सही रास्ते पर आते नहीं हैं। व्यसनपरवशता उस मनुष्य का सर्वनाश करके ही छूटती है।

इसलिए ग्रन्थकार आचार्यश्री कहते हैं कि तीनों पुरुषार्थ इस प्रकार करें कि जिससे किसी पुरुषार्थ से जीवन को नुकसान न हो। इहलौकिक दृष्टि से और पारलौकिक दृष्टि से आत्मा को नुकसान न हो। दिमाग स्वस्थ होगा तो ही धर्म-अर्थ-काम का सन्तुलन बनाये रख सकोगे।

इस विषय में विशेष विवेचन आगे करूँगा।

आज बस, इतना ही।



- गृहस्थ जीवन जीना और अर्थ-काम की उपेक्षा कर देना यह अनुचित है। अलबत्ता, अर्थ-काम की आसक्ति नहीं होनी चाहिए...पर परिवार के पालन व पोषण के लिए अर्थपुरुषार्थ भी करना तो होगा ही।
- श्रीमन्तों के बाहरी 'योग्य एन्ड शो' को देखकर हीन ग्रन्थि से मर मत जाओ! उनके भीतर में जरा देखो...व्यसन और विकृतियों से वे भी पागल हुए जा रहे हैं!
- अर्थ और काम के जरिये बाहरी तौर पर आप श्रीमन्त रहेंगे...पर भीतरी श्रीमन्ताई तो आपको धर्म से ही मिलेगी!
- किसी भी कीमत पर धर्म का त्याग नहीं करना चाहिए! धर्म बचेगा तो सब कुछ सलामत लौट सकेगा। धर्म नहीं तो कुछ भी नहीं!



परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यदेवश्री हरिभद्रसूरिजी, स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रन्थ में गृहस्थ जीवन के सामान्य धर्मों का प्रतिपादन करते हुए २५वाँ सामान्य धर्म बताते हैं धर्म-अर्थ और काम के सेवन में औचित्यपालन का। धर्म-अर्थ-काम को उन्होंने 'त्रिवर्ग' की संज्ञा दी है। ग्रन्थकार का कहना है कि त्रिवर्ग के सेवन में, एक का सेवन करते हुए दूसरे दो का व्याघात नहीं होना चाहिए। तीनों का परस्पर सामंजस्य बनाये रखना चाहिए।

○ धर्म का पालन इस प्रकार करना चाहिए कि अर्थपुरुषार्थ को और कामपुरुषार्थ को बाधा नहीं पहुँचे।

○ अर्थपुरुषार्थ इस प्रकार करना चाहिए कि धर्मपुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ को बाधा नहीं पहुँचे।

○ कामपुरुषार्थ इस प्रकार करना चाहिए कि धर्मपुरुषार्थ और अर्थपुरुषार्थ को बाधा नहीं पहुँचे।

आज का मनुष्य एकांगी बन रहा है :

गृहस्थ जीवन जीने की शिक्षा इस दृष्टि से मिलनी चाहिए। आज ऐसी

शिक्षा कहाँ मिलती है? और, ऐसी शिक्षा के अभाव में गृहस्थ जीवन विक्षुब्ध और विषमताओं से पूर्ण बन गया है। त्रिवर्ग का परस्पर कोई सामंजस्य ही नहीं दिखता है। कोई अर्थ-धर्म की उपेक्षा कर कामासक्त बन रहा है, कोई धर्म-काम की उपेक्षा कर मात्र अर्थोपार्जन में लगा हुआ है। इससे मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में अशान्ति पैदा होती है।

धर्म की उपेक्षा कर, मात्र अर्थपुरुषार्थ और मात्र कामपुरुषार्थ में लगनेवालों को कैसे नुकसान होते हैं, ये आपको बताये हैं। आज जो बात बताना चाहता हूँ वह यह कि अर्थ और काम की उपेक्षा कर मात्र धर्म करनेवाले गृहस्थ को कैसे-कैसे नुकसान होते हैं।

अर्थ और काम की उपेक्षा से नुकसान :

अर्थ और काम की उपेक्षा करनेवालों के लिए गृहस्थ जीवन है ही नहीं, उनको तो संसार का त्याग करने का है, साधु बन जाने का है! गृहस्थ जीवन जीना और अर्थ-काम की उपेक्षा करना...यह सर्वथा अनुचित बात है। हाँ, अर्थ-काम की आसक्ति नहीं होनी चाहिए, परन्तु परिवारपालन के लिए अर्थोपार्जन तो करना पड़ेगा ही।

मान लें कि आपका परिवार नहीं है, आप अकेले हैं, फिर भी आपकी स्वयं की आजीविका के लिए आपको अर्थोपार्जन करना होगा। यानी आपको याचक बनकर नहीं जीना है। आप में अर्थोपार्जन करने की शक्ति है फिर भी आप आलस्य करते हो अथवा दिन-रात धर्मक्रियाएँ करते हो...परन्तु अर्थोपार्जन नहीं करते हो, किसी के आश्रित बनकर जीते हो, वह उचित नहीं है। हाँ, आपके पास पर्याप्त संपत्ति है और आप अर्थोपार्जन नहीं करते हो, तो चल सकता है।

हालाँकि वर्तमान काल में अर्थ-काम की उपेक्षा कर मात्र धर्मपुरुषार्थ करने वाले लाख में दो-चार मिलेंगे! सही बात है न? आज तो सर्वत्र यह देखने को मिलता है कि धर्म की उपेक्षा कर लोग अर्थ-काम में निमग्न हैं। फिर भी, कोई मनुष्य ऐसा नहीं सोचे कि 'अर्थ-काम की उपेक्षा कर धर्मपुरुषार्थ में सारा जीवन बिता दूँ!' इसलिए टीकाकार आचार्यश्री तीन पुरुषार्थ का सामंजस्य बताते हैं। अर्थपुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ की उपेक्षा ही करना है तो साधु जीवन स्वीकार कर लेना ही श्रेयस्कर बताया है।

सभा में से : समाज में कुछ लोग ऐसे हैं कि जिनको अर्थपुरुषार्थ करना है, परन्तु व्यवसाय ही नहीं मिलता है...नौकरी भी नहीं मिलती है, तो क्या करें?

महाराजश्री : बात यह नहीं है। धर्मपुरुषार्थ ही करना है और अर्थ-काम की उपेक्षा करते हैं-ऐसे लोगों के लिए मैं बात कर रहा हूँ। व्यवसाय मिलने पर भी, नौकरी मिलने पर भी नहीं करना है...मात्र धर्मक्रिया ही करना है-ऐसे गृहस्थों के लिए अपनी बात चल रही है। नौकरी या व्यवसाय मिलता ही नहीं हो और वह कभी याचना करता है...तो क्षम्य होता है। किसी का दान ग्रहण करता है तो वह अनुचित नहीं है। हालाँकि सत्त्वशील स्त्री-पुरुष तो ऐसी विकट परिस्थिति में भी किसी का लेना पसंद नहीं करते।

धर्मपुरुषार्थ भी सहमति से हो :

परिवार-पालन के लिए अर्थोपार्जन करना आवश्यक होता है वैसे कामपुरुषार्थ भी आवश्यक बताया है। यदि जीवनपर्यंत ब्रह्मचर्य का पालन करना है तो शादी नहीं करनी चाहिए। शादी कर ली है तो एक-दूसरे की कामेच्छा संतुष्ट होनी चाहिए। मान लो कि पुरुष की इच्छा ब्रह्मचर्य का पालन करने की हुई, तो पत्नी भी खुशी से ब्रह्मचर्य का पालन करने को तैयार हो जाय, तो दोनों ब्रह्मचर्य का आनन्द से पालन कर सकते हैं। वैसे, पत्नी की इच्छा ब्रह्मचर्य का पालन करने की हुई तो उसको पति की अनुमति लेनी चाहिए। पति भी ब्रह्मचर्य का पालन करने को तैयार हो जाय, तो दोनों ब्रह्मचर्य का पालन प्रसन्न चित्त से कर पायेंगे।

यदि, पति ने पत्नी की अनुमति नहीं ली अथवा पत्नी ने पति की अनुमति नहीं ली तो घर में अनाचार का प्रवेश हो सकता है। यदि पति पत्नी की कामेच्छा को पूर्ण नहीं करता है और पत्नी कामेच्छा पर संयम नहीं रख सकती है...तो उसका मन दूसरे पुरुष की ओर जायेगा ही और अवसर मिलने पर वह व्यभिचार का सेवन कर लेगी। उसके जीवन में दुराचार का प्रवेश हो ही जायेगा। इसी तरह यदि पति की अनुमति के बिना पत्नी ब्रह्मचर्य का पालन करेगी, पति की कामेच्छा को पूर्ण नहीं करेगी...तो पति दूसरी स्त्री के पास जायेगा...विषयसेवन करेगा। पुरुष के जीवन में दुराचार का प्रवेश हो जायेगा। इस दृष्टि से ग्रन्थकार ने कहा कि कामपुरुषार्थ की उपेक्षा कर धर्मपुरुषार्थ नहीं करना चाहिए। अन्यथा स्वजन के दुराचार-सेवन में निमित्त बनने का पाप आपको लगेगा।

सभा में से : हमारी भावना ब्रह्मचर्यपालन की हो जाय और पत्नी की इच्छा न हो, तो क्या हमें ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करना चाहिए?

महाराजश्री : तो फिर आप लोग क्या सुन रहे हो? शादी के बाद आपको केवल अपना ही विचार नहीं करना है, पत्नी का विचार करना आवश्यक होता है। आप ब्रह्मचर्य-धर्म का पालन करोगे और पत्नी दुराचार का सेवन करेगी...तो गृहस्थ जीवन कैसा बन जायेगा? जैसे ब्रह्मचर्यपालन धर्म है वैसे स्वस्त्री से संतोष और परस्त्री का त्याग - वह भी धर्म है न? आप यदि ब्रह्मचर्य का पालन करोगे और पत्नी को स्वपुरुष में संतोष नहीं मिलेगा तो परपुरुष का त्याग करना उसके लिए सरल होगा क्या? कुछ गंभीरता से सोचो। दीर्घदृष्टि से सोचो।

हाँ, यदि मैथुन से आप सर्वथा निवृत्त होना चाहते हो तो पत्नी को समझा कर, उसके हृदय में भी मैथुन के प्रति वैराग्य पैदा करो, ब्रह्मचर्य के प्रति अनुराग पैदा करो और दोनों ब्रह्मचर्य का पालन करो। कामपुरुषार्थ की सर्वथा उपेक्षा मत करो।

- उचित समय में अर्थपुरुषार्थ करना चाहिए।
- उचित समय में कामपुरुषार्थ करना चाहिए।
- उचित समय में धर्मपुरुषार्थ करना चाहिए।

तीन तरह के आदमी :

यदि गृहस्थ जीवन जीना है तो इस औचित्य का बोध आप लोगों को होना ही चाहिए। इस प्रकार औचित्य बताकर, टीकाकार आचार्यश्री तीन प्रकार के पुरुषों की प्रकृति बताते हैं।

१. तादात्विक पुरुष

२. मूलहर पुरुष

३. कदर्य पुरुष

अर्थपुरुषार्थ की दृष्टि से ये तीन प्रकार बताये गये हैं। ये तीन प्रकार के पुरुष, तीनों प्रकार के पुरुषार्थ में निष्फल जाते हैं।

तादात्विक : जो मनुष्य प्राप्त संपत्ति का सोचे बिना दुर्व्यय करता है, अनुचित व्यय करता है। अर्थ का नाश होने से काम और धर्म का भी नाश होता है।

मूलहर : जो मनुष्य पूर्वजोपार्जित संपत्ति का उपयोग करता रहता है। नया अर्थोपार्जन नहीं करता है उसको 'मूलहर' कहते हैं। ऐसे पुरुष शीघ्र निर्धन होते हैं और काम एवं धर्मपुरुषार्थ से वंचित हो जाते हैं।

कदर्य : जो मनुष्य स्वयं कष्ट सहन करके एवं सेवकों को भी कष्ट देकर धन संचित करता है, इकट्ठा करता है...परन्तु खर्च नहीं करता है, उसको कदर्य कहते हैं। ऐसे मनुष्यों का धन, कभी भी कामपुरुषार्थ में या धर्मपुरुषार्थ में काम नहीं आता है। न वह सुख-भोग कर सकता है, न त्याग कर सकता है। इसका धन या तो सरकार ले जाती है, या तो साझेदार ले जाता है, या फिर डाकू ले जाते हैं।

आज के लोग :

कुछ वर्षों से आप देख रहे हैं कि जो बड़े-बड़े श्रीमन्त हैं, जो विपुल धनराशि का संग्रह करते हैं, उनके वहाँ सरकार के छापे पड़ रहे हैं। पैसे तो वे लोग ले ही जा रहे हैं, सजा भी करते हैं। जंगल के डाकुओं से भी ये डाकू ज्यादा खतरनाक हैं न? फिर भी धनसंग्रह की आप लोगों की लालसा कम नहीं हो रही है न? चूँकि आप गंभीरता से सोचते ही नहीं हो। 'कदर्य' प्रकार के लोगों की संख्या बढ़ती जा रही है। 'तादात्विक' प्रकार के भी बहुत श्रीमन्त दिखाई देते हैं। धन का अपव्यय भी काफी बढ़ रहा है। जिनके पास अनाप-सनाप धन आता है वे लोग धन का अपव्यय भी बहुत करते हैं। मध्यमकोटि के श्रीमन्त भी धन का अपव्यय करने लगे हैं।

○ बिना प्रयोजन मात्र घूमने के लिए, मौज-मजा करने के लिए विदेश-यात्रा करते रहते हैं।

○ परिवार के साथ, मित्रों के साथ होटलों में जाकर भोजन करते हैं...बड़ी-बड़ी होटलों में जानेवाले बड़े श्रीमन्त कहलाते हैं...इसमें ही अपना गौरव अनुभव करते हैं।

○ नये-नये फैशन के मूल्यवान् वस्त्र बनवाते रहते हैं, उसमें हजारों रुपये खर्च कर देते हैं।

○ घर में लाखों रुपयों का फर्निचर बनवाते हैं, यान्त्रिक साधन बसाते हैं।

ये तो मैंने दो-चार उदाहरण दिये हैं। इसके अलावा भी अनेक प्रकार के फालतू खर्च करते रहते हैं। ऐसे लोग तब दुःखी हो जाते हैं जब उनका धन चला जाता है। लक्ष्मी यूँ भी चंचल तो है ही! किसी के पास कायम रहती नहीं है।

सभा में से : जब तक धन पास में हो तब तक तो आनन्द-प्रमोद कर लें न?

मात्र वर्तमान नहीं, भविष्य भी है! :-

महाराजश्री : बुद्धिमान् मनुष्य मात्र वर्तमान का विचार नहीं करता है,

भविष्य का भी विचार करता है। वह तो यह विचार करेगा कि 'पुण्य के उदय से मुझे इतना सारा धन मिला है तो मैं इसका सदुपयोग करूँ। परमात्मभक्ति में धन का व्यय करूँ। साधु-सेवा में संपत्ति का सदुपयोग करूँ। दुःखी जीवों के उद्धार में पैसा खर्च करूँ। सम्यक्ज्ञान के प्रचार-प्रसार में धन का उपयोग करूँ।' उनके आदर्श होते हैं सम्राट संप्रति-और राजा कुमारपाल जैसे महानुभाव। उनके आदर्श होते हैं विमलशाह मन्त्री, वस्तुपाल-तेजपाल और जगद्गुहाह एवं भामाशाह जैसे श्रेष्ठि!

इन महापुरुषों के जीवन-चरित्र बोलते हैं कि उन्होंने तीनों पुरुषार्थ का यथोचित पालन किया था, विपुल संपत्ति का सद्व्यय किया था। हालाँकि वे भी अपने वैभव के अनुरूप जीते थे, फिर भी वे संपत्ति का अपव्यय नहीं करते थे। धन का संग्रह नहीं करते थे और धर्मपुरुषार्थ का त्याग नहीं करते थे।

कौन है आदर्श? :

ऐसे महापुरुषों के आदर्श आप रखते हैं क्या? कौन हैं आपके आदर्श? आप नहीं बोलेंगे, परन्तु मैं जानता हूँ। आप वर्तमान काल के बड़े-बड़े वैभवशाली श्रीमन्तों को देखते हो। उन लोगों का रहन-सहन और जीवन देखते हो। वह भी ऊपर-ऊपर से देखते हो! भीतर में जाकर देखो तो कुछ अच्छी बातें भी जानने को मिल सकती हैं।

भारत का एक उद्योगपति हवाई जहाज में सफर कर रहा था। उसके पास ही एक प्रसिद्ध फिल्म-अभिनेता बैठा था। वह उद्योगपति अपनी फाइलें देखने में व्यस्त था। उसने पास में बैठे अभिनेता के सामने भी नहीं देखा! अभिनेता को आश्चर्य हुआ, कुछ स्वमानहानि जैसा भी लगा होगा! 'मैं इतना प्रसिद्ध अभिनेता पास में बैठा हूँ फिर भी यह व्यक्ति मेरे सामने भी नहीं देखता है...शायद वे मेरा नाम नहीं जानते होंगे?' अभिनेता ने उस उद्योगपति से कहा : मेरा नाम...है।'

उद्योगपति ने उसके सामने देखा और कहा : 'अच्छा...मेरा नाम...है।'

'क्या आपने मेरी फिल्में नहीं देखी हैं?'

'जी नहीं, मुझे समय का अपव्यय करना पसंद नहीं है! मुझे अपने कार्यों से फुरसत ही नहीं मिलती है।'

अभिनेता चुप हो गया। उद्योगपति समय का अपव्यय करता नहीं था और धन का सद्व्यय करता था। कहीं पर भी मंदिर बनता हो...और मंदिर बनानेवाले यदि इस उद्योगपति के पास जाकर सिमेंट मांगते तो वे अपनी

फैक्टरी से मुफ्त सिमेंट देते थे। उन्होंने भी स्वयं अनेक मंदिरों का निर्माण करवाया है।

यह तो अपने देश की बात है। परदेश के एक उद्योगपति का किस्सा भी सुन लो।

अमरीका का प्रसिद्ध उद्योगपति रोकफेलर एक दिन वाशिंगटन की एक होटल में गया। उसने होटल के मैनेजर से कहा : 'सस्ते से सस्ते किराये का एक कमरा चाहिए।'

मैनेजर रोकफेलर को जानता था, उसने कहा : 'सर, आप तो बड़े श्रीमन्त हैं, आपका पुत्र तो यहाँ बड़े ठाठ से रहता है और आप...।'

'ठीक बात कहते हो तुम! उस लड़के का पिता श्रीमन्त है, करोड़पति है, इसलिए उसको ठाठ से रहना जमता होगा; मेरे पिता श्रीमन्त नहीं थे, गरीब थे, इसलिए मुझे ऐसे पैसे का अपव्यय जमता नहीं है।'

मैनेजर चुप हो गया!

रोकफेलर जैसा विश्व का श्रेष्ठ श्रीमन्त पैसे का अपव्यय नहीं चाहता था! आप लोग यदि इन बातों को समझें और कुछ सीखें तो जीवन अच्छा बन सकता है।

यह बात तो हुई अर्थपुरुषार्थ के विषय में। धन-संपत्ति का अपव्यय नहीं करते हुए सद्व्यय करनेवाला मनुष्य, कामपुरुषार्थ और धर्मपुरुषार्थ को जीवन में यथोचित स्थान दे सकता है।

आसक्ति व पुरुषार्थ में फर्क है :

कामपुरुषार्थ को लेकर, 'धर्मबिन्दु' के टीकाकार आचार्यश्री कहते हैं कि अति कामासक्ति नहीं होनी चाहिए। अति विषयलोलुपता विनाश करती है मनुष्य का। मनुष्य इतना जितेन्द्रिय तो होना चाहिए कि अपनी पत्नी के अलावा दूसरी किसी भी स्त्री के प्रति विकारी नहीं बने। अपनी पत्नी में भी ज्यादा कामासक्ति नहीं होनी चाहिए।

अति कामुक पुरुष जब वेश्याओं के पास जाने लगता है अथवा परस्त्री का संग करने लगता है तब वह आर्थिक दृष्टि से, शारीरिक दृष्टि से एवं सामाजिक दृष्टि से गिर जाता है। धन का नाश, शरीर का नाश और इज्जत का नाश होता है। धर्म तो उसके जीवन में रहता ही नहीं। उसके मन में वैषयिक सुख के ही विचार चलते रहते हैं...वहाँ धर्म कैसे रह सकता है?

सभा में से : अति कामुक व्यक्तियों को भी हम मंदिर में आते हुए देखते हैं...कुछ धर्मक्रिया करते हुए भी देखते हैं...।

आसक्ति खतरनाक है :

महाराजश्री : उनको कभी पूछ सको तो पूछना कि तुम मंदिर जाते हो, परंतु तुम्हारा मन परमात्मा में लगता है? जब तक तुम मंदिर में होते हो तब तक तुम्हारे मन में वैषयिक विचार नहीं आते हैं न? पूछना। अति कामासक्त व्यक्ति होगा तो मंदिर में भी उसका मन वैषयिक विचार करता रहेगा! मन परमात्मा के ध्यान में वहाँ स्थिर रह सकता है...जो मन कामासक्त नहीं हो।

हर मनुष्य में कामेच्छा होती ही है। मैथुन संज्ञा किसी को कम, किसी को ज्यादा, परन्तु हर मनुष्य को होती है। जो व्यक्ति कामेच्छा को वश में रखता है, कामेच्छा को पूर्ण करना नहीं चाहता है...वह व्यक्ति ब्रह्मचारी रह सकता है। कभी कामेच्छा प्रबल भी हो सकती है...उस समय भी संभोग से वो ही बच सकता है कि जिसका दृढ़ मनोबल हो, जो आत्मभाव में जाग्रत हो, प्रबल कामेच्छा को शान्त करने के उपाय जो जानता हो। तपश्चर्या, शास्त्रस्वाध्याय और परमात्म-प्रणिधान-ये तीन श्रेष्ठ उपाय हैं।

ज्यादातर कामेच्छा वैसे निमित्तों को पाकर प्रबल होती है। आप लोगों को अनुभव होगा कि वैसे सेक्सी गीत सुनने से, सेक्सी चित्र देखने से और सेक्सी किताबें पढ़ने से कामेच्छा प्रबल होती है। अति कामी-विकारी स्त्री-पुरुषों के संपर्क से भी कामेच्छा प्रबल होती है। वैसे तामसी भोजन करने से, शराब पीने से कामेच्छा प्रबल होती है।

प्रबल कामवासना का प्रभाव मनुष्य के शरीर पर तो पड़ता ही है...मन पर भी उसका बुरा प्रभाव पड़ता है। जैसे शरीर अशक्त और रोगी बनता है वैसे मन भी कमजोर बनता है। स्मरणशक्ति कम होती है। गुस्सा बढ़ता है। स्वभाव बिगड़ता है। कोई भी कार्य करने का उत्साह नहीं रहता। सफलता में मन शंकाशील बन जाता है। भय, निराशा और चंचलता से मन भर जाता है।

अति कामासक्ति जैसे पुरुष का नाश करती है, वैसे स्त्री का भी नाश करती है।

सभा में से : आपको क्या कहें? कहते हुए शर्म आती है...आज-कल तो कामासक्ति बढ़ाने के उपाय हम लोग खोजते हैं...भोग-संभोग में हमने सुख माना है...।

महाराजश्री : तो फिर मानव-समाज विनाश की ओर आगे बढ़ रहा है - यह बात मान लो। कुछ अंश में जितेन्द्रिय बने बिना धर्मपुरुषार्थ संभव ही नहीं है।

दिशा ही बदल चुकी है :

मैं जानता हूँ-आज-कल/कुछ वर्षों से अपने समाज में भी खाना-पीना बिगड़ा है। सर्वथा निषिद्ध पदार्थों का सेवन बढ़ता जा रहा है। भोगसुख-वैषयिक सुख ही जीवन का सर्वस्व माना जा रहा है। बिना किसी के बदले, सहजता से समाज-रचना बदलती जा रही है। अर्थ और काम, जीवन के केन्द्र बन गये हैं।

परन्तु, साथ साथ यह भी मानना होगा कि आज मनुष्य जितना संतप्त है, अशान्त है, बेचैन है...शायद ही पहले होगा। असंख्य वर्षों से हमारे देश की संस्कृति के केन्द्र स्थान में धर्म रहा है। अर्थ और काम साधन के रूप में रहे हैं। इसलिए हमारे देश का मनुष्य भीतर से हमेशा श्रीमन्त रहता था। देश के साधु-संत और संन्यासी गाँव-गाँव, नगर-नगर परिभ्रमण कर प्रजा को धर्म-अर्थ और काम का औचित्य बताते हुए मनुष्य को शान्ति, समता और सहनशीलता प्रदान करते थे।

शान्ति का संबंध धर्म से है, समता का संबंध धर्म से है, सहनशीलता का संबंध धर्म से है, उदारता-गंभीरता का संबंध धर्म से है। धर्म यदि जीवन का केन्द्र बनता है तो शान्ति-समता सहजता से आ जाते हैं। सहनशीलता-उदारता-गंभीरता वगैरह गुण स्वाभाविकता से आ जाते हैं।

यदि मनुष्य ज्यादा कामासक्त बनता है...ज्यादा अर्थ-लोलुप बनता है तो वह अशान्त बनेगा ही, सन्तप्त बनेगा ही, चूँकि तीव्र कामासक्ति और तीव्र अर्थलोलुपता, मनुष्य के जीवन में धर्म को रहने ही नहीं देती। धर्म नहीं तो शान्ति नहीं! धर्म नहीं तो समता नहीं!

किसे छोड़ना, किसे बचाना? :

धर्म का महत्त्व समझो और जीवन में धर्म का प्रयत्न से जतन करो। ग्रन्थकार आचार्यश्री कहते हैं :

अन्यतरबाधासंभवे मूलाबाधा ।

○ यदि कामपुरुषार्थ (वैषयिक सुखभोग) को छोड़ना पड़े तो छोड़ देना, परन्तु अर्थपुरुषार्थ एवं धर्मपुरुषार्थ को नहीं छोड़ना।

○ यदि कामपुरुषार्थ और अर्थपुरुषार्थ को छोड़ना पड़े तो छोड़ देना, परन्तु धर्मपुरुषार्थ को नहीं छोड़ना।

कितना अच्छा मार्गदर्शन दिया है करुणावंत आचार्यदेव ने! कामपुरुषार्थ को छोड़कर यदि अर्थपुरुषार्थ और धर्मपुरुषार्थ को बचाये जा सकते हों तो बचा लेना। अर्थ और धर्म होगा तो वैषयिक सुख पुनः भी प्राप्त हो सकेंगे। इसी दृष्टि से तो आप लोग परिवार को राजस्थान में छोड़कर या गुजरात में छोड़कर यहाँ आये थे न? यहाँ आकर रुपये कमाये, घर बसाया...तो परिवार को यहाँ ले आये। धर्म को नहीं छोड़ा तो यहाँ पर भी जिनमंदिर, उपाश्रय वगैरह धर्मस्थानों का निर्माण किया और यथाशक्ति धर्माराधना भी करते हो।

यदि परिवार के मोह में, वतन में ही रहते...वहाँ अर्थोपार्जन का मार्ग नहीं होता, तो क्या होता? दरिद्रता ही होती न? दरिद्रता में कामसुख भी नहीं मिलता और धर्मपुरुषार्थ भी नहीं होता।

इसलिए ग्रन्थकार ने कहा कि भोगसुख छोड़ना पड़े तो छोड़ देना, परन्तु अर्थपुरुषार्थ और धर्मपुरुषार्थ नहीं छोड़ना।

कभी काम और अर्थ दोनों को छोड़ना पड़े तो छोड़ देना, परन्तु धर्म को नहीं छोड़ना। चूँकि काम और अर्थ का मूल धर्म होगा तो पुनः अर्थप्राप्ति होगी, भोगसुखों की प्राप्ति होगी।

धर्मश्चेन्नावसीदेत कपालेनापि जीवतः।

आद्योऽस्मीत्यवगंतव्यं धर्मवित्ता हि साधवः ।।

○ मनुष्य कभी हाथ में नारियल की खोपड़ी लेकर भिक्षा मांगता है, परन्तु यदि उनके हृदय में धर्म है तो दुःखी नहीं होता है। वह तो मानता है, 'मैं धनवान् हूँ। चूँकि सज्जन पुरुष धर्म-धनवाले होते हैं।'

किसी भी हालत में धर्म का त्याग नहीं करने का उपदेश ज्ञानी पुरुषों ने दिया है। तीन पुरुषार्थ को जीवन में कैसे जीना इस विषय का पर्याप्त विवेचन किया गया है। आप लोग वैसा जीवन जीने का प्रयत्न करते रहें, यही मंगल कामना करता हूँ।

आज बस, इतना ही।



- हालाँकि मनुष्य के सभी अनुमान सही नहीं होते! पर हर परिस्थिति में कुछ न कुछ निर्णय तो उसे लेना ही होता है...समग्रतया सोचकर, अंदाजा लगाकर कार्य करने से एक तरह का आत्मसंतोष तो जरूर मिलता ही है!
- पुरुषार्थ का रास्ता हमेशा सफलता तक नहीं पहुँचता! कभी हारना भी पड़ता है...पर हार कर बैठे नहीं रहना है...कोशिश चालू ही रखनी है! कभी न कभी तो सफलता मिलेगी ही!
- आत्मा को भुलाकर, परमात्मा को भुलाकर आज का आदमी दुनियादारी में फँसता ही जा रहा है! रोजाना 'मैं कौन हूँ?' इस प्रश्न को भीतर में उठने देना चाहिए।
- देखना ही है तो गिरे हुआओं को नहीं पर गिरकर भी जो संभल गये और आगे बढ़ते रहे, उन्हें देखो!



परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर, आचार्यदेव श्री हरिभद्रसूरिजी, स्वरचित 'धर्मविन्दु' ग्रन्थ में गृहस्थ जीवन के सामान्य धर्मों का निरूपण करते हुए सत्ताइसवाँ सामान्य धर्म बताते हैं **बलाबल की अपेक्षा**। इसका अर्थ होता है अपनी शक्ति-अशक्ति का विचार कर के कार्य करना।

बुद्धिमान् मनुष्य ही इस सामान्य धर्म का पालन कर सकता है। कोई भी कार्य करने की शक्ति-अशक्ति का विचार करना है न? मूर्ख मनुष्य जैसा विचार नहीं कर सकता है। शक्ति-अशक्ति का विचार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से करने का होता है।

समय को जानिये!

चाहे धर्मपुरुषार्थ करना है, अर्थपुरुषार्थ करना है या कामपुरुषार्थ करना है...द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव का विचार करके करना चाहिए। कार्य की सफलता तभी प्राप्त होती है। द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव का विचार कैसे करना चाहिए-उसका मार्गदर्शन देते हुए टीकाकार आचार्यदेव कहते हैं -

कः कालः कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययागमौ ।

कश्चाहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यः मुहुर्मुहुः ।।

१. मैं कौन हूँ? (द्रव्य का विचार)
२. मेरे मित्र कौन हैं? (द्रव्य का विचार)
३. आय-व्यय कैसा है? (द्रव्य का विचार)
४. देश कैसा है? (क्षेत्र का विचार)
५. समय कैसा है? (काल का विचार)
६. मेरी शक्ति कैसी है? (भाव का विचार)

इन छह बातों को लेकर चिन्तन-मनन करने का है। इस प्रकार चिन्तन करके कार्य करने का है।

सोचो, पर ऐसे! :

अब एक-एक बात समझाता हूँ। पहली बात है - मैं कौन हूँ? यह विचार करना।

‘मैं घर का मुख्य व्यक्ति हूँ। मुझ पर घर की जिम्मेदारी है। मेरे माता-पिता हैं, मेरी पत्नी है, मेरे पुत्र हैं, मेरे भाई-बहन हैं - इन सबकी जिम्मेदारी मुझ पर है। दुःख में सहायक बनें वैसे मेरे कोई मित्र नहीं हैं। मेरी जितनी आय है उतना ही व्यय है। मुझे मेरी आय ‘इन्कम’ बढ़ानी चाहिए। मुझे कोई दूसरा भी व्यवसाय करना चाहिए। भविष्य में कोई विशेष खर्च करने का प्रसंग आ सकता है। ऐसा व्यवसाय ढूँढ़ना चाहिए कि जिसमें कभी नुकसान होने का संभव न हो।

इसमें तीन विचार आ गये। मैं कौन हूँ, मेरे मित्र कौन हैं और मेरी आय और व्यय कैसा है। अब क्षेत्र का विचार करना है-

जिस गाँव में मैं रहता हूँ, वहाँ ऐसा व्यवसाय मुझे मिल सकता है क्या? यदि नहीं मिलता है तो दूसरे नगर में जाकर व्यवसाय कर सकता हूँ क्या? परिवार को यहाँ छोड़कर जाता हूँ तो परिवार की यहाँ सुरक्षा रहेगी क्या?

अब समय का विचार करना है -

‘परिवार को अकेला छोड़कर जाना उचित होगा क्या? समय अच्छा नहीं है। घर में लड़का है, लड़की है...कालेज में पढ़ते हैं...वातावरण अच्छा नहीं है। उनके जीवन में कोई व्यसन प्रविष्ट हो जाय तो बड़ा नुकसान हो सकता

है। अयोग्य लड़कों से दोस्ती हो जाय तो भी नुकसान हो सकता है। इसलिए मुझे यहाँ ही कोई दूसरा व्यवसाय ढूँढ़ना होगा।

अब अपनी शक्ति का विचार करना है -

‘मैं अभी जो व्यवसाय करता हूँ उसमें सात घंटा काम करता हूँ। अब यदि दूसरा व्यवसाय करूँगा तो और दो-तीन घंटे काम करना पड़ेगा। तो क्या मैं कर सकूँगा? मेरा शरीर काम करेगा? मेरा मनोबल टिकेगा? धर्मपुरुषार्थ में बाधा तो नहीं आयेगी न? काम-पुरुषार्थ में भी बाधा नहीं पहुँचेगी न?’

द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव से कैसे विचार करना चाहिए - इसका एक संक्षिप्त रूप बताया। अब एक श्रीमन्त को लेकर दूसरा रूप बताता हूँ।

‘मेरे पास दस लाख रुपये हैं। मैं श्रीमन्त हूँ। मेरे दो अच्छे श्रीमन्त मित्र भी हैं। मेरी आय काफी है, व्यय-खर्च थोड़ा है। मैं दूसरा व्यवसाय भी कर सकता हूँ। साहस कर सकता हूँ। कभी दो-तीन लाख का नुकसान हो जाय तो भी बर्दास्त कर सकता हूँ। व्यवसाय करने के लिए यह नगर उपयुक्त है। यहाँ विश्वासपात्र काम करनेवाले भी मिल सकते हैं। सरकार के अधिकारियों की ओर से भी ज्यादा परेशानियाँ नहीं हैं।’

‘अभी यह व्यवसाय करने का समय भी अच्छा है। मैं जो माल बनाना चाहता हूँ उस माल की ‘मारकिट’ भी अच्छी है। इस समय इस धंधे में अच्छी आय हो सकती है।’

मैं क्या अपने इस धंधे का ख्याल रख सकूँगा? मेरा शरीर और मेरा मन काम कर सकेगा? मेरे धर्मपुरुषार्थ को क्षति तो नहीं पहुँचेगी न? परिवार को मुझ से असंतोष तो नहीं होगा न? मैं पत्नी की भी राय ले लूँ। यदि घर में क्लेश या असंतोष होनेवाला हो तो मुझे दूसरा व्यवसाय नहीं करना है। पैसा किसलिए कमाना है? यदि धर्म और घर का सुख नहीं मिलता है तो पैसे से क्या? सबके मन प्रसन्न नहीं रहते तो पैसे से क्या! जीवन में उचित धर्मपुरुषार्थ नहीं होता है तो पैसे का क्या करना! जीवन जीने के लिए तो मेरे पास पर्याप्त संपत्ति है। दूसरा व्यवसाय नहीं करूँ, तो भी कोई कमी आनेवाली नहीं है।’

अर्थ-पुरुषार्थ को लेकर, द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव से इस प्रकार विचार किया जाना चाहिए।

अनुमान भी जरूरी है :

सभा में से : ये तो एक प्रकार के अनुमान ही हुए न? क्या सभी अनुमान सही निकलते हैं?

महाराजश्री : मनुष्य को जीवन में प्रतिदिन...हर परिस्थिति में निर्णय तो लेना ही पड़ता है न? मनुष्य के सभी अनुमान सही नहीं निकल सकते हैं, यह बात ठीक है, फिर भी अपनी बुद्धि से, समग्रतया विचार करना और कार्य करना, आत्मसंतोष तो देता ही है।

अमरीका में 'थियोडोर रूजवेल्ट' नाम का राष्ट्रप्रमुख हो गया। एक दिन एक पत्रकार रूजवेल्ट से मिलने आया। उसने एक प्रश्न पूछा : 'आप अमरीका के राष्ट्रप्रमुख हैं, प्रतिदिन आपके सामने अनेक समस्याएँ आती होंगी। आपको निर्णय भी लेने पड़ते होंगे। क्या आप बतायेंगे कि आपके निर्णय कितने सच निकलते हैं?'

ऐसे प्रश्न की रूजवेल्ट को कल्पना नहीं थी...दो-तीन मिनट उसने सोचा और कहा : 'मुझे ऐसा लगता है कि २५ प्रतिशत मेरे निर्णय सही निकलते होंगे।'

पत्रकार स्तब्ध हो गया। उसके मुँह से निकल गया : 'बस २५ प्रतिशत ही...?'

रूजवेल्ट ने कहा : 'ज्यादा से ज्यादा तीस प्रतिशत। इससे ज्यादा मेरे अनुमान - मेरे निर्णय सही निकलते हों - ऐसा मैं नहीं मान सकता हूँ।'

पत्रकार मौन हो गया। रूजवेल्ट के मुख पर स्मित आ गया। उसने पत्रकार से पूछा : 'तुम्हें क्या लगता है? तुम कितने प्रतिशत निर्णय सही लेते हो?'

पत्रकार क्या जवाब देता? ज्यादा तो बता नहीं सकता। चूँकि सामने रूजवेल्ट था। रूजवेल्ट ने कहा :

'यदि तुम्हें ऐसा लगता हो कि तुम पचपन प्रतिशत निर्णय सही लेते हो तो मेरी एक राय मान लो। तुम पत्रकारिता छोड़कर आज ही पाल स्ट्रीट (अमरीका का शेयर बाजार) में चले जाओ। शेयर का धंधा करो...तुम थोड़े समय में करोड़पति बन जाओगे! चूँकि पचपन प्रतिशत तुम्हारे निर्णय सही होंगे और ४५ प्रतिशत निर्णय गलत होंगे...बीच में १० प्रतिशत का 'मारजिन' रहेगा! तुम करोड़पति बन जाओगे!'

द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की विशाल दृष्टि से विचार करने पर भी उसकी मर्यादा तो रहेगी ही। हर परिस्थिति के साथ संलग्न इतने सारे प्रवाह होते हैं और प्रवृत्तियाँ चल रही होती हैं कि जिसकी कल्पना भी अपन नहीं कर सकते हैं।

इसलिए कभी अपने माने हुए सही अनुमान भी, अपने प्रभाव से बाहर के संयोगों को गलत सिद्ध कर देते हैं! अपने अनुमान, अपने निर्णय गलत हो जाते हैं।

पुरुषार्थहीनता गलत है :

परन्तु इससे निराश नहीं होना चाहिए। २५ प्रतिशत अनुमान भी सही सिद्ध होते हैं, तो निराश नहीं होना है। जब अपना अनुमान गलत सिद्ध होता है, कार्य की सफलता नहीं मिलती है तब 'मेरा अनुमान गलत क्यों हुआ?' उसके कारणों की खोज करनी चाहिए और दूसरा अनुमान करते समय उन कारणों का विचार कर लेना चाहिए। केवल दुर्भाग्य का विचार कर, निराशा के सागर में डूब नहीं जाना चाहिए।

'हमने तो द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव का विचार करके कार्य करने का विचार किया था। कार्य किया, परन्तु सफल नहीं हुए। अपना तो भाग्य ही प्रतिकूल है... छोड़ो अब यह सब सोचना...' ऐसे विचार करने से मनुष्य पुरुषार्थहीन बन जाता है।

पुरुषार्थ का मार्ग ऐसा होता है कि जिसमें मनुष्य को हर परिस्थिति के लिए तैयार रहना पड़ता है। ऐसा मनुष्य धीर वीर होता है। कभी न कभी उसको सफलता मिलती ही है। निष्फलता में से वह हमेशा नया पाठ सीखता रहता है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का विचार तभी परिपक्व होगा जब मनुष्य की कार्यसिद्धि के लिए लगन हो, सूझ-बूझ हो और तत्परता हो। कल्पनातीत सफलताएँ उपलब्ध हो सकती हैं। संसार की अनेकानेक महती सफलताओं का इतिहास इसी आधार पर लिखा गया है।

यदि मन में उदासी होगी, कार्य के प्रति उपेक्षा-भाव होगा और कार्य करने में ढील रही तो आधे शरीर से और आधे मन से कार्य होगा। कार्य आधे-अधूरे, बेढंगे और निम्नस्तर के बनेंगे। एक बात याद रखें कि सफलताएँ आसमान से नहीं टूटती हैं। सुनियोजित परिश्रम और मन की लगन से ही बन पड़ती हैं। इस तथ्य को अपनाने वाले समय-समय पर अपने-अपने प्रयोजनों में आश्चर्यजनक सफलताएँ प्राप्त करते रहे हैं।

संकल्पबल बनाइये!

मानवी-संकल्प का चुम्बकत्व इतना प्रबल है कि वह किसी को भी घसीट कर खिंचते चले जाने के लिए विवश कर सकता है। इसी दृष्टि से टीकाकार

आचार्यश्री ने कहा कि पहले यह विचार करो कि 'मैं कौन हूँ?' अपने आपको निर्बल मत मानो। अपनी शक्ति का मूल्य बराबर समझो। आप असीम क्षमताओं के भंडार हो। आप असंभव को भी संभव बनाने की क्षमता रखते हो। आपकी विकसित प्रतिभा ही अपने विकसित रूप में देव-दानव की भूमिका संपन्न करती है। यह बात मत भूलो कि सफलताएँ संकल्पभरे प्रयासों के चरण चूमती हैं। अनगढ़ मनुष्य ही पिछड़ा, पतित, दरिद्र और विपन्न दिखता है।

संकल्प और प्रयत्न का भावभरा समन्वय, कितने स्वप्नकाल में, कितनी उपलब्धियाँ प्रस्तुत कर सकता है, इस तथ्य की एक हलकी-सी झाँकी सौ वर्षों की वैज्ञानिक सफलताओं को देखते हुए हर किसी को हो सकती है। यदि इसी प्रकार का प्रयास धर्म, अर्थ और कामपुरुषार्थ में किया जाय, मानसिक और आध्यात्मिक विपन्नताओं को निरस्त करने के लिए किया जाय, कर्मबंधनों को तोड़ने में किया जाय तो कोई कारण नहीं कि आत्म-कल्याण का लक्ष्य संपन्न न हो सके।

मानवजीवन का श्रेष्ठ लक्ष्य तो आत्म-कल्याण ही है। आत्म-कल्याण कहो या आत्मविशुद्धि कहो-धर्मपुरुषार्थ से ही संभव है। परन्तु 'आत्मा' किसको याद आती है? धरती से अन्तरिक्ष में छलांग लगाकर उन्मुक्त आकाश में स्वच्छंद विचरण करनेवाला मनुष्य अपनी ही आत्मसत्ता को भूल गया है। अपने स्वरूप और सामर्थ्य का यथार्थ ज्ञान नहीं होने से संसार में भटक रहा है।

शरीरविज्ञान, भौतिकविज्ञान, जीवविज्ञान, मनोविज्ञान...जैसी विविध ज्ञानधाराओं का जो ज्ञान मनुष्य को प्राप्त हुआ है वह तो अति अल्प है। उससे आत्मसत्ता की सर्वांगसंपूर्ण व्याख्या नहीं की जा सकती है। शरीर, मन और बुद्धि से ऊपर जो सत्ता है, वह आत्मा है। परन्तु बड़ी दुःख की बात है कि भौतिक जगत के प्रति सजग होते हुए भी मनुष्य आज आत्म-विस्मृति के भयंकर युग से गुजर रहा है।

आत्मा को मत भूलें :

आत्म-विस्मृति का यह परिणाम है कि मनुष्य घोर हिंसा की ओर अग्रसर होता जा रहा है। दूसरों को गिराने एवं मारने में ही मनुष्य अपनी दुर्बुद्धि का परिचय दे रहा है। साधन-सुविधाओं का अंबार होते हुए भी मनुष्य की आन्तरिक दरिद्रता, दुःख, अशान्ति एवं असंतोष की मात्रा दिनोंदिन बढ़ती जा रही है।

‘मैं कौन हूँ?’ यह प्रश्न आत्मस्मृति करानेवाला है। ‘मैं शुद्ध आत्मसत्ता हूँ। मेरे में अगाध शक्ति भरी पड़ी है।’ इस विचार से कार्य करने की तत्परता बढ़ती है। बुद्धि की निर्मलता और सूक्ष्मता ही बढ़ती है। आत्मविश्वास बढ़ता है।

‘मेरे मित्र कौन हैं?’ यह विचार करना बहुत आवश्यक बताया है कार्यसिद्धि के लिए। आपके प्रति हार्दिक स्नेह और श्रद्धा रखनेवाले मित्र चाहिए। मित्र की सही पहचान होनी चाहिए। मित्रता का दिखावा करनेवाले लोग, अपनी स्वार्थसिद्धि तक ही मित्र होते हैं। स्वार्थसिद्धि हो जाने पर वे शत्रु बन जाते हैं। इसलिए कहता हूँ कि मित्र की सही पहचान करना और ऐसे सच्चे मित्रों पर ही विश्वास करना। जो अपने मित्र के लिए कुछ त्याग कर सकता है, कुछ दुःख भी सहन कर सकता है...वह होती है मित्रता।

लालाजी की बात! :

भारत की आजादी के लिए अंग्रेजों से लड़नेवालों में लाला लाजपतराय का नाम प्रथम पंक्ति में आता है। लालाजी के अध्ययनकाल की एक घटना बताता हूँ। लालाजी के साथ गौरीप्रसाद नाम का विद्यार्थी पढ़ता था। दोनों में अच्छी दोस्ती थी। गौरी पढ़ने में तेज था, मेधावी छात्र था। वर्ग में हमेशा वह प्रथम नंबर पास होता था। लालाजी का दूसरा नंबर आता था। लालाजी की इच्छा हुई कि वे प्रथम पास हो। उन्होंने पढ़ाई में सख्त मेहनत शुरू कर दी।

वार्षिक परीक्षा के दो महीने बाकी थे। गौरी की माँ बीमार हो गई। गौरी के अलावा माँ की सेवा करनेवाला और कोई नहीं था। गौरी ने माँ की सेवा करने में कोई कसर नहीं रखी...फिर भी माँ नहीं बची। दो महीने माँ की सेवा में लगे थे। गौरी परीक्षा की तैयारी नहीं कर पाया था। दूसरे छात्रों ने एवं शिक्षकों ने सोच लिया था कि इस परीक्षा में लालाजी प्रथम आयेंगे। परन्तु जब ‘रीजल्ट’ आया...गौरी प्रथम नंबर पास हुआ। लालाजी द्वितीय नंबर से पास हुए थे। शिक्षकों ने फिर से दोनों के पेपर जाँचे। लालाजी ने प्रश्नों के उत्तर अधूरे छोड़ दिये थे। शिक्षकों ने लालाजी को पूछा : ‘उत्तर अधूरे क्यों छोड़ दिये?’

लालाजी ने कहा : ‘गुरुजी, गौरी गरीब विद्यार्थी है। माँ की सेवा करने में...पढ़ने का उसको समय नहीं मिला, ऐसी स्थिति में मैं प्रथम नंबर पास हो सकता था, परन्तु गौरी को ‘स्कॉलरशिप’ नहीं मिलती, तो वह आगे पढ़ नहीं सकता...इसलिए मैंने जान-बुझकर उत्तर अधूरे लिखे। कृपा करके आप यह बात गौरी को मत बताना...वह मेरा दोस्त है।’

शिक्षक की आँखें हर्ष के आँसू से भर गईं। उन्होंने लालाजी को छाती से लगा लिया।

संसार में कुछ लोग पैशाची प्रकृति के भी होते हैं। वे जिनके प्रति शत्रुता रखते हैं, उनका नाश करने के लिए मित्र बन जाते हैं। मित्र के रूप में रहते हुए वे शत्रुता का काम करते हैं। ऐसे लोगों का सही रूप जानना मुश्किल होता है। फिर भी जाग्रत और बुद्धिमान् व्यक्ति ऐसे लोगों से बच भी सकते हैं।

जो कार्य करना है, उस कार्य के लिए क्षेत्र-गाँव-नगर उपयुक्त है या नहीं- यह सोचना चाहिए। धर्म, अर्थ और काम - तीनों पुरुषार्थ की दृष्टि से सोचना चाहिए। ऐसा गाँव-नगर हो कि जहाँ रुपये तो बहुत मिलते हैं, परन्तु धर्म-आराधना नहीं हो सकती है और परिवार भी साथ नहीं रह सकता है, तो वह योग्य क्षेत्र नहीं है। ऐसा गाँव-नगर हो कि जहाँ परिवार साथ रह सकता है और धर्म-आराधना भी हो सकती है, परन्तु धन-प्राप्ति नहीं हो सकती है - तो वह योग्य क्षेत्र नहीं है। हाँ, मात्र अर्थप्राप्ति के प्रयोजन से ही क्षेत्र पसन्द करना है, वहाँ उस दृष्टि से ही सोचना चाहिए। धर्मााराधना का पुरुषार्थ करना है तो उस दृष्टि से सोचना चाहिए। जिस कार्य का लक्ष्य हो, उस कार्य की सफलता की दृष्टि से सोचना चाहिए। क्षेत्र की पसन्दगी यदि सही नहीं की, तो कार्य की सफलता संदिग्ध बन सकती है। इसलिए क्षेत्र की पसन्दगी के विषय में भी सोचना आवश्यक है।

कब क्या करना है? सोचो!

काल-समय का विचार भी गंभीरता से करना चाहिए। किस समय कौन-सा कार्य करना चाहिए, इस विषय की आंतर सूझ-बूझ होनी चाहिए। किस समय धर्म-आराधना करनी चाहिए, किस समय अर्थप्राप्ति का पुरुषार्थ करना चाहिए और किस समय कामपुरुषार्थ करना चाहिए - इस बात का ज्ञान होना चाहिए। समय का महत्त्व समझें। प्रवचन सुनने के समय दुकान पर जा कर बैठो और दुकान पर बैठने के समय सिनेमा देखने चले जाओ...तो क्या होगा? धर्महानि और अर्थहानि ही होनेवाली है।

साहस में श्री है!

अब रही भाव की बात। भाव चाहिए उत्साह का, साहस का। यदि हृदय में उत्साह नहीं होगा, साहस नहीं होगा, तो अनुकूल द्रव्य क्षेत्र और काल का लाभ नहीं उठा पाओगे।

जापान में 'फ्युजियामा' नाम का पवित्र पहाड़ है। जैसे अपने देश में हिमालय का पहाड़ पवित्र माना जाता है वैसे जापान में 'फ्युजियामा' पहाड़ पवित्र माना जाता है। उस पहाड़ के एक शिखर पर चढ़ना बहुत मुश्किल है। 'शीबुकावा' नाम का एक साहसिक उस शिखर पर चढ़ गया। 'टेलिविजन' पर उसकी मुलाकात ली गई। उसको पूछा गया-

'जिस शिखर पर चढ़ने में दूसरे लोग सफल नहीं हो पाये, वहाँ आपने सफलता कैसे पायी?'

'केवल साहस! केवल हिम्मत! और कुछ नहीं!'

'सफलता का कारण तैयारियाँ नहीं थी क्या?'

'साधन कितने भी अच्छे हों। परन्तु मनुष्य में हिम्मत नहीं होती है...साहस नहीं होता है...तो वे सारे साधन बेकार हो जाते हैं।'

कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य में वीरता होती है, साहस करने की क्षमता होती है तो अल्प साधनों से भी वह कार्यसिद्धि कर लेता है। वीरता के साथ तत्परता, सहनशीलता और समर्पण की भावना जुड़ी हुई रहती है।

दक्षिण अमरीका के किनारे पर खड़े हुए सेनापति 'पिजारो' ने अपने सैनिकों से कहा : 'उत्तर में है शान्ति और आराम, दक्षिण में है युद्ध, अशान्ति, साहस और समृद्धि! जिसको जहाँ जाना हो वहाँ जाय, मैं दक्षिण में जाऊँगा।' पिजारो दक्षिण में ही गया। कुछ साहसिक सैनिक उसके साथ गये और उन्होंने वहाँ भव्य इतिहास रच डाला।

हालाँकि साहस करने में गणित तो होना ही चाहिए। ऐसा साहस नहीं करना चाहिए कि जो पागलपन गिना जाय। शक्ति, क्षमता का विचार तो करना ही चाहिए।

जैसलमेर के वीर राजपूत भायासिंह ने जब अपने दुश्मन जोधमल के हाथी पर अपने अश्व को कुदा कर हमला कर दिया तब जोधमल के पास बैठे हुए नन्द चारण ने भायासिंह की वीरता के मुक्त कंठ से गीत गाये थे। भायासिंह की वीरता ने दुश्मनों को चकित कर दिया था। भायासिंह का यह साहस बुद्धिपूर्वक का था।

निराश, निरुत्साही मनुष्य जो साहस करने जाता है वह बुद्धिपूर्वक नहीं होता है। एक धर्मगुरु के पास आकर एक क्लर्क ने कहा, 'मुझे ऐसा लगता है कि मुझे आत्महत्या करनी पड़ेगी।' धर्मगुरु ने कहा : 'यह तो कायरता है!'

'यह कैसे? मरने में तो बहुत हिम्मत होनी चाहिए!'

‘वह हिम्मत अन्धी और अविचारी है। मरने के बजाय जीवन जीने में ज्यादा हिम्मत अपेक्षित होती है। आत्महत्या यानी भागना! जो जीवन से...दुःखों से डर कर आत्महत्या करता है वह भगोड़ा होता है। नाहिम्मत होता है।’

दुःख से घबराओ नहीं :

दुःसाहस नहीं करना चाहिए। जीवन है, दुःख तो आयेंगे ही। कुछ दुःख अल्पकालीन होते हैं और कुछ दुःख जीवनपर्यंत रहते हैं। हमें दुःखों के साथ जीवन जीना सीख लेना चाहिए। ठीक है-दुःखों को दूर करने का स्वस्थ मन से प्रयत्न करते रहें परन्तु दुःखों से डरना नहीं चाहिए, घबराना नहीं चाहिए। दुनिया के सामने अपने दुःखों की रामायण पढ़नी नहीं चाहिए।

कुछ न कुछ प्रतिकूलताएँ जीवन में प्रायः रहती ही हैं। उन प्रतिकूलताओं के साथ धर्म-अर्थ और काम-यो तीनों पुरुषार्थ की आराधना करते रहना है। मात्र भाग्य के भरोसे जीवन नहीं जीना है। द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव का विचार कर मन को स्वस्थ रखने का है। पुरुषार्थ किये बिना, मात्र भाग्य-दुर्भाग्य की बातें करनेवाले कायर होते हैं। ऐसे लोग निराशावादी होते हैं। निराशावादी लोगों का संग भी नहीं करना चाहिए। अन्यथा वे लोग आपको भी निराशावादी बना देंगे। आप निरुत्साही बन जायेंगे।

कैसी भी प्रतिकूल परिस्थिति के सामने पूर्ण सरलता से, शान्ति से और एकाग्रता से खड़े रहो। आपको भय के भूत सतायेंगे नहीं। भय और चिन्ता को तो मन के द्वार में प्रवेश ही मत दो।

आप अपने आस-पास के लोगों में से ऐसे लोगों के सामने देखो कि जो निर्भयता से और निश्चितता से प्रतिकूलताओं को हँसते रहते हैं एवं धर्म-अर्थ और काम-पुरुषार्थ करते रहते हैं। होते हैं दुनिया में ऐसे भी लोग। देखने की दृष्टि चाहिए।

सबल हृदय, दुर्भेद्य दुर्भाग्य के किल्ले को भी तोड़ देता है। धरा कांपती हो और आकाश फट रहा हो - ऐसे समय में भी सबल हृदय निर्भय और निश्चित खड़ा रहता है। यह शक्ति-हिम्मत अपनी ही आत्मा में से मिलती है।

बलाबल का चिन्तन इस प्रकार करके तीनों पुरुषार्थ की आराधना करते रहो - यही मंगल कामना।

आज बस, इतना ही।



- हर जीवात्मा का अपना अलग संसार हुआ करता है। वह उसी में जीता है...रहता है...मनुष्य यदि चाहे तो उस संसार को अपनी समझदारी से सुंदर बना सकता है।
- बाह्य व्यक्तित्व को विकसाने के साथ साथ भीतरी व्यक्तित्व का भी विकास करना होगा!
- अपनी ही दृष्टि अपनी सृष्टि का सर्जन करती है! दृष्टि यदि सम्यक् है...सही है तो सृष्टि भी सुंदर और पवित्र बनेगी!
- गृहस्थ जीवन को गौरवशाली बनाने के लिए धर्म-अर्थ और काम को वृद्धिगत बनाये रखो! गृहस्थ जीवन भी गौरवभरा होना जरूरी है!
- यदि कुछ बनना है तो इधर-उधर की परवाह करना छोड़ो! 'लोग क्या कहेंगे?' की बजाय आत्मा क्या सोच रही है वह देखो!



परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी, स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रन्थ में गृहस्थ जीवन के सामान्य धर्मों का प्रतिपादन करते हुए अट्ठाइसवाँ सामान्य धर्म बताते हैं : धर्म-अर्थ और काम की उत्तरोत्तर वृद्धि करने का प्रयत्न करना।

अपना-अपना संसार है!

हर जीवात्मा का अपना बनाया हुआ संसार है। वह उसी में निवास करता है और निर्वाह करता है। मकड़ी अपना जाला बुनती है, रेशम के कीड़े अपने रेशे बनाते हैं। गोबर का कीड़ा अपने लिए गोबर तलाश करता है और उसी में अपने ढंग की जिन्दगी जीता है। तितलियों की और भौरों की बिरादरी, अपनी रुचि की पुष्प-वाटिकाएँ सरलता से खोज निकालती हैं। इन जीवों को धर्म-अर्थ और कामपुरुषार्थ से कोई प्रयोजन नहीं होता है...वे अपने ढंग से जीवन जीते हैं। तीनों पुरुषार्थ से प्रयोजन होता है, मनुष्य को। अपनी सूझ-बूझ के अनुसार मनुष्य अपना निर्माण करता है। बाह्य व्यक्तित्व का और आन्तर व्यक्तित्व का निर्माण करता है।

जीवन को गौरवान्वित करें :

दुष्टों की संगति और सज्जनों की मंडली में प्रवेश पाना-मनुष्य की स्वयं की सूझ-बूझ पर निर्भर होता है। दूषित दृष्टिकोण रखने पर दुष्टों के साथ संपर्क बनता है और उनके सहवास से दुःखद दुर्गुणों का उपहार प्राप्त होता है। सम्यक् दृष्टिकोण रखने पर सज्जनों के साथ संपर्क बनता है और उनके सहवास से सुखद सद्गुणों का खजाना प्राप्त होता है। आपकी दृष्टि...आपका लक्ष्य जैसा होगा उस दिशा में आपका प्रयत्न होनेवाला है। ग्रन्थकार आचार्यश्री वैसी एक सम्यक् दृष्टि देते हैं। वे कहते हैं, धर्म-अर्थ और काम की वृद्धि का लक्ष्य रखो, यदि गृहस्थ जीवन को गौरवान्वित रखना है तो। गृहस्थ जीवन गौरवशाली होना चाहिए। पशु-पक्षी जैसा जीवन जीने में कोई गौरव प्राप्त नहीं होगा।

मछलियों का अपना संसार है और मच्छरों का अपना! गायों की अपनी दुनिया है और कुत्तों की अपनी। क्या विशेष महत्त्व होता है उनके जीवन का? खाना-पीना, मैथुनसेवन करना और लड़ना-झगड़ना...यह होता है पशु-पक्षी का जीवन। यदि मनुष्य भी ऐसा ही जीवन पसन्द करता है तो पशु और मनुष्य में क्या फर्क रहेगा?

मन की खिड़की खोलो :

संसार में मनुष्य के सामने असंख्य सुविधाएँ और असंख्य विभूतियाँ पड़ी हुई हैं। मनुष्य उनमें से अपने लिए श्रेष्ठ से श्रेष्ठ या निकृष्ट से निकृष्ट चुन सकता है। जैसी उसकी दृष्टि होगी, वैसा चुनाव वह करेगा। यदि धर्म-अर्थ और काम की वृद्धि करने का उसका लक्ष्य होगा तो उसी लक्ष्य से वह सोचेगा और कार्य करेगा। कार्य करने से पूर्व सही दिशा में विचार करना चाहिए। विचार मन से किये जाते हैं, इसलिए सर्व प्रथम मन को परिष्कृत करना चाहिए। सुखी और समुन्नत जीवन तभी मनुष्य जी सकता है।

मन को परिष्कृत करने के लिए सज्जनों का समागम होना बहुत आवश्यक होता है। आध्यात्मिक एवं नैतिक जागृति प्रदान करनेवाली किताबों का अध्ययन करना बहुत आवश्यक होता है। इससे मन के विचारों को सही दिशा प्राप्त होगी। भौतिक और धार्मिक उन्नति के विषय में सुयोग्य मार्गदर्शन देनेवाले पुरुषों के सम्पर्क से पुरुषार्थ में उत्साह और प्रगति बढ़ती रहेगी।

ध्यान में रखने की बातें :

तीनों पुरुषार्थ में उन्नति करने के लिए, साथियों के साथ अपने आदान-

प्रवचन-८३**१०८**

प्रदान, सहयोग, समर्थन...वगैरह का भी विशेष महत्त्व रहता है। प्रगति और प्रसन्नता तभी संभव हो सकती है। तीनों पुरुषार्थ में सफलता पाने के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण बातें बताता हूँ, ध्यान से सुनें-

१. वस्तुस्थिति को स्पष्ट समझकर उसके साथ अधिक सम्बन्ध स्थापित करें।
२. किसी के भी साथ पूर्वग्रह से ग्रसित न रहें। पूर्वग्रहों से शीघ्र मुक्त बनें।
३. हर परिस्थिति को देखकर, समझकर, बिना विचलित हुए, अपने कार्य की रूपरेखा निर्धारित करें।
४. कोई भी शंका या अवरोध किसी काम में आने पर, उसे सुखद चुनौती के रूप में स्वीकार करते रहें।
५. किसी उपयोगी व्यक्ति का, उसके स्वभाव की विचित्रता के बावजूद स्वीकार करें।
६. अतिवादियों जैसी 'पूर्ण पुरुष' की तलाश या अपेक्षा मत रखो।
७. मनुष्य को कमजोरियों का पुतला मानकर, उस पर दुःखी मत हों, परन्तु उनको सुधारने का प्रयत्न करें।
८. अपने जीवन में निरन्तर आते रहनेवाले कठिन संघर्षों से व्यथित नहीं होना।
९. अपनी बाह्य एवं आन्तरिक जिन्दगी में सरल बने रहें, बनावट से दूर रहें।
१०. किसी भी बात की अभिव्यक्ति में शब्द एवं भाव संतुलित रखें। अभिव्यक्ति में व्यंग नहीं होना चाहिए, उग्रता नहीं होनी चाहिए।
११. कोलाहल से दूर रहें, फिर भी समाज के प्रत्यक्ष संपर्क में रहें।
१२. एकान्तवास प्रिय होते हुए भी, समाज की समस्याओं को सुलझाने के लिए चिन्तन करते रहें।
१३. अपनी इच्छाएँ स्वार्थपरक नहीं बनने दो, उद्देश्यपरक होने दो। स्वार्थ को परमार्थ में बदल दो।
१४. जब आपके सामने दूसरों की समस्याएँ आयें तब आप अपनी समस्याओं को भूल जायें।
१५. स्वयं में दृढ़ बनकर अपना स्वतंत्र वातावरण निर्माण करो।
१६. ज्यादा काम करने पर थको मत। सदैव जवानों जैसी मस्ती, ताज़गी एवं उत्साह बनाये रखो।
१७. प्रकृति के अधिक समीप रहो। प्रकृति में व्याप्त सौंदर्य को अधिक सूक्ष्मता से अनुभव करो।

प्रवचन-८३**१०९**

१८. मानवता से असीम प्यार करो। मनुष्य की सहज-स्वाभाविक बुराइयों को देखकर भी स्नेह कम मत करो। प्रत्युत्तर में आपको सभी से स्नेह-सौहार्द प्राप्त होगा।

१९. अपने लक्ष्य को पूरा करने के लिए किसी प्रकार की गंदी सौदेबाजी मत करो।

२०. सफलता प्राप्त करने के लिए अनैतिकता का सहारा मत लो। मित्रता का गला मत घोंटो।

२१. विनोदप्रियता, आपके स्वभाव का अंग बना लो। गंभीर से गंभीर प्रसंगों पर अपनी सहज विनोदप्रियता से वातावरण को हल्का बनाये रखो।

२२. वाणी में कटुता एवं दूसरों का उपहास नहीं होना चाहिए। वाणी को स्वाभाविक बनाये रखो।

२३. प्रवृत्ति सर्जनात्मक करो, ध्वंसात्मक नहीं।

२४. भव्य निर्माण की योजनाएँ बनाते रहो।

कुछ प्रेरणा के स्रोत!

धर्म-अर्थ और काम-तीन पुरुषार्थ में जिन्होंने कल्पनातीत सफलताएँ प्राप्त की हैं-उनके जीवन में आप इन २४ बातों में से बहुत-सी बातें देख पायेंगे। सफल मनुष्यों के जीवनचरित्र पढ़ने पर ये बातें पढ़ने को मिलेंगी। उनमें से भव्य प्रेरणाएँ मिलेंगी।

१. मालवा के महामंत्री पथड़शाह का धर्मपुरुषार्थ सुना है न? श्री धर्मघोषसूरिजी के समागम से उन्होंने अपने जीवन को कैसा धर्ममय बनाया था? धर्म का प्रसार भी कैसा अद्भुत किया था?

२. गुर्जरेश्वर कुमारपाल के धर्मपुरुषार्थ की बातें तो मैं कई बार कह चुका हूँ। उन्होंने कैसी अपूर्व धर्मारोपना और धर्मप्रभावना की थी।

३. पार्मा-इटली के पाइरीनुक्की ने अपने बच्चों को धार्मिक बनाने के लिए आरम्भ से ही प्रयत्न किया था। उसकी सात संतानें थीं। इनमें से एक ईसाई पादरी, तीन बौद्ध भिक्षु बने और तीन धर्मोपदेश का काम करने लगे। सभी आजीवन ब्रह्मचारी रहे और धर्मकार्यों में संलग्न रहे। यह उनके पिता की, धर्मपुरुषार्थ में उन्नति करने की लगन और श्रद्धा का परिणाम था।

४. वेस्लेस (फ्रान्स) का 'विक्टर चाओ सीमेन्ड', एक ऐसे परिवार में

जन्मा और पला कि जिसमें सारे लोग धर्मपरायण थे। विक्टर ने अपनी सन्तानों को भी उसी ढाँचे में ढाला। वह चार पादरियों का भाई, तीन पादरियों का भतीजा और चार पादरियों का पिता बना था।

अपने यहाँ जिनशासन में भी परिवार के ५-५ व्यक्ति, ६-६ व्यक्ति साधु-साध्वी बने हैं, ऐसे अनेक उदाहरण अपने सामने हैं। दो-तीन गाँव तो ऐसे हैं कि एक-एक जैन परिवार में से कोई न कोई साधु बना है या साध्वी बनी है।

अब अर्थपुरुषार्थ को लेकर कुछ उदाहरण बताता हूँ -

१. 'ट्युवसक्टी' का प्रसिद्ध डॉक्टर '**बैजामिन किटुज**' अपने व्यवसाय के प्रति अत्यन्त निष्ठावान था। उसने अपनी प्रत्येक संतान को चिकित्सक बनाने का लक्ष्य रखा, वैसा ही उत्साह बढ़ाया और वातावरण बनाया।

२. अमरीकी चित्रकार '**चार्ल्स पोले**' अपनी कला में इतना तन्मय एवं सफल था कि उसका समूचा परिवार भी उसी व्यवसाय में ढल गया। वह उस देश के प्रसिद्ध चित्रकारों का पिता तथा दादा था।

३. डेन्मार्क के एडममोल्ट गाँव का **फ्रेडरिक २२** संतानों का पिता था। उसने हर संतान के प्रति अपना कर्तव्य निभाया और उन्हें गुणवान्, चरित्रवान् और प्रतिभावान् बनाने में भरसक प्रयत्न किया। फलतः उनकी संतानों में से चार राजदूत बने, दो सेनाध्यक्ष बने, पाँच राज्यमंत्री बने तथा ग्यारह महापौर-राज्यपाल जैसे उच्च पदों पर आसीन हुए।

किसी भी पुरुषार्थ में सफलता तभी प्राप्त होती है, जब मनुष्य में सुदृढ़ मनोबल हो और पुरुषार्थ का सही लक्ष्य हो।

हिंमत-सबसे बड़ा शस्त्र!

नेपोलियन का एक उपसेनापति सेना के एक भाग को शत्रु की ओर आगे बढ़ने के लिए तैयारियाँ करवा रहा था। नेपोलियन ने पूछा : 'सभी तैयारियाँ हो गई क्या?'

'हाँ, सभी तैयारियाँ हो गई हैं।'

'युद्ध की साधन-सामग्री?'

'सब व्यवस्थित है, परन्तु मुझे लगता है कि इस समय युद्ध करने में मजा नहीं आयेगा।'

'क्यों?' नेपोलियन ने पूछा।

‘अनजान प्रदेश है और...’

‘मुझे ऐसा लगता है कि तुम्हारे पास एक आयुध कम है।’

‘नहीं आयुध तो गिन-गिन कर लिये हैं।’

‘एक शस्त्र नहीं लिया है...मनोबल का। हिम्मत का-बहादुरी का शस्त्र नहीं लिया है...उसको भूल गये हो।

और इस शस्त्र के अभाव में शेष सभी शस्त्र किसी काम के नहीं रहते।’

यदि मनुष्य में हिम्मत होती है तो लकड़ी का एक टुकड़ा भी मशीनगन बन सकता है। मलमल का वस्त्र भी वज्र का कवच बन सकता है।

प्रसिद्ध नाट्यकार ‘जेम्स बेरी’ ने एक लेख लिखा था हिम्मत के विषय में। उसने लिखा है - ‘कैसे भी संयोग में हिम्मत रखनी चाहिए। यदि नहीं है आपके पास तो दूसरे से माँग कर लाओ...चोरी करो...परन्तु हिम्मतवाले बनो। यदि यह गुण चला गया तो धीरे-धीरे सब कुछ चला जायेगा। इसलिए हिम्मत को सम्हाल कर रखो...और बढ़ाते रहो।’

कितनी अच्छी बात कही है जेम्स बेरी ने? हिम्मत कहो या सत्त्व कहो ‘**सर्व सत्त्वे प्रतिष्ठितम्।**’ यदि आप में सत्त्व है तो सब कुछ है। सत्त्व नहीं है तो कुछ नहीं है।

बुलंदी रखना सीखो :

प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक **डॉ. जहोन्सन** के पास एक युवक गया। उसने कहा- मुझे साहित्यकार बनना है, मार्गदर्शन दें।

जहोन्सन ने कहा : ‘तो लिखना शुरू कर।’

‘बाद में क्या करूँ?’

‘प्रिन्टिंग प्रेस में छपवाया कर।’

‘परन्तु लोग मेरा मजाक उड़ायेंगे तो?’

‘तो भैया, कुछ भी होने के विचार छोड़ दे। तुझ से कुछ होने का नहीं है।’

‘परन्तु मुझमें अनेक शक्तियाँ हैं और अनेक गुण हैं...’

‘तेरी बात सही है, लेकिन तुझमें हिम्मत कहाँ है? हिम्मत का गुण नहीं है तो दूसरे गुण भी टिकेंगे नहीं।’

यदि तीनों पुरुषार्थ में सफलता प्राप्त करना है, धर्म-अर्थ और काम में वृद्धि

करना है तो आप में हिम्मत-सत्त्व होना नितान्त आवश्यक है। संकट तो आर्येंगे ही, विघ्न आते रहेंगे। परन्तु उन संकटों का साहस के साथ सूझ-बूझ द्वारा मुकाबला करना पड़ेगा।

ज्यादातर संकट स्वाभाविक नहीं होते हैं, स्व-उपार्जित होते हैं। असंयम से रोग, असन्तुलन से विग्रह, अपव्यय से दरिद्रता, असभ्यता से तिरस्कार, अस्तव्यस्तता से विपन्नता के घटाटोप खड़े होते हैं। अपनी नासमझी और अपनी कुसंस्कारिता ही संकटों की जननी है। अपन अपने पूर्वजन्म के पापकर्मों को उत्तरदायी मानकर, उस नासमझी को पनपाते हैं। अपनी कुसंस्कारिता की वृद्धि करते जाते हैं।

मनःस्थिति को बदलना होगा। मनःस्थिति बदलेगी तो परिस्थिति स्वतः बदल जायेगी। पापकर्मों के उदय से कभी संकट पैदा होते हैं, परन्तु कभी कभी। आमतौर से देखा जाय तो द्रष्टिकोण, स्वभाव एवं व्यवहार में घुसी हुई नासमझी ही विभिन्न स्तर के संकटों के लिए उत्तरदायी होती है।

ऐसे विकृत मस्तिष्क को उलट देने के लिए और दैवी चिन्तन को प्रस्थापित करने का सामर्थ्य प्राप्त करना चाहिए। सामान्य साधनों से यह काम नहीं हो सकता। नरक जैसी विपन्नताओं को स्वर्गोपम सुसम्पन्नता में बदलने के लिए कितनी सात्विकता चाहिए, कितना मनोबल चाहिए? यह कहाँ से मिलेगा? सिवाय परमात्म-शरणागति, दूसरा कोई उपाय नहीं दिखता है। इसलिए निराश नहीं होना है। अन्धकार कितना ही सघन क्यों न हो, प्रकाश उससे बड़ा है। जब सूर्य उगता है तब रात्रि के पलायन होने में देर नहीं लगती है, भले ही वह कितनी ही काली और डरावनी क्यों न हो।

‘मुझे तीनों पुरुषार्थ करने हैं और धर्म-अर्थ एवं काम में वृद्धि करनी है।’ यह संकल्प करना चाहिए।

क्या अर्थ-काम की वृद्धि उचित है? :

सभा में से : धर्मवृद्धि करने का संकल्प तो अच्छा है, परन्तु अर्थ-काम में वृद्धि करने का संकल्प क्या उचित है?

महाराजश्री : आप गृहस्थ हैं, यह बात मत भूलो। अर्थ-काम में आसक्ति नहीं बाँधना, यह तो अनिवार्य बात है, परन्तु अर्थ-काम में वृद्धि करना तो कर्तव्य है। चूँकि आप अकेले नहीं हैं, परिवार है। परिवार की दृष्टि से भी सोचना आवश्यक होता है। धर्मशासन की प्रभावना करने की दृष्टि से भी सोचना आवश्यक है। विश्व में जैनसंघ की गरिमा की दृष्टि से भी सोचना

आवश्यक है। ग्रन्थकार आचार्यश्री ने दीर्घदृष्टि से यह बात कही है। उनका तात्पर्य समझना चाहिए। भूतकाल में जितने श्रावक हो गये...उनके जीवन-चरित्र पढ़ोगे तब यह बात सरलता से समझोगे।

हाँ, यदि आपके हृदय में वैराग्य-भावना जागी हो, त्यागमार्ग पर चलने की तैयारी करनी हो, तब तो अर्थ-काम की वृद्धि का लक्ष्य नहीं रहेगा। अर्थ-काम का त्याग करने का लक्ष्य बनेगा। परन्तु गृहस्थावास में रहना है, तो धर्म-अर्थ और काम-तीनों की वृद्धि का लक्ष्य रखना पड़ेगा। अर्थ-काम की वृद्धि में गलत उपाय नहीं करने चाहिए - इतना खयाल रखना पड़ेगा।

धर्मपुरुषार्थ में वृद्धि करने के लिए भी आप में सात्त्विकता तो होनी ही चाहिए। जीवन के हर प्रसंग में सात्त्विकता अपेक्षित है। जब गुर्जरेश्वर कुमारपाल ने देवी कंटकेश्वरी को पशुबलि देने से इन्कार कर दिया था, तब कोपायमान देवी ने कुमारपाल पर त्रिशूल का प्रहार कर, कुष्ठ रोगी बना दिया था...उस समय कुमारपाल की सात्त्विकता का भव्य दर्शन होता है। जरा भी दीनता नहीं...जरा भी भय नहीं! गुरुदेव हेमचन्द्रसूरीश्वरजी ने देवी को विवश कर कुमारपाल को रोगमुक्त करवाया था...। सुना है न यह प्रसंग?

सत्त्व को बढ़ाना होगा! :

पश्चिम के देशों में 'नित्ये' प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् हो गया। बड़ा तत्त्वचिंतक था। उसकी बुद्धि अत्यन्त कुशाग्र थी। तर्क करने की उसकी शक्ति अपूर्व थी। हालाँकि अपनी बुद्धि का जितना सदुपयोग करना चाहिए उतना वह नहीं कर पाया था, फिर भी वह बड़ा हिम्मतवाला मनुष्य था। एक बार वह घूमने के लिए नगर के बाहर गया तो उसने एक सर्प को देखा। नित्ये घबराया नहीं, वह सर्प के पास जाकर बैठ गया। साँप भी क्या पता कुछ समझ गया होगा...अपने शरीर को सिकोड़ कर, मुँह छिपा कर बैठ गया।

नित्ये का एक मित्र दूर खड़ा खड़ा यह द्रश्य देख रहा था। उसके पास जाकर नित्ये ने कहा : 'जीवन का एक महान् रहस्य मुझे आज मिल गया!'

मित्र ने मजाक में पूछा : 'साँप से मिला वह रहस्य?'

'हाँ, साँप से मिला! विषैला साँप हिम्मत के अभाव में शरीर को सिकोड़ कर पड़ा रहा। उसने हो सके उतना शरीर-संकोच किया। उससे उसका स्पर्श क्षेत्र 'फील्ड आफ कोन्टेक्ट' सीमित हो गया।'

'आप क्या कहना चाहते हैं?' मित्र ने पूछा।

‘मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि मनुष्य को हिम्मत-सत्त्व का विकास करना चाहिए, ऐसा नहीं करेंगे तो अपना मन संकुचित होकर बैठ जायेगा।’

सभा में से : ऐसी हिम्मत तो बहुत थोड़े मनुष्यों में होती है न?

महाराजश्री : परन्तु आप भी हिम्मतवाले बन सकते हो। ऐसा क्यों मानते हो कि आप में हिम्मत नहीं आ सकती है। आप भी अपनी हिम्मत बढ़ाने का प्रयत्न करें। हिम्मत के बिना धर्मपुरुषार्थ भी नहीं हो सकेगा। सामान्य धर्मक्रिया कर लेना अलग बात है और धर्मपुरुषार्थ करना दूसरी बात है। यदि गुजरात के महासेनापति तेजपाल की पत्नी **अनुपमादेवी** में हिम्मत नहीं होती तो वह अकेली आबू के पहाड़ पर रहकर कलात्मक भव्य जिनमंदिरों का निर्माण नहीं करवा सकती थी। मात्र उसका छोटा भाई उसके पास था। यदि हिम्मत नहीं होती तो मालवा के महामंत्री **पेथड़शाह** देवगिरि में भव्य जिनमंदिर का निर्माण नहीं करवा सकते थे। यदि सात्त्विकता नहीं होती तो **चन्द्रावतंसक राजा** रात भर कायोत्सर्ग-ध्यान में स्थिर नहीं रह सकते थे और कुमारपाल युद्ध के मैदान पर प्रतिक्रमण नहीं करते।

यह तो हुई बड़े-बड़े पुरुषों की बात। अब एक छोटे बच्चे की हिम्मत की बात बताता हूँ। आगे चलकर वह बच्चा विश्व का प्रसिद्ध इतिहासकार बना।

छोटा भी महान् बन सकता है :

उस लड़के का नाम ‘विलियम प्रिस्कोट’ था। वह स्कूल में पढ़ता था। तेजस्वी विद्यार्थी था। एक दिन की बात है। रिसेस का समय था। बच्चे खेल रहे थे। एक-दूसरे के सामने बिस्किट फेंक रहे थे। एक बिस्किट जोर से आया और विलियम की आँख में लगा। आँख फूट गई। तो कुछ समय के बाद, दूसरी आँख पर भी उसका प्रभाव पड़ा और वह भी फूट गई। तो भी विलियम निराश नहीं हुआ। उसने अपने मन में बड़ा इतिहासकार बनने का संकल्प किया।

दूसरे लोगों के पास वह पुस्तकें पढ़वाता और एकाग्रता से सुनता, उस पर विचार करता। इस प्रकार दस वर्ष बीत गये। उसने अपना पुरुषार्थ जारी रखा। दूसरे अनेक ग्रन्थ उसने सुने। दीर्घकालीन पुरुषार्थ के बाद उसने इतिहास का बड़ा ग्रन्थ लिखा। ‘फर्डिनान्द एन्ड इसाबेला’ नाम का ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। प्रचंड पुरुषार्थ और दृढ़ मनोबल से अंध विलियम महान् इतिहासकार बना।

एक बात याद रखो कि शरीर का कोई एक अंग क्षतिग्रस्त हो जाने से मनुष्य बेकार नहीं हो जाता है। यदि वह दृढ़ मनोबलवाला हो तो वह जो सोचेगा वह कर सकता है।

‘धर्मबिन्दु’ ग्रन्थ के टीकाकार आचार्यश्री ने लिखा है :

‘अनुबन्धशून्यानि हि प्रयोजनानि वन्ध्याः स्त्रिय

इव न किञ्चिद् गौरवं लभन्ते, अपि तु हीलामेव।’

‘जैसे वन्ध्या स्त्री संसार में गौरवपात्र नहीं बनती है, वैसे धर्म-अर्थ-काम के प्रयोजन उत्तरोत्तर वृद्धिरूप नहीं होते हैं तो मनुष्य गौरव प्राप्त नहीं करता है, परन्तु अपमान ही प्राप्त करता है।’

महान् श्रुतधर आचार्यश्री गृहस्थ जीवन गौरवपूर्वक जीने का निर्देश करते हैं। ज्ञानी पुरुष के इस कथन की गंभीरता समझनी चाहिए।

जिस समय पृथङ्गशाह, आचार्यश्री धर्मघोषसूरिजी के पास परिग्रह-परिमाण व्रत लेने गये और अति अल्प परिग्रह का परिमाण करने की इच्छा व्यक्त की तब गुरुदेव ने उसके शारीरिक लक्षण देखकर अल्प परिमाण का निषेध कर, लाखों रुपयों का परिग्रह-परिमाण कराया। सुयोग्य व्यक्ति के पास अधिक संपत्ति आने से वह महान् धर्मकार्य कर सकता है। वह स्वयं का गौरव तो बढ़ाता ही है, धर्मशासन का गौरव भी बढ़ाता है।

जीवन की ऊँचाइयाँ बनाये रखें :

मनुष्य के पास संपत्ति हो, सद्गुरु का मार्गदर्शन हो, बुद्धि निर्मल हो, मनोबल दृढ़ हो और हिम्मत से छलकता हो...तो वह मनुष्य महान् सत्कार्यों से दुनिया को चकित कर देता है। अपनी आत्मा को भी पुण्यानुबंधी पुण्य से भर देता है। संघ-समाज में और राष्ट्र में वह आदरणीय बनता है, अनुकरणीय बनता है।

सभा में से : अर्थ-काम की वृद्धि पुण्यकर्म के उदय से होती है न?

महाराजश्री : पुण्यकर्म का उदय उचित पुरुषार्थ की अपेक्षा रखता है। पुरुषार्थ के बिना पुण्यकर्म उदय में नहीं आता है। आप घर में हाथ जोड़कर बैठे रहोगे... और पुण्यकर्म उदय में आ जायेगा क्या? पुरुषार्थहीन कायर एवं आलसी व्यक्ति की मर्यादा का विचार कर, पुरुषार्थ करते चलो।

आज बस, इतना ही।



- पैसा कब कमाना और कब खर्च करना, यह भी एक सीखने-समझने की चीज है। समय की परख बड़ी महत्त्वपूर्ण चीज है।
- समय को परखने के लिए सूक्ष्म बुद्धि चाहिए। पैनी बुद्धि चाहिए।
- व्यय और सद्व्यय में अंतर है।
- बचत यह कंजूसई नहीं है।
- मूर्ख व्यक्तियों के पास पैसा बढ़ने से उनमें अनेक दूषण प्रविष्ट हो जाते हैं। ऐसे लोगों के लिए पाप 'कैशन' बन गये हैं।
- यदि स्वयं में समय को जाँचने की क्षमता नहीं है तो वैसे समयदर्शी व्यक्ति का मार्गदर्शन लेते रहना चाहिए।
- सम्यज्ञ व्यक्ति मुसीबतों के बीच भी रास्ता खोज निकालता है।
- कुछ ऐसे सनकी श्रीमंतों की कहानियाँ सुनने को मिलती हैं...कि जिन्होंने अपने विचित्र शौक पूरे करने में पानी की भाँति संपत्ति बहा दी...वे जब मरे तो कफन के टुकड़े के लिए भी तरसते रहे।
- 'मितव्ययता' सद्गृहस्थ का लक्षण है।



परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी, स्वरचित 'धर्मविन्दु' ग्रन्थ में, गृहस्थ जीवन के सामान्य धर्मों का प्रतिपादन करते हुए २९वाँ सामान्य धर्म बता रहे हैं : 'कालोचित अपेक्षा' का। जिस समय जो छोड़ना हो छोड़ देना और जिस समय जो लेना हो, ले लेना - इसको कहते हैं 'कालोचित अपेक्षा'। विशेष करके यह बात धन-संपत्ति को लेकर कही गई है। किस समय पैसे का त्याग करना और किस समय पैसा प्राप्त करना - यह विवेक मनुष्य में होना चाहिए। यह विवेक अत्यन्त निपुण बुद्धि से ही किया जा सकता है। वैसे अन्यान्य कार्यों को लेकर भी यह विवेक होना आवश्यक है।

- जिस समय दान देना आवश्यक हो, उस समय दान दो।
- जिस समय दूसरों को भोजन देना हो, उस समय भोजन दो।
- जिस समय दूसरों की सेवा करने की हो, उस समय सेवा करो।

○ जिस समय व्यापार करने का मौसम हो, उस समय व्यापार करो।

○ जिस समय दूसरों को क्षमा देनी हो, उस समय क्षमा दो।

समय को परखना जरूरी होता है :

समय को परखने की पैनी दृष्टि आपके पास होनी चाहिए। कार्यसिद्धि के लिए समय को परखना बहुत ही आवश्यक होता है। समय बीत जाने के बाद दिये हुए दान का महत्त्व नहीं रहता है। समय बीत जाने के बाद कितनी भी सेवा करो, उस सेवा का कोई महत्त्व नहीं रहता है। समय बीत जाने के बाद व्यापार करोगे तो मुनाफा तो दूर रहा, नुकसान करोगे। धर्मपुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ भी उचित समय में करने का है।

समय का पर्यालोचन अत्यन्त निपुण बुद्धि से करना है। टीकाकार आचार्य श्री ने 'अत्यन्त निपुण बुद्ध्या च' कहा है। जिस मनुष्य के पास ऐसी बुद्धि होगी, वही समय का सम्यक् पर्यालोचन कर सकेगा, दूसरा नहीं।

कृपणता और मितव्ययता में अंतर :

इस विषय में एक सुनी हुई कहानी कहता हूँ।

एक श्रीमन्त सेठ थे। निपुण बुद्धिवाले थे। लड़के की शादी की। पुत्रवधू भी श्रीमन्त घर की लड़की थी। एक दिन पुत्रवधू ने अपने ससुर की विचित्र हरकत देखी। जमीन पर कुछ तैल के बिन्दु गिर गए थे। सेठ अपनी अंगुली से तैल-बिन्दुओं को अपने जूते पर लगा रहे थे।

नई-नई पुत्रवधू ने सोचा : 'क्या मेरे ससुर इतने कंजूस हैं? ऐसा क्यों किया उन्होंने अथवा उनकी क्या दूसरी कोई दृष्टि होगी?' थोड़े दिन तो उसको चिन्ता बनी रही, बाद में उसने वास्तविकता का पता लगाने को सोचा।

एक दिन उसने अपनी सास से कहा : 'मुझे आज सरदर्द हो रहा है... मैं सो जाती हूँ।' सास ने उसको सोने दिया, परन्तु शाम तक जब वह उठी ही नहीं तो सास ने कहा : 'क्या ज्यादा सरदर्द हो रहा है?' उसने कहा : 'हाँ, मुझे बहुत ज्यादा सरदर्द है।' शाम को दुकान से जब सेठ आये, उनको मालूम हुआ कि पुत्रवधू को ज्यादा सरदर्द है, वे पुत्रवधू के पास गये।

'बेटी, क्या पहले भी तुझे ऐसा सरदर्द कभी होता था?'

'हाँ पिताजी, पहले भी कभी-कभी होता था।'

‘उस समय कौन-सी दवाई लेने से तुझे ठीक हो जाता था, वह दवाई का नाम बता दे तो मैं वह दवाई ले आऊँ।’

पुत्रवधू मौन रही। सेठ ने दूसरी बार पूछा तो संकोच के साथ उसने कहा : ‘पिताजी, वह दवाई आप से नहीं हो सकेगी। वह तो मेरे पिताजी ही कर सकते हैं...।’

‘ऐसी कौन-सी दवाई है रे? नाम तो बता दे... मुझ से नहीं हो सकेगी तो तेरे पिताजी के वहाँ से मँगवा दूँगा...।’

‘सच्चे मोतियों का विलेपन बनाकर सर पर लगाते थे... तो तुरन्त मेरा दर्द मिट जाता था।’

‘ओ हो...इसमें क्या है? मैं सच्चे मोतियों का विलेपन अभी तैयार करता हूँ।’ सेठ ने तिजोरी में से सच्चे मोती निकाले और पुत्रवधू के पास लाकर जब तोड़ने को तैयार हुए... कि तुरन्त पुत्रवधू ने कहा : ‘बस, पिताजी रहने दीजिए। अब मेरा सरदर्द मिट गया है।’

सेठ तो पुत्रवधू की बात सुनकर स्तब्ध से रह गये। ‘एकदम कैसे सरदर्द मिट गया?’

पुत्रवधू ने कहा : ‘पिताजी, मुझे क्षमा कर देना। मुझे सरदर्द था ही नहीं... मुझे तो आपके मन को जानना था... कि आपकी उदारता कैसी है? जब मैंने आपको जमीन पर पड़े हुए तैल के बिन्दुओं को लेकर जूते पर लगाते हुए देखा था... मेरे मन में आपके विषय में दुविधा पैदा हो गई थी। परन्तु आज मेरी दुविधा मिट गई। आप कंजूस नहीं हैं... परन्तु दुर्व्यय भी आपको पसंद नहीं है। आप समय को परखनेवाले हैं। आपने मेरे स्वास्थ्य के लिए मूल्यवान मोतियों की भी परवाह नहीं की...। आप कालोचित व्यय करनेवाले हैं।’

सेठ के मुँह पर मुस्कुराहट छा गई। उन्होंने कहा : ‘बेटी, गृहस्थ जीवन में यह आवश्यक होता है कि दुर्व्यय एक पैसे का भी नहीं करना चाहिए और सद्व्यय करने के अवसर पर लाखों रुपये खर्च कर देने चाहिए। गृहस्थ जीवन की शोभा इसी से बढ़ती है।’

सद्व्यय करना सीखें :

करीबन ३५/३६ साल पहले की एक बात कहता हूँ। बंबई में एक श्रीमन्त सद्गृहस्थ रहते थे। मात्र दो कमरे में रहते थे। एक दिन उन्होंने जैन बोर्डिंग

बनाने के लिए रु. ५१,०००/- का दान दिया। लड़के ने कहा : 'पिताजी, मरीन ड्राइव पर तीन-चार लाख में एक फ्लेट ले लेवें...' सेठ ने कहा : 'क्यों? इन दो कमरे में अपन को क्या तकलीफ है? कितने अच्छे धार्मिक पड़ोसी हैं? पास में मंदिर है... उपाश्रय है...। स्नेही-स्वजन भी निकट रहते हैं। दूसरी बात यह है कि अपनी संपत्ति का जितना सद्व्यय हो-उतना ही अच्छा है। संपत्ति का अनावश्यक व्यय करते रहने से संपत्ति चली जाती है।'

मैं जानता हूँ कि उन्होंने घर में रेडियो भी नहीं बसाया था। सोफासेट या कोई फर्निचर भी घर में लाये नहीं थे। कार रखी थी... परन्तु दुकान जाने के लिए और तीर्थयात्रा करने के लिए! उस समय... आज से ४० वर्ष पूर्व उन्होंने अपने जीवन-काल में १५ लाख रुपयों का दान दिया था। परन्तु जाग्रत उतने थे कि नौकर सब्जी लेकर आया हो तो हिसाब एक-एक पैसे का लेते थे। अवसर आने पर नौकर को हजार रुपये भी बक्षिस दे देते थे।

‘धर्मबिन्दु’ ग्रन्थ के टीकाकार आचार्यश्री कहते हैं :

यः काकिणीमप्यपथप्रपन्नामन्वेषते निष्कसहस्रतुल्याम्।

कालेन कोटीष्वपि मुक्तहस्तस्तस्यानुबंधं न जहाति लक्ष्मीः ।।

इस श्लोक का अर्थ सुन लो :

‘जो मनुष्य, मार्ग में गिरी हुई एक कोड़ी को (एक पैसे को) एक हजार स्वर्णमुद्रा जैसी मानकर खोजता है और उचित समय पर एक करोड़ रुपये खर्च करने को अपने हाथ खुले रखता है, उस मनुष्य का संबंध लक्ष्मी छोड़ती नहीं है।’

ज्यादा पैसा ज्यादा खर्चा :

शायद वर्तमान काल में यह बात आपके दिमाग को जँचेगी नहीं! चूँकि मैं देखता हूँ-श्रीमंताई की निशानी बन गई है पैसे का दुर्यय। जो व्यक्ति ज्यादा पैसा उड़ाता रहता है... यानी अर्थव्यय करता है... वह श्रीमन्त कहलाता है। स्वार्थी लोग उसकी प्रशंसा करते हैं। चार मित्रों के साथ होटल में भोजन करने जाते हैं और सौ/दो सौ रुपये खर्च कर देते हैं। सिनेमा देखने जाते हैं और पचास/सौ रुपये खर्च कर देते हैं। क्या यह सब आवश्यक खर्च है? घर में भी अनावश्यक खर्च कितना बढ़ गया है? ‘पैसे हैं इसलिए खर्च करो,’ यह अज्ञानी जीवों का खयाल होता है। अज्ञानी में विवेक तो होता नहीं है।

इसलिए श्रीमंतों में एक दूसरा प्रदूषण भी प्रविष्ट हो गया है... मदिरापान का। शराब पीना, विदेशी शराब पीना... श्रीमंतों के घर की फैशन बन गई है।

ऐसे श्रीमन्त समय को परख नहीं सकते हैं। उनकी बुद्धि मोहग्रस्त हो जाती है। दो सौ रुपये होटल में खर्च कर देंगे परन्तु किसी जरूरतमन्द रिश्तेदार को या स्नेही-स्वजन को दो सौ रुपये की सहायता नहीं करेंगे। परमात्मभक्ति में या गुरुभक्ति में खर्च करेंगे क्या? योग्य समय पर वे संपत्ति का सद्व्यय नहीं कर पायेंगे।

समय का औचित्य समझने की सूझ-बूझ होनी चाहिए। जो समझते हैं वे श्रेष्ठता, सफलता एवं लोकप्रियता प्राप्त कर लेते हैं। जो नहीं समझते हैं वे काल/महाकाल के अनन्त प्रवाह में बह जाते हैं।

हालाँकि हर व्यक्ति कालज्ञ-समयज्ञ नहीं होता है, हो भी नहीं सकता, परन्तु संघ और समाज में...हर गाँव-नगर में कुछ लोग तो कालज्ञ-समयज्ञ होते ही हैं। उन लोगों का अनुसरण करने की सरलता तो प्रजा में होनी चाहिए।

सभा में से : ऐसी सरलता अब लोगों में रही ही नहीं हैं! अल्प बुद्धिवाले लोग भी अपने आपको महान् बुद्धिमान् मानते हैं।

महाराजश्री : तब तो बड़ी आफत है! जहाँ अहंकार पनपता है... वह समाज पतन के गर्त में गिरता है! समयज्ञ पुरुष की कुछ बातें ऐसी भी होती हैं कि जिन बातों को हर मनुष्य नहीं समझ सकता है, फिर भी वे बातें माननी उतनी ही आवश्यक होती हैं। एक कालज्ञ पुरुष पूरे परिवार को आफत से बचा सकता है... पूरे नगर को बचा सकता है और पूरे देश को बचा सकता है! किस समय, क्या करना, क्या नहीं करना - सूझ-बूझ होनी चाहिए।

नवाब बेवकूफ बन गया :

भोपाल का नवाब चाँद खाँ परस्त्रीलंपट था। गिनोर की राजरानी पर मोहित हुआ। गिनोर के राजा के साथ युद्ध किया। युद्ध में गिनोर का राजा वीरता से लड़ता हुआ मारा गया! गिनोर पर चाँद खाँ ने कब्जा कर लिया। वह पहुँचा सीधा रनिवास में। रानी से कहा : 'मैं तेरे साथ शादी करूँगा।' रानी समयज्ञ थी, चतुर थी। उसने कहा : 'अच्छी बात है, मैं आपसे शादी करूँगी, आज ही करूँगी और इसी महल में आपकी बीवी बन कर आपको स्वर्ग का सुख दूँगी। आप अभी जाइये, मैं आपके लिए नये सुन्दर वस्त्र, मुगट वगैरह भेजती हूँ, आप पहन कर आइये, मैं भी सुन्दर वस्त्र पहन लेती हूँ।'।

चाँद खाँ बहादुर था, पराक्रमी था, परन्तु कालज्ञ नहीं था। वह तो खुश हो उठा। रानी ने नये वस्त्र, मुकुट, जूते...सब कुछ भेजा। चाँद खाँ ने बड़े प्रेम से सब पहना। पहन कर दस कदम भी नहीं चला होगा... जमीन पर गिर पड़ा और तुरन्त ही मर गया।

रानी ने मुकुट और जूते में विष का विलेपन कर दिया था। रानी ने आकर लाश पर थूका और बोली : 'पापी... कुत्ते... तुझे इस तरह मरना ही था... परस्त्रीलंपट' बोलकर, लात मार कर वह गुप्त रास्ते से नगर से बाहर निकल गई।

यदि चाँद खाँ बुद्धिमान् होता, देश और काल को समझने वाला होता तो गिनोर में वह रानी के साथ शादी करने तैयार नहीं होता। 'राजपूत रानी इस प्रकार सहजता से मेरे साथ शादी करने क्यों तैयार होती है? और इतनी जल्दी क्यों करती है? शादी के समय मुझे पहनने के वस्त्र... मुकुट... जूते वह क्यों भेजती है?' इसमें से एक पर भी विचार उसने नहीं किया... आया ही नहीं ऐसा एक भी विचार। न था वह कालज्ञ, न था वह क्षेत्रज्ञ! मारा गया। रानी समयज्ञ थी, इसलिए तुरन्त ही शादी के लिए मान गयी! उसने समय को परख लिया। चाँद खाँ का विश्वास प्राप्त कर लिया।

शीलरक्षा महान् धर्म :

सभा में से : रानी ने विश्वासघात किया था न?

महाराजश्री : अपनी शीलरक्षा करने के लिए विश्वासघात करना पाप नहीं है। छल-कपट करना पाप नहीं है।

सभा में से : शील-भंग पाप है वैसे जीव-हिंसा भी पाप है न? रानी ने शील बचाया, परन्तु मनुष्य-हत्या कर दी न?

महाराजश्री : दोनों पाप हैं, परन्तु शील-भंग बड़ा पाप है। हिंसा, उससे छोटा पाप है। बड़े पाप से बचने के लिए छोटा पाप करना, ऐसे प्रसंग में अनिवार्य हो जाता है। इस सिद्धान्त को रामायण में स्पष्ट किया गया है। सीताजी की शीलरक्षा के लिए रामायण का प्रचंड युद्ध हुआ था। करोड़ों मनुष्यों का संहार हुआ था। स्त्री की शीलरक्षा के लिए हिंसा को वर्ज्य नहीं माना गया है।

स्त्री में यदि शक्ति-सामर्थ्य हो तो उस पर बलात्कार करनेवाले के प्राण लेकर भी अपनी शीलरक्षा कर सकती है और शक्ति नहीं हो तो अपने प्राणों का त्याग करके भी वह शीलरक्षा कर सकती है।

समय को समझ कर किया हुआ विशेष धर्म, महान् फल देने वाला बन जाता है। जैसे-आप लोग श्रावक हैं, साधुपुरुषों की सेवा करते हो। प्रतिदिन उपाश्रय में आकर प्रतिक्रमण करने के बाद साधुपुरुषों की सेवा करके घर जाते हैं। कोई साधु बीमार हो तो अवश्य वे सेवा करेंगे।

सेवा भी समयोचित होनी चाहिए :

‘आर्य सुहस्ति’ नाम के महान् आचार्यदेव ने एक भिक्षुक को दीक्षा दी थी न? प्रसंग मैंने आपको कहा हुआ है, इसलिए पुनः वह कहानी नहीं कहता हूँ, परन्तु जब, वह साधु रात्रि के समय बीमार हो गया...प्रतिक्रमण की क्रिया पूर्ण होने के बाद श्रावकों ने उस साधु की सेवा की। उस साधु की उन्होंने सेवा की कि जो एक दिन पहले भिखारी था और उन श्रावकों के घर भिक्षा लेने जाता था।

‘अरे, यह तो वह भिखारी साधु बन गया है... पेट भरने के लिए साधु बन गया... खाया होगा ज्यादा... बीमार नहीं हो तो क्या हो? मरने दो... अपन तो चलते हैं घर...।’ ऐसा समझकर यदि वे लोग अपने-अपने घर चले जाते तो क्या उस साधु के मन में जो भाव-शुभ भाव जगे थे, वे जगते क्या? उस साधु ने क्या सोचा था, सुना है न? फिर से सुन लो।

‘अरे, ये लोग मेरे पैर दबा रहे हैं? ये तो बहुत बड़े सेठ लोग हैं... बड़ी बड़ी हवेली वाले हैं... ये मेरी सेवा करते हैं? अहो...! यह प्रभाव इस साधुवेष का है। अरे, मैं तो मात्र पेट भरने के लिए साधु बना हूँ, फिर भी मेरी कैसी सेवा हो रही है? और इतने बड़े आचार्यदेव... मेरा सर अपने उत्संग में लेकर मुझे नवकार मंत्र सुना रहे हैं... कैसा मेरा सद्भाग्य? यदि मैं सच्चे भाव से... आत्मा का कल्याण करने की भावना से साधु बनता तो...?’ उसके मन में साधुता के प्रति आदरभाव पैदा हो गया। साधुवेष से आन्तरिक प्रीति बँध गई।

यह थी श्रावकों की समयोचित सेवा। यह थी आचार्यदेव की समयोचित निर्यामणा। वह साधु समाधि-मृत्यु पाकर सम्राट सम्रति बना। जिनशासन की अपूर्व प्रभावना करनेवाला बना। समयोचित सेवा करने का कैसा अद्भुत परिणाम आया?

समयोचित सेवा, समयोचित अर्थव्यय, समयोचित कार्य करना... मात्र साधनों की उपलब्धि से संभव नहीं होता है। विवेकबुद्धि से होता है। ग्रन्थकार आचार्यदेव ने ‘कालोचित अपेक्षा’ का यह गुण महत्त्वपूर्ण बताया है। वैभव का, संपत्ति का उचित व्यय करना और उचित रक्षा करना - यह बात वे समझाते हैं।

कोई आवश्यक नहीं कि वैभवशालियों में विवेकबुद्धि हो ही। कुछ लोग तो संपत्ति का ऐसा दुर्य्य करते हैं कि जिनको सनकी या अपव्ययी कह सकते हैं। जिन साधनों से अनेक उपयोगी कार्य हो सकते हों उस उद्धत अहंकार की पूर्ति में ऐसे ही लुटा दिया जाय तो उसे कौन समझदार कहेगा? इतिहास में ऐसे अपव्ययी सनकियों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। कुछ दो-तीन उदाहरण आपको सुनाता हूँ।

कुछ उदाहरण सनकी लोगों के :

१२वीं शताब्दी का प्रसिद्ध **यमनसम्राट अल-अजीज** तो बेमिसाल था। प्रतिदिन नये वस्त्र तैयार करने के लिए सैकड़ों कारीगर उसके वहाँ रहते थे। वस्त्र भी सामान्य नहीं बनते थे, हीरे-पन्ने से जड़ित होते थे। मासिक खर्च करोड़ों रुपयों का होता था। इस अपव्यय से प्रजा में विद्रोह हुआ। परिणाम क्या आया? सम्राट को मार दिया गया।

मिस्त्र के एक धनाढ्य 'अमीर बेसारी' की सनक और भी विचित्र थी। उसे विरासत में बेशुमार धन-संपत्ति मिली थी, जिसे उसने शराब में बरबाद कर डाला। वह जिन स्वर्ण-प्यालों में एक बार शराब पीता था, उसे मिट्टी के सकोरों की तरह फेंक देता था। दुबारा शराब नये सोने के प्याले में ही पीता था। उसने अपनी पूरी संपत्ति इस प्रकार शराब में गँवा दी। मरते समय उसके पास कफन के लिए भी पैसे नहीं रहे थे।

मंगोलिया के शेख शाहरुख को अपना जन्म दिन विचित्र प्रकार से मनाने का शौक था। उस दिन उसके पास जो भी मनुष्य जाता, उसे वह हीरे-मोतियों से भरा थाल भेंट में देता! इस प्रकार उसने अपने ४२ जन्म दिन मनाये! परिणाम क्या आया? उसकी सारी संपत्ति हाथ से चली गई!

मिस्त्र की टकसाल का मालिक खलील था। उसकी मक्का-यात्रा बड़ी विचित्र ढंग से होती थी। रास्ते में सोने की मोहरें बिछाई जाती थीं... चूँकि उसका ऊँट जमीन पर नहीं, सोने पर कदम रखता हुआ चले! बाद में उन मोहरों को अन्य यात्री उठा लिया करते थे! उसका समस्त कोष इसी प्रकार समाप्त हो गया!

दान भी समय व व्यक्ति को पहचान कर दें :

दान देना धर्म है, परन्तु समयोचित और व्यक्ति की पात्रता देखकर दान

देना चाहिए। परन्तु इस प्रकार दान तो वही दे सकता है कि जिसके पास विवेकबुद्धि हो। बगदाद के खलीफा 'हारुन अलरशीद' पर दानशीलता का भूत सवार था। वह प्रतिदिन घोड़े पर बैठकर निकलता और जो भी सामने आ जाता उसके सामने चांदी के सौ टुकड़ों की थैली उछाल देता। भले ही फिर वह जरूरतमंद हो या न हो। उसकी इस सनक ने उसको कंगाल बना दिया... परन्तु धूर्तों ने इसका पर्याप्त लाभ उठाया!

ठीक है, जिनके पास अनाप-शनाप संपत्ति भरी पड़ी है और उपयोग की सूझ-बूझ नहीं है, ऐसे लोग अनुचित व्यय करते हैं तो यह बात एक सीमा तक समझ में आती है। परन्तु उनके लिए क्या कहा जाय कि जो निजी एवं पारिवारिक आवश्यक खर्चों की तो उपेक्षा करते हैं... परन्तु जेवर, फैशन, शृंगार, दुर्व्यसन... आदि पर ढेरों रुपये व्यय करते रहते हैं। ऐसे लोग परिणामस्वरूप दुःखी होते हैं, कर्जदार बनते हैं। समाज में उनकी इज्जत नहीं रहती है। लोग उपहास करते हैं। ऐसे लोग समय आने पर खर्च नहीं कर सकते हैं।

कैसे-कैसे मौके जीवन में आ सकते हैं कि जिसमें पैसे खर्च करने के ही होते हैं, इस बात का आप लोगों को ज्ञान होना चाहिए। भविष्य के विषय में कुछ अनुमान तो आपको करने ही चाहिए। गृहस्थ जीवन है, अनेक अच्छे-बुरे प्रसंग उपस्थित हो सकते हैं। पैसे का खर्च करना ही पड़ता है, इसके लिए आपकी तैयारी होनी चाहिए।

अनावश्यक... फालतू खर्च यदि आप बंद कर दो, तो बहुत से प्रश्न हल हो जायें। आपका मनोबल दृढ़ होगा तो ही आप फालतू खर्च करना बंद कर सकोगे। आपको लोग कृपण भी कहेंगे... पन्द्रहवीं शताब्दी के कहेंगे, फिर भी आपको अविचल रहना पड़ेगा। समय आने पर जब आप पानी की तरह धन बहाओगे... तब दुनिया आश्चर्य में डूब जायेगी। समयज्ञ बनकर जीवन जियो।

आज बस, इतना ही।



- प्रतिदिन धर्मश्रवण करना चाहिए यह कर्तव्य है, सामान्य धर्म है... पर किससे करना? यह बात भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है।
- किताबी ज्ञान देना या तर्क-दलील और कहानी किससे सुनाकर मनोरंजन करना अलग बात है और धर्म की बातों को व्यक्ति के अन्तस्तल तक पहुँचाना और बात है।
- धर्मोपदेश के लिए शास्त्रों में चौदह विशेषताएँ बतायी गई हैं। वे हों तो ही धर्म का उपदेश सार्थक बनेगा।
- मनोरंजन के उद्देश्य से धर्म का उपदेश नहीं सुना जाता है... नहीं दिया जाता है। धर्मोपदेश सुनकर आत्म-संशोधन करना है... मनोमंथन करना है।
- सभा में उपस्थित लोगों के स्तर को जाँच-परख कर उपदेश देने से बचा एवं श्रोता दोनों को लाभ होता है।
- हमारे लिए तो धर्मोपदेश देना यह उपकार नहीं वरन् कर्तव्य बताया गया है। हम आप पर उपकार नहीं करते... हम तो केवल हमारा फर्ज अदा करते हैं।



परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी, स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रन्थ में सर्व प्रथम गृहस्थ जीवन के सामान्य धर्मों का प्रतिपादन करते हैं। हर गृहस्थ के लिए ये सामान्य धर्म-सामान्य गुण उपयोगी हैं। जिस किसी को अपनी जीवनयात्रा मंगलमय बनानी हो, कल्याणमय बनानी हो, उन सभी महानुभावों के लिए यह आचार-विचारसंहिता अत्यंत आदरणीय है।

आज एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण सामान्य धर्म बताना चाहता हूँ, वह सामान्य धर्म है प्रतिदिन धर्मश्रवण। प्रतिदिन धर्मग्रंथ का श्रवण करना। धर्मग्रंथ को सुनने की बात की है ग्रंथकार ने! सुनने की क्रिया सापेक्ष है। कोई सुनाने वाला हो तो सुना जा सकता है। धर्मग्रंथ को सुनना जितना आवश्यक है, उससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण है धर्मग्रंथ किससे सुनना! हर किसी शास्त्रज्ञ से धर्मशास्त्र नहीं सुनना चाहिए। धर्मशास्त्र सुनानेवाला व्यक्ति कैसा होना चाहिए - इस

विषय में भी गंभीरता से सोचा गया है। ऐसा मत सोचना कि 'अपन को तो धर्मग्रंथ सुनने से मतलब है न... जो सुनाते हों... उनसे सुन लो!'

कुछ भी करें, सोच कर करें :

क्या आपने कभी ऐसा सोचा है कि 'अपन को तो दवाई से मतलब है न? किसी भी डॉक्टर से ले लें...।'

क्या आपने कभी ऐसा सोचा है कि 'अपन को तो कोर्ट में केस करना है न? किसी भी वकील को सौंप दें...।'

नहीं, वहाँ तो आप डॉक्टर की और वकील की 'क्वालिटी' देखते हैं। प्रसिद्ध और विशेषज्ञ डॉक्टर-वकील पसंद करते हो। वैसे, धर्मशास्त्र सुनाने वाले कैसे होने चाहिए, वह भी जान लेना चाहिए।

धर्मशास्त्रों का उपदेशक हर कोई व्यक्ति नहीं बन सकता है। उपदेशक होने की, बनने की तमन्ना होने मात्र से, अथवा उपदेश-कला प्राप्त होने मात्र से उपदेशक नहीं बना जा सकता है।

बुद्ध और अंकमाल :

भगवान बुद्ध के पास एक श्रीमन्त युवक ने जाकर कहा : 'भगवन्, मेरी इच्छा दुनिया की सेवा करने की है। आप चाहें वहाँ मुझे भेज दें, मैं वहाँ जाकर लोगों को धर्म का उपदेश दूँगा।'

बुद्ध उस युवक अंकमाल को जानते थे। उन्होंने कहा : 'अंकमाल संसार को देने से पूर्व यह सोचना चाहिए कि अपने पास कुछ देने को है भी या नहीं। पहले अपनी योग्यता बढ़ाने का प्रयत्न करो। संसार को उपदेश बाद में देने का है।'

अंकमाल ने बुद्ध को वंदना की और चला गया। उसने दस वर्ष तक कठोर परिश्रम कर कलाएँ प्राप्त कीं। सारे मगध देश में वह कलाविशारद के रूप में प्रसिद्ध हुआ। देश में उसकी प्रशंसा होने लगी। उसका मन मान-सम्मान और अभिमान से भर गया। मान-सम्मान मिलने पर भी जो अभिमानी नहीं बनते, वे तो सत ही होते हैं। अंकमाल भगवान् बुद्ध के पास गया, वंदना की और कहा :

'भगवन्! अब मैं संसार के हर मनुष्य को कुछ न कुछ अवश्य दे सकूँगा। मैं २४ कलाओं में पारंगत बना हूँ।'

बुद्ध के मुखमंडल पर स्मित उभर आया। उन्होंने कहा : 'अंकमाल अभी तो तू कलाएँ सीख कर आया है, परीक्षा देना बाकी है! परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर अभिमान करना!'

'प्रभो, मैं अवश्य परीक्षा में उत्तीर्ण होऊँगा...!' इतना कहकर वह अपने निवासस्थान पर चला गया।

दूसरे दिन बुद्ध ने अपने एक शिष्य को वेश-परिवर्तन करवा कर अंकमाल के पास भेजा। उस बौद्ध श्रमण ने अंकमाल को अकारण ही कटु शब्द सुनाये... उसका अपमान किया...। अंकमाल क्रोध से उसको मारने दौड़ा। वह श्रमण स्मित कर के वहाँ से बुद्ध के पास चला आया और जो घटना बनी वह बता दी।

बुद्ध ने उसी दिन दोपहर को दूसरे दो भिक्षुओं को वेश-परिवर्तन करवा कर अंकमाल के पास भेजा। उन्होंने जाकर अंकमाल से कहा :

'आयुष्यमन्, हम सम्राट हर्ष के अनुचर हैं। सम्राट आपको मंत्रीपद देना चाहते हैं। उन्होंने हमको आपका प्रत्युत्तर लेने भेजा है। क्या आप मंत्रीपद का स्वीकार करेंगे? सम्राट आपकी ख्याति सुनकर प्रभावित हुए हैं।'

अंकमाल मंत्रीपद की बात सुनकर आश्चर्य से और आनंद से स्तब्ध रह गया। सत्ता के प्रलोभन ने उसको गले से पकड़ा। उसने स्वीकृति देते हुए कहा : 'अवश्य... अवश्य... मैं सम्राट की इच्छा का आदर करता हूँ। आप कहें तब...' अंकमाल बोलता रहा और वे दोनों भिक्षु एक-दूसरे के सामने हँसते हुए वहाँ से चल दिये। अंकमाल कुछ समझ नहीं पाया... जाते हुए उन दोनों पुरुषों को देखता रह गया!

शाम को भगवान् बुद्ध स्वयं अंकमाल के वहाँ पहुँचे। साथ में उनकी शिष्या आम्रपाली भी थी। अंकमाल ने बुद्ध का प्रेम से स्वागत किया... बुद्ध एक काष्ठासन पर बैठे। थोड़े दूर आम्रपाली बैठी। अंकमाल बुद्ध से बात करने लगा... परन्तु बार-बार वह आम्रपाली को देखता रहा। आम्रपाली के अद्भुत रूप ने अंकमाल को मोहित कर दिया।

बुद्ध के सवाल :

बुद्ध आम्रपाली के साथ आश्रम लौट गये। दूसरे दिन अंकमाल आश्रम में गया। बुद्ध ने अंकमाल से पूछा : 'वत्स! क्या तूने क्रोध, लोभ और काम पर विजय पाने की कला भी प्राप्त की है न?'

अंकमाल स्तब्ध रह गया। उसके दिमाग में सभी घटनाएँ उभर आयीं। वह लज्जित हो गया... और उसी दिन से वह आत्म-कल्याण की आराधना में निरत हो गया।

धर्मोपदेशक बनने की योग्यता कैसी होनी चाहिए, आप लोग समझे न? धर्मोपदेशक क्रोधविजेता होना चाहिए, धर्मोपदेशक लोभविजेता होना चाहिए और धर्मोपदेशक कामविजेता होना चाहिए। जो स्वयं क्रोध, लोभ और काम-वासना से पराजित होगा, वह दूसरों को क्या देगा? उसका धर्मोपदेश दूसरों के हृदय तक कैसे पहुँचेगा? कहने का तात्पर्य यह है कि धर्मोपदेशक संयमी होना चाहिए। उसका लक्ष्य भी संसार के जीवों को संयमी-आत्मसंयमी बनाने का होना चाहिए। आन्तरिक शत्रुओं पर विजय पाये बिना कभी भी आत्मकल्याण हो नहीं सकता, कभी भी आत्मविशुद्धि नहीं हो सकती। इसलिए तो हमारे आराध्यदेव 'जिन' हैं! 'जिन' का अर्थ होता है विजेता। जिन्होंने अपने सभी आन्तरिक शत्रुओं को जीत लिया - वे 'जिन' कहलाते हैं। हमें भी कभी न कभी 'जिन' बनना ही होगा। पूर्ण सुख, पूर्णानन्द 'जिन' ही अनुभव करते हैं।

वक्ता के १४ गुण :

धर्मोपदेशक को पहचानना होगा। 'बहुत अच्छा बोलता है, वक्तृत्व शक्ति श्रेष्ठ है...' इतने मात्र से कोई व्यक्ति धर्मोपदेशक नहीं बन सकता है। उसमें १४ प्रकार की योग्यता होनी चाहिए। एक विद्वान महर्षि ने कहा है-

वाग्मी-व्यास समसवित् प्रियकथः प्रस्ताववित् सत्यवाक्,
संदेहच्छिद् शेषशास्त्रनिपुणो, नाख्याति व्याक्षेपकृत्।

अव्यंगो जनरंजको जितसभो, नाहंकृतो धार्मिकः,
संतोषी च इमे चतुर्दशगुणा वक्तुः प्रणीतास्तथा ॥

जिस धर्मोपदेशक से प्रतिदिन धर्मशास्त्र को सुनना है और मोक्षमार्ग पर चलना है, उस धर्मोपदेशक को परखना तो पड़ेगा न? अथवा जिसको धर्मोपदेशक बनना है, उसको भी ज्ञान होना चाहिए कि 'मैं धर्मोपदेशक कैसे बन सकता हूँ।'

पहले मैं १४ गुणों के नाम बता दूँ -

धर्मोपदेशक -

- | | |
|--|----------------------------|
| १. वचनशक्तिवाला | ४. अवसर का ज्ञाता |
| २. विस्तार एवं संक्षेप का ज्ञाता | ५. सत्यवादी |
| ३. प्रियभाषी | ६. संदेहों को दूर करनेवाला |
| ७. सभी धर्मग्रंथों का ज्ञाता | १०. लोकरंजन करनेवाला |
| ८. वस्तु का पर्याप्त और आवश्यक वर्णन करने में कुशल | ११. सभी को वश करनेवाला |
| ९. व्यंग्य नहीं करनेवाला | १२. अहंकाररहित |
| | १३. धर्मपालन करनेवाला |
| | १४. संतोषी... |

१. वक्ता को भाषा का ज्ञान तो होना ही चाहिए। जिस देश में जिस प्रजा के सामने जिनवचनों का व्याख्यान करना हो, उस प्रजा की भाषा में करना चाहिए। उस भाषा का अच्छा ज्ञान होना चाहिए।

२. दूसरी बात भी समझने की है। **जिन वचन का कहाँ और किसके आगे विस्तार करना चाहिए और कहाँ एवं किसके आगे संक्षेप में व्याख्या करनी चाहिए** - धर्मोपदेशक को इस बात का ज्ञान होना चाहिए। जहाँ संक्षेप करना हो वहाँ विस्तार करता रहे और जहाँ विस्तार करने का हो वहाँ संक्षेप करता रहे... तो उसका उपदेश श्रोताओं को प्रिय नहीं लगेगा। चूँकि विद्वान् लोग संक्षेप में सुनना पसंद करते हैं, जब कि सामान्य बुद्धिवाले लोग विस्तार से विषय को सुनना पसंद करते हैं। दूसरी बात-कोई विषय ऐसा होता है कि जिसकी व्याख्या संक्षेप में कर के छोड़ देना चाहिए। जैसे, कोई वर्तमानकालीन सामाजिक या राजकीय घटना... परिस्थिति की समालोचना करनी है, तो वह संक्षेप में करनी चाहिए, विस्तार से करने पर मूलभूत विषय का विवेचन नहीं हो पाता है... 'विषयान्तर' प्रवचन का बड़ा दोष है। वैसे कोई मानवीय गुणों का अथवा कोई शास्त्रीय गंभीर विषय का विवेचन विस्तार से करना चाहिए। वक्ता को स्वयं सूझ होनी चाहिए संक्षेप एवं विस्तार की।

३. धर्मोपदेशक प्रियभाषी होना चाहिए। यों तो सभी को प्रियभाषी बनना चाहिए, परन्तु धर्मोपदेश के लिए तो प्रियभाषी होना अति आवश्यक है। चूँकि उनका कर्तव्य तो दूसरों के हृदय में धर्मतत्त्व को पहुँचाने का है। मिथ्या विचारों को बदलना है। वह कार्य कटु शब्दों से नहीं होगा। मधुर शब्दों से होगा। वक्ता का भाषा पर कितना भी प्रभुत्व होगा और शास्त्रों का ज्ञान

कितना भी गहरा होगा, परन्तु यदि वह प्रियभाषी नहीं होगा तो व्याख्यान सभा का हृदय नहीं जीत पायेगा। और यदि लोगों का हृदय नहीं जीता तो उनमें धर्म का प्रचार नहीं किया जा सकेगा।

सभा में से : आजकल तो कई धर्मोपदेशक बहुत कटु शब्दों का प्रयोग करते हैं...

महाराजश्री : इसका परिणाम भी वे देखते होंगे! वे समझते होंगे कि हम 'स्पष्ट वक्ता' हैं। परन्तु स्पष्टवादिता कटु शब्दों में ही अभिव्यक्त नहीं होती है। मधुर शब्दों में भी स्पष्टवादिता अभिव्यक्त हो सकती है। धर्मोपदेशक यदि साधु-मुनि है, तो वह पूज्य होता है। पूज्य के प्रति पूज्यता का भाव तभी अखंडित रहता है, यदि वह प्रियभाषी है। अप्रियभाषी के प्रति पूज्यभाव खंडित हो जाता है, और वह बड़ा नुकसान है।

४. चौथी बात है, अवसर को, प्रसंग को जानने की। अवसर शोक के होते हैं, अवसर हर्ष के होते हैं। अवसर शान्ति के होते हैं, अवसर विवाद के होते हैं। अवसर स्वधर्म का होता है, अवसर अन्य धर्म का होता है। अवसर धर्मरक्षा का होता है, अवसर धर्म-प्रभावना का होता है। अवसरोचित वक्तव्य देने का होता है। अवसर को समझे बिना जो उपदेश दिया जाता है; इससे क्लेश, संघर्ष एवं मनमुटाव पैदा होते हैं। अवसरोचित धर्मोपदेश देकर लोगों के हृदय में धर्मभावनाएँ, सद्भावनाएँ जाग्रत करनी चाहिए। लोगों के हृदय में राग-द्वेष की परिणति कम हो - इस दृष्टि से उपदेश देने का है।

५. पाँचवी बात है सत्यवादिता की। झूठ-असत्य से धर्मोपदेशक को दूर रहना चाहिए। धर्मग्रन्थों को सापेक्ष रहते हुए उपदेश देना चाहिए। धर्मग्रन्थों का अर्थ भी सही करना चाहिए। जिस संदर्भ में जिस शब्द का जो अर्थ होता हो वही अर्थ करना चाहिए। 'अज' शब्द का अर्थ बकरा भी होता है और 'तीन वर्ष पुराना अनाज' ऐसा भी होता है। 'अजैर्यष्टव्यम्' का अर्थ बकरों से यज्ञ करना, ऐसा किया गया और हिंसक यज्ञों का प्रारंभ हो गया। कितना घोर अनर्थ हुआ? शास्त्रों का अर्थ करनेवाले निष्पक्ष, निष्कामी और संदर्भ के ज्ञाता विद्वान् चाहिए।

६. धर्मोपदेशक ऐसा होना चाहिए कि श्रोताओं के संदेहों को दूर करे। श्रोताओं की धर्म-विषयक जिज्ञासाओं को संतोष दे। श्रोताओं के मन में कैसे कैसे संदेह पैदा हो सकते हैं, उसका अनुमान लगाकर, व्याख्यान में वह स्वयं प्रश्न पैदा कर समाधान करता रहे! समाधान जो भी करे वह तर्कयुक्त होना चाहिए और धर्मग्रन्थ-सम्मत होना चाहिए।

व्याख्यान सभाओं में श्रोता भी अनेक प्रकार के होते हैं न? कुछ श्रोता पढ़े-लिखे एवं बुद्धिमान् होते हैं। कुछ श्रोता बुद्धिमान् होते हैं, पर धर्मशास्त्रों का ज्ञान नहीं होता है। कुछ श्रोता अल्प बुद्धिवाले भी होते हैं और दो-चार नींद निकालने के लिए ही आते हैं। संदेह-शंका-जिज्ञासा उसको होगी कि जो बुद्धिमान् होते हैं। कुछ ज्यादा बुद्धिमान् (Overwise) कुतर्क भी करते हैं...! इन सबकी जिज्ञासाओं का समाधान करने की क्षमता धर्मोपदेशक में होनी चाहिए। यदि वह शंका-संदेहों का निराकरण नहीं कर सकता है तो श्रोताओं के हृदय में धर्म की स्थापना नहीं कर सकता है।

सभा में से : कुछ व्याख्याता तो ऐसे देखे हैं कि प्रश्न पूछने पर क्रोधित हो जाते हैं...!

महाराजश्री : आपका प्रश्न पूछने का ढंग बराबर नहीं होगा! अथवा उस व्याख्याता को प्रश्न का उत्तर मालूम नहीं होगा! अथवा प्रश्न पूछने का समय अनुकूल नहीं होगा! हाँ, कुछ लोग यानी श्रोता ऐसे भी होते हैं कि व्याख्याता साधु की परीक्षा लेने के लिए प्रश्न पूछते हैं। जिज्ञासा नहीं होती है... परीक्षा लेने की वृत्ति होती है। ऐसे लोगों को भी, उपदेशक इस प्रकार प्रत्युत्तर दे कि उनको अपनी गलती महसूस हो।

७. श्रोताओं की शंकाओं का समाधान तभी वक्ता कर सकता है, जब **उसको मात्र स्वधर्म के शास्त्रों का ही बोध नहीं, अन्य धर्मग्रन्थों का भी ज्ञान हो!** वर्तमान में प्रचलित विभिन्न धर्मविषयक विचारधाराओं का अध्ययन होना चाहिए। जिस समय भारत में जैन, बौद्ध और वेदान्त की विचारधाराओं में टकराव था, सभाओं में-राजसभाओं में वाद-विवाद होते थे... उस समय हर धर्मोपदेशक को तीनों धर्म के शास्त्रों का गंभीर अध्ययन करना पड़ता था।

जैसे अच्छे वकील को कई देशों के कानूनों का अध्ययन करना पड़ता है, भिन्न-भिन्न हाईकोर्ट के अनेक फैसलों का ज्ञान प्राप्त करना होता है, वैसे धर्मोपदेशक को विभिन्न धर्मों के ग्रन्थों का ज्ञान प्राप्त करना ही चाहिए। मात्र अध्ययन नहीं, तुलनात्मक अध्ययन होना चाहिए।

धर्मोपदेशक के पास जैन धर्म के सिद्धान्तों का भी पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए। सात नय, सात भंग, अनेकान्तवाद, द्रव्य-गुण-पर्याय, नव तत्त्व, चौदह गुणस्थानक, योग की आठ दृष्टि, जापपद्धति, ध्यान पद्धति... वगैरह ज्ञान होना चाहिए। उत्सर्ग और अपवाद का भी यथोचित ज्ञान होना चाहिए। निश्चय और व्यवहार का भी अच्छा ज्ञान होना चाहिए। इन सब विषयों का

अच्छा ज्ञान हो तो ही 'जिनवचन' की वह सुन्दर व्याख्या कर सकता है। यदि इन विषयों का ज्ञान नहीं होता है उपदेशक के पास, तो संभव है कि वह जिनवचन से विपरीत व्याख्यान भी दे दे। धर्मोपदेशक बनना कोई इतना सरल तो नहीं है!

८. जिस विषय का प्रतिपादन करना हो, जिस घटना का वर्णन करना हो, उस विषय का, **उस घटना का सर्वांगीण वर्णन करने में उपदेशक कुशल होना चाहिए।** उसके पास शब्द-समृद्धि के साथ-साथ वर्णन करने की भी शैली होनी चाहिए। तभी श्रोताओं को वह रसलीन कर सकता है। जिस विषय का विवेचन चलता हो, उसमें सभी बहने चाहिए। जिस प्रसंग का वर्णन चलता हो, उसमें सभा तदाकार बननी चाहिए। उपदेशक की प्रतिभा भी चमकती है। वीर-रस की बात चलती हो तो सभा में वीर रस उछलने लगे! शान्त-रस की घटना का वर्णन चलता हो तब श्रोताओं के मुँह पर शान्ति की आभा छा जाय! वैराग्य-रस से भरपूर कोई कहानी चलती हो तब श्रोतावर्ग का हृदय विरक्ति का अनुभव करे! हास्यरस की बात आये तब सभी खिल-खिलाकर हँस दें!

९. नौवीं बात है श्रोताओं के प्रति व्यंग्य नहीं कसने की। उपदेशक को एक बात नहीं भूलनी चाहिए कि वह धर्म का उपदेशक है। धर्म के उपदेश में व्यंग्य नहीं होना चाहिए। व्यंग्य कसने से श्रोताओं के हृदय को ठेस पहुँचती है। इसलिए कहा है कि व्यंग्यात्मक भाषा में उपदेश नहीं देना चाहिए। परन्तु वह बात व्यक्ति को लेकर समझना। समष्टि को लेकर कभी व्यंग्यात्मक बोला भी जा सकता है। सामाजिक और राजकीय समीक्षा करते समय व्यंग्यात्मक भाषा का प्रयोग किया जा सकता है।

१०. उपदेश लोगों के मन को प्रसन्न करनेवाला चाहिए। मन को रुचिकर होना चाहिए उपदेश। इसलिए तो 'आक्षेपणी' और 'विक्षेपणी' देशना देने का विधान किया गया है। सभा को अपनी ओर अभिमुख करने के लिए उपदेशक शृंगार रस को भी बहा सकता है। श्रोताओं का मनोरंजन होने पर ही वे वक्ता के अभिमुख हो सकते हैं। यदि 'बोर' हो गये... तो उठकर रवाना हो जायेंगे! मनोरंजन मात्र मनोरंजन के लिए नहीं करना है, मनोरंजन करके श्रोताओं को अभिमुख बनाकर धर्म की गंभीर बातें उनके हृदय तक पहुँचानी होती हैं। मनोरंजन भी सात्त्विक करना चाहिए। निम्नस्तर की 'सेक्सी' या हिंसाप्रेरक कहानियाँ कहकर मनोरंजन नहीं करना चाहिए। निम्नस्तर का हास्यरस भी काम का नहीं। धर्मोपदेशक स्वयं यदि साधु है, मुनि है, आचार्य है... तो

उसको अपने धार्मिक जीवन की गरिमा का खयाल होना ही चाहिए। व्याख्यान सभा में महिलाएँ भी होती हैं, इसलिए मनोरंजन का स्तर ऊँचा रहना चाहिए। सद्गुरु के मुँह से श्रोताओं को सात्त्विक बातें ही सुनने को मिलनी चाहिए।

दूसरी बात यह है कि सम्पूर्ण व्याख्यान मनोरंजन का नहीं होना चाहिए। मनोरंजन तो 'आटे में नमक' जितना ही होना चाहिए। श्रोता 'बोर' नहीं हो जाय, इसलिए बीच-बीच में २-३ मिनट मनोरंजनात्मकता आनी चाहिए।

११. ग्यारहवीं बात है व्याख्यान सभा को सम्मोहित करने की प्रतिभा की। धर्मोपदेशक में वैसी प्रतिभा होनी चाहिए कि हजारों लोगों की सभा उसके प्रति आकर्षित हो जाय। हालाँकि ऐसी प्रतिभा सभी उपदेशकों में नहीं हो सकती है। हजार में दो-चार ही ऐसे होते हैं। ऐसी प्रतिभा का जन्म विशिष्ट पुण्यकर्म से ही होता है। जिसको 'गॉडगिफ्ट' कहते हैं, वैसी यह प्रतिभा होती है।

१२. बारहवीं विशेषता बतायी गई है, अहंकाररहित होने की। हजारों-लाखों लोगों की सभा को सम्मोहित करनेवाला उपदेशक अहंकाररहित होना चाहिए। अभिमान तनिक भी नहीं होना चाहिए। ज्ञानी और अभिमानी? यह तो दीपक होते हुए अंधकार जैसी बात होगी। ज्ञान सूर्य जैसा है और अभिमान-अहंकार अंधकार जैसा है। सूर्य की उपस्थिति में अंधकार टिक ही नहीं सकता है!

अपने उपदेश से हजारों को मंत्रमुग्ध करनेवाला वक्ता तो इतना विनम्र होना चाहिए कि एक छोटा बच्चा भी निर्भयता से उसके पास जाकर प्रेम से बात कर सकें। उपदेशक का यह गुण श्रोताओं के हृदय में धर्मभावना को दृढ़ बनाता है।

१३. तेरहवाँ गुण बताया है धर्माचरण का। धर्म के उपदेशक का जीवन धार्मिक होना चाहिए। लोगों को धर्म का उपदेश देनेवाला मनुष्य यदि स्वयं धर्म को जीवन में नहीं जीयेगा तो उसके उपदेश का दूसरों पर क्या असर होगा?

वक्ता है कि बकता है?

अंग्रेजों का जब भारत पर राज्य था उस समय की बात है। गुजरात में बड़ौदा बड़ा स्टेट था। महाराजा सयाजीराव सज्जन राजा थे। बड़ौदा में एक बड़ी सभा हुई थी जीवदया के विषय में। प्रमुख थे महाराजा सयाजीराव और वक्ता थे बम्बई के एक बड़े जीवदया-प्रेमी महानुभाव! गरमी के दिन थे, स्टेज पर पंखे नहीं थे। औपचारिकता समाप्त होने पर, मुख्य वक्ता भाषण देने खड़े

हुए। भाषण बहुत ही अच्छा चल रहा था। पसीना भी उतना ही जोरों से हो रहा था। पसीना पौछने के लिए उन्होंने जेब में से रुमाल निकाला.... परन्तु रुमाल के साथ जेब में से अंडा भी बाहर निकल पड़ा....! स्टेज पर अंडा गिरने की आवाज भी आयी। महाराजा सयाजीराव हँस पड़े... और बीच में ही खड़े होकर अंडा हाथ में लेकर बोले.... आजकल लोग शारीरिक ताकत पाने के लिए ऐसे अंडे खाते हैं, यह बताने के लिए ये महानुभाव बम्बई से अपने साथ यह अंडा लेकर आये हैं।'।

स्वयं अंडा खाने वाले दूसरों को जीवदया का उपदेश क्या देंगे? स्वयं क्रोधी, दूसरों को क्षमा का उपदेश कैसे देंगे? स्वयं रागी-द्वेषी हो, दूसरों को राग-द्वेष मिटाने का उपदेश क्या देंगे? स्वयं विषयासक्त मनुष्य दूसरों को वैराग्य का उपदेश कैसे देंगे? इसलिए, यह तेरहवीं बात बड़ी महत्त्वपूर्ण कही गई है। धर्मोपदेशक का जीवन धर्ममय होना चाहिए।

१४. चौदहवाँ गुण बताया गया है संतोष का। धर्मोपदेशक संतोषी होना चाहिए। लोभी नहीं होना चाहिए। निष्काम भावना से धर्मोपदेश देना चाहिए। संसार के भौतिक पदार्थों की आशा-तृष्णा नहीं रखनी चाहिए। 'मैं अच्छा प्रवचन दूँगा... तो लोग मेरे भक्त बनेंगे..... और मुझे उत्तम वस्त्र देंगे, पात्र देंगे, मेरे उपदेश से लाखों रुपये खर्च करेंगे....' वगैरह आशाएँ नहीं रखने की है। 'इतने रुपये दो, तो ही मैं प्रवचन देने आऊँगा.....' ऐसी शर्तें भी नहीं रखनी चाहिए।

प्रतिदिन धर्मश्रवण करने का, गृहस्थ का सामान्य धर्म मुझे समझाना है, परन्तु किस व्यक्ति से धर्मश्रवण करना चाहिए, यह बात पहले समझनी चाहिए। इस दृष्टि से मैंने आज धर्मोपदेशक कैसा होना चाहिए, यह बात बतायी है। २५-३० वर्ष पूर्व जितने धर्मोपदेशक थे, आज बहुत बढ़ गये हैं। साधु-साध्वी की संख्या बढ़ी है.... व्याख्याताओं की संख्या भी बढ़ी है... परन्तु योग्यताप्राप्त व्याख्याता कितने? जिनवचनों की प्रामाणिकता से व्याख्या करनेवाले कितने? आज वक्ता के विषय में बताया, कल श्रोता के विषय में बताऊँगा.... और बाद में धर्मश्रवण के विषय में बताना चाहता हूँ।

आज बस, इतना ही।



- जागृतिपूर्वक धर्मश्रवण करने से धीरे-धीरे मन धर्म के प्रति आकृष्ट होगा। धर्म की बुनियादी बातें जीवन में अपने आप अंकुरित होंगी।
- प्रवचन श्रवण में कई सावधानियाँ बरतने की हैं... गतानुगतिक ढंग से... 'श्रुतम् हन्ति पापानि-सुना तो पाप दूर हो जायेंगे।' वाले ढंग से तो एक-दो या दस-पाँच नहीं, सैकड़ों प्रवचन सुनने पर भी कुछ परिवर्तन होने का नहीं है!
- जिस धर्म का पालन अपने स्वयं नहीं कर सकते और कोई करता है... तो हमें उनकी प्रशंसा-अनुमोदना करनी चाहिए। सराहना करनी चाहिए।
- सम्यक् दर्शन का एक आचार है 'उपबृंहणा' अच्छे कार्य की अनुमोदना करना। यह बात हम भूलते जा रहे हैं। ईर्ष्या और स्पर्धा के युग में सराहना लुप्त होती जा रही है।
- धर्मश्रवण के पश्चात् एक लंबी प्रक्रिया होती है चिंतन की, मनन की... उससे गुजरने पर ही तत्त्व-अमृत की प्राप्ति हो सकती है।



परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने, स्वरचित 'धर्मविंदु' ग्रंथ के प्रारंभ में गृहस्थ जीवन के सामान्य धर्मों का प्रतिपादन किया है। यदि आप लोग अपने जीवन में इन धर्मों का पालन करने लगे तो एक तंदुरस्त समाज-रचना हो सकती है। सुसंस्कृत समाज-रचना हो सकती है। ऐसा समाज मोक्षमार्ग की आराधना करने में सक्षम हो सकता है।

जीवन में सामान्य धर्मों का पालन करने के लिए मनुष्य में दृढ़ मनोबल चाहिए। चूँकि आज बहुजन समाज में इन सामान्य धर्मों की घोर उपेक्षा हो रही है। पापाचरणों में मनुष्य आसक्त बना है। ऐसे वातावरण में यदि मनुष्य को इन सामान्य धर्मों का पालन करना है, वैसी जीवन-पद्धति बनाना है तो दृढ़ मनोबल चाहिए।

सामान्य धर्मों के पालन से होने वाले व्यक्तिगत लाभ, पारिवारिक लाभ

और सामाजिक लाभ आपको अच्छी तरह समझने होंगे और दूसरों को समझाने का सामर्थ्य प्राप्त करना होगा। यदि आप दूसरों को समझा नहीं सकोगे तो आप स्वयं सामान्य धर्मों के पालन में कष्ट पाओगे। आपका परिवार ही विरोध करेगा। आपके मित्र या स्नेही-स्वजन विरोध करेंगे। 'इस युग में ऐसे सामान्य धर्मों का पालन नहीं हो सकता... नहीं करना चाहिए...' वगैरह बातें करेंगे और आपके मन को शिथिल कर देंगे।

इसलिए, तीसवाँ सामान्य धर्म बताया है प्रतिदिन धर्मश्रवण का। प्रतिदिन सद्गुरु से धर्मशास्त्र का उपदेश सुनना चाहिए। प्रतिदिन धर्मश्रवण करने से आपका मनोबल बढ़ेगा। धर्म पालन करने की क्षमता-सामर्थ्य पैदा होगी। आन्तरिक-जागृति बनी रहेगी।

सभा में से : हम प्रतिदिन धर्मश्रवण करते हैं कुछ समय से, परन्तु इन सामान्य धर्मों का पालन नहीं कर पा रहे हैं, इसका क्या कारण होगा?

महाराजश्री : जिज्ञासा का अभाव! और मनोबल का अभाव! मन के भीतर... गहराई में जिज्ञासा पैदा होनी चाहिए।..। आत्मतत्त्व की जिज्ञासा, परम तत्त्वों की यानी अगम-अगोचर तत्त्वों की जिज्ञासा पैदा होनी चाहिए। जिज्ञासा से धर्मश्रवण करते हो क्या? जीवन का अमृतत्व पाने के लिए धर्मश्रवण करते हो क्या? धर्मग्रन्थों के ज्ञाता त्यागी-विरागी महात्माओं के चरणों में जिज्ञासा लेकर जाते हो क्या?

एक कहानी :

'भागवत' में एक अच्छी कहानी है। राजा परीक्षित को साँप ने काटा। वह ऐसा साँप था कि जिसको काटे वह सातवें दिन मर जाय! राजा परीक्षित भयभीत हुआ। मृत्यु के भय ने उसको हिला दिया। उसके मन में घबराहट व्याप्त हो गई। राजा शुकदेवजी के पास गया। शुकदेवजी के पास बैठकर वह धर्मश्रवण करने लगा। 'मृत्यु से मैं कैसे बच सकता हूँ?' इस जिज्ञासा से वह धर्मश्रवण करता है। सुनते सुनते छह दिन बीत गये। राजा की जिज्ञासा शान्त न हुई। वह विक्षुब्ध था। शुकदेवजी ने परीक्षित की क्षुब्धता को जान लिया था। उन्होंने कहा : 'राजन्, आज मैं तुझे एक कहानी सुनाता हूँ।'

एक राजा था। एक दिन शिकार करने के लिए वह जंगल में गया। दिन भर शिकार की खोज में जंगल में भटकता रहा, शिकार नहीं मिला। रात हो गई। वह रास्ता भूल गया। उसने सोचा कि 'अब तो इस जंगल में ही कोई

आश्रय मिल जाय तो रुक जाऊँ। वह एक घास की झोंपड़ी के पास पहुँचा। झोंपड़ी एक कसाई की थी। गंदगी से भरी हुई थी। छत पर मरे हुए पशु लटक रहे थे। एक तरफ मल-मूत्र विसर्जन की जगह थी। इतनी दुर्गन्ध फैली हुई थी कि राजा का सर चकराने लगा। क्षणभर तो उसने सोचा कि 'मैं यहाँ रात नहीं बिता सकता...।' परंतु जाये तो कहाँ जाये? वहाँ ही रुकना अनिवार्य था। उसने कसाई से कहा : 'भैया, मैं भूला पड़ा हुआ मुसाफिर हूँ। मुझे एक रात के लिए यहाँ आश्रय दोगे क्या?'

कसाई ने कहा : 'मैं अब किसी भी पथिक को आश्रय नहीं देता हूँ।'

'ऐसा क्यों?' राजा ने अधीरता से पूछा।

'जो-जो पथिक यहाँ आश्रय पाने को आते हैं वे तेरी तरह ही कहते हैं कि 'बस, रातभर रहने दो, सुबह चले जायेंगे।' परन्तु वे सुबह जाते नहीं और यहीं रहने के लिए आग्रह करते रहते हैं... याचना करते हैं... यहाँ से जाने को तैयार ही नहीं होते....। तब, मुझे बलप्रयोग करना पड़ता है। इसलिए अब मैं किसी को आश्रय नहीं देता हूँ।'

राजा ने कहा : 'मैं वैसा नहीं करूँगा, प्रातःकाल होते ही यहाँ से चला जाऊँगा। दया कर, मैं तुझे परेशान नहीं करूँगा।' कसाई ने उसको आश्रय दिया। राजा मुँह और नाक पर कपड़ा बाँध कर झोंपड़ी में सो गया। फिर भी तीव्र दुर्गन्ध ने आधी रात तक उसको सोने नहीं दिया। धीरे-धीरे वह दुर्गन्ध उसके मस्तिष्क में व्याप्त हो गई। प्रातः जब वह उठा, उसको सब कुछ अच्छा लगने लगा। वहाँ से जाने की उसकी इच्छा नहीं हुई। कसाई को कहने लगा : 'भैया, मुझे यहाँ रहने दो, तुम कहोगे वह काम मैं करूँगा।' कसाई हँसने लगा। वह बोला : 'सब लोग ऐसा ही कहते हैं... तुझे यहाँ से तो जाना ही पड़ेगा।'

शुकदेवजी ने कहा : 'परीक्षित, तुम्ही कहो कि राजा ने उचित किया या अनुचित?'

परीक्षित ने कहा : 'भगवन् वह राजा कौन था? कितना मूर्ख था वह? प्रतिज्ञा का भंग करना सर्वथा अनुचित है। अपने राज्य की जिम्मेदारी को भूल कर वह उस गंदी झोंपड़ी में रहने को तैयार हो गया... बहुत अयोग्य किया उसने।'

शुकदेवजी ने कहा : 'परीक्षित! वह राजा दूसरा कोई नहीं, तू ही है।'

‘भगवन्, वह कैसे?’ परीक्षित हड़बड़ा गया।

‘परीक्षित, यह देह की झोंपड़ी कैसी है? क्या भरा है इस देह में? मल... मूत्र... खून... मांस... हड्डियाँ न? तू कितने वर्ष रहा इस झोंपड़ी में? अब भी छोड़ने की इच्छा नहीं होती है न? अनिच्छा से छोड़नी पड़ेगी... इस बात का तुझे दुःख है न? क्या इस प्रकार दुःख करना उचित है? तू तो विवेकी है न?

राजा परीक्षित की ज्ञानदृष्टि खुल गई। मृत्यु से वह निर्भय बना। आत्मभाव में लीन बना।

धर्मश्रवण का आनंद कैसा?

इसको कहते हैं धर्मश्रवण। ‘धर्मबिंदु’ ग्रन्थ के टीकाकार आचार्यश्री तो कहते हैं कि कोई स्वरकिन्नरी किसी स्वरसम्राट युवक के साथ गीत गाती हो, वह गीत सुनने में जो आनन्द का अनुभव होता है, धर्मश्रवण में वैसे ही आनन्द की अनुभूति होनी चाहिए। यह अनुभूति सहजभाव से होती है। जब आत्मा का बहुत कर्ममल दूर होता है, तब इस प्रकार अनुभूति होने लगती है।

धर्मश्रवण की रसिकता होगी तो आप समय की प्रतिबद्धता का पालन करोगे। मान लो कि धर्मप्रवचन का समय प्रातः नौ बजे है तो आप नौ बजे उपस्थित हो ही जायेंगे। धर्मोपदेशक आये उसके पहले श्रोताओं को आ जाना चाहिए।

सभा में से : हमारे यहाँ तो उल्टा चलता है! पहले वक्ता पधारें बाद में श्रोता!

प्रवचन के वर्तमान दोष :

महाराजश्री : वह अविधि है, अनौचित्य है। धर्मश्रवण की रुचि का अभाव होने से ऐसा बनता है। अथवा समय अनुपयुक्त रखने से भी ऐसा होता है। ऐसे तो अनेक अनौचित्य वर्तमान काल में प्रचलित हैं। दो-चार सेम्पल बताता हूँ -

१. व्याख्यान शुरू होने के बाद आना।
२. बाद में आना और आगे आकर बैठना।
३. वक्ता के सामने नहीं देखना, इधर-उधर देखना।
४. आपस में बातें करना।
५. छोटे-छोटे बच्चों को लेकर आना।

६. विषय से भिन्न प्रश्न पूछना।
७. असभ्यता से बैठना।
८. अनुचित वेश-भूषा में आना।

आप ही कहिए, इस प्रकार क्या धर्मश्रवण हो सकता है? इस प्रकार धर्मप्रवचन सुनने से कुछ भी पल्ले पड़ सकता है क्या? वास्तव में कहूँ तो इस प्रकार मनुष्य कुछ सुन ही नहीं सकता है। बस, मात्र आना, बैठना... और कुछ भी तत्त्वज्ञान पाये बिना चले जाना! सुनते ही नहीं, तो याद रखने की तो बात ही कहाँ? पहले तो धर्मप्रवचन सुनना सीखो।

सुनने से पहले इतनी बातें सीखो :

१. प्रवचन के पूर्व मंगलाचरण से ही उपस्थित रहो।
२. कभी देरी हो जाय तो पीछे ही बैठ जाया करो, आगे आने की कोशिश मत करो।
३. वक्ता के सामने ही देखो।
४. मौन रहो।
५. छोटे बच्चों को साथ में मत लाया करो।
६. विषय के अनुरूप प्रश्न करो, वह भी जिज्ञासा हो तो।
७. सभ्यता से बैठो।
८. धर्मस्थानों में उचित और मर्यादापूर्ण वेश-भूषा में आओ।
९. एकाग्र मन से सुनो।
१०. विषय के अनुरूप भाव-परिवर्तन मुँह पर आने दो।

इस प्रकार यदि प्रवचन सुनोगे तो प्रवचन देने वाले वक्ता को भी बोलने में आनन्द आयेगा। धर्म की बातों का विश्लेषण करने में उल्लास बढ़ेगा।

वक्ता के भावों में बहना चाहिए :

हम लोग एक गाँव में गये थे। छोटा-सा शहर है। दो-तीन जिन मंदिर हैं, बड़ा उपाश्रय है। प्रवचन का आयोजन हुआ। जो समय दिया गया था, उससे आधा घंटा देरी से लोग आये...। प्रवचन शुरू हुआ...। श्रोता-लोग स्थितप्रज्ञ की तरह बैठे रहे! मुँह पर भावों का कोई परिवर्तन नहीं! जैसे कि किसी की शोकसभा में आये हों! मैंने सोचा : आज पहला दिन है, शायद अपरिचित होने

से इस प्रकार गंभीर बने रहे होंगे। परन्तु दूसरे दिन भी वैसी ही स्थितप्रज्ञता बनी रही! तीसरे-चौथे दिन भी वही स्थिति! मैंने उनकी स्थितप्रज्ञता को तोड़ने का भरसक प्रयत्न किया... परन्तु असफल रहा।

सभा में से : स्थितप्रज्ञता तो अच्छी मानी जाती है न?

महाराजश्री : मूढ़ता कहूँ तो बुरा लगे न? इसलिए 'स्थितप्रज्ञता' शब्द का प्रयोग किया। प्रवचन सुनते समय मुँह पर विषयानुरूप भाव-परिवर्तन होना ही चाहिए। हँसने की बात आये तब हँसना चाहिए, करुण रस की बात आये तब मुँह पर दया-करुणा उभरनी चाहिए, वैराग्य की बात चलती हो तब मुँह पर विरक्ति का भाव छलकना चाहिए।

यदि धर्मतत्त्वों को सुनने की तत्परता होगी तो भाव-परिवर्तन आये बिना नहीं रहेगा। जिस विषय में सरसता होती है, तत्परता होती है, वहाँ भाव-परिवर्तन आता ही है। और जब आप श्रवण में रसलीन बनते हो तब मौन स्तवः आ जाता है। दूसरी बातें करने की इच्छा ही नहीं होती है।

सभा में से : दूर बैठे हुए लोगों को सुनाई नहीं देता है, तब वे लोग बातें करने लगते हैं - ऐसा नहीं है?

एकाग्रता एवं मौन जरूरी है :

महाराजश्री : बात सही है, परन्तु नहीं सुनाई देता हो तो चले जाना चाहिए न? बातें करने से दूसरों को भी सुनने में बाधा पहुँचती है। यह तो जिनवाणी है, जिनेश्वर भगवन्तों के वचन हैं, बराबर नहीं सुनोगे तो अर्थ का अनर्थ करोगे। किस दृष्टि से बात कही जाती है, उस दृष्टि को समझना चाहिए। वह तब ही समझ पाओगे, जब शान्ति से एवं एकाग्रता से सुनोगे।

जो बात सुनते हो, उस बात पर चिन्तन-मनन करना चाहिए। जिनागमों की बातें चिन्तन-मनन से ही ज्यादा स्पष्ट होती है। आपके हृदय में जिनागमों के प्रति, सर्वज्ञभाषित धर्मग्रन्थों के प्रति दृढ़ श्रद्धा होनी चाहिए। जिनागमों के तत्त्व सुनने की तत्परता होनी चाहिए। वह सुनने में खेद-उद्वेग नहीं आना चाहिए। आजकल ज्यादातर लोगों को तत्त्वज्ञान की बातों में रस नहीं है। चूँकि वे तत्त्वज्ञान समझने का परिश्रम करना नहीं चाहते। 'हमें तो इन तत्त्वज्ञान की बातों में कोई रुचि नहीं है, हमारे पल्ले कुछ नहीं पड़ता है... हम तो भूल जाते हैं....।' ऐसी-ऐसी बातें करते हैं।

जिनवचनों के प्रति प्रेम होने पर ऐसी बातें नहीं करोगे। आप सुनते ही रहोगे। केवल सुनोगे ही नहीं, जीवन में जो बातें शक्य होंगी, उन बातों का पालन करोगे। आपका धर्मश्रवण जीवनस्पर्शी होगा। आपका श्रवण आत्मविशुद्धि की दृष्टि से होगा। ज्यों-ज्यों आप धर्मश्रवण करते जाओगे त्यों-त्यों आपका जीवन-व्यवहार विशुद्ध बनता जायेगा। दूसरे मनुष्यों के साथ, आपका व्यवहार मैत्रीपूर्ण बनता जायेगा। खाने-पीने में, आप संयम का पालन करोगे। पढ़ने में, सुनने में एवं देखने में विवेक आ जायेगा। मनोबल एवं शरीरबल की दृष्टि से जो भी धर्मपालन शक्य होगा, आप करोगे ही।

जिन बातों का पालन आप नहीं कर सकते हैं वर्तमान में, उन बातों का पालन करने की इच्छा आपके मन में बनी रहेगी। जैसे कि आप रात्रिभोजन करना नहीं चाहते, परन्तु वर्तमान संयोगों में आप रात्रिभोजन का त्याग नहीं कर सकते हैं, तो भी आपके मन में रात्रिभोजन नहीं करने की इच्छा बनी रहेगी। भविष्य में जब अनुकूल संयोग मिलेंगे, आप रात्रिभोजन का त्याग कर देंगे।

आपकी इच्छा है कि प्रतिदिन एक 'सामायिक' की धर्मक्रिया करना, आज आप नहीं कर पा रहे हैं, परन्तु आपकी इच्छा तो बनी रहेगी। आन्तरिक भाव बना रहेगा। जब अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होगी तब आप सामायिक की धर्मक्रिया करने लगोगे। इसी प्रकार दान, शील और तप के विषय में समझ लेना चाहिए। सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

भावना तो जिंदा रहनी ही चाहिए :

यह बात महत्त्वपूर्ण है। जिस धर्म की आप आज पालना नहीं कर सकते हैं, उस धर्म की पालना करने की दृढ़ भावना आपको रखनी चाहिए। उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। आज आप व्रतों का एवं नियमों का पालन नहीं कर पा रहे हैं, परन्तु पालन करने की दृढ़ भावना तो रखनी ही चाहिए। उस भावना को सफल बनाने के लिए एक उपाय है।

भावना को भरीपूरी बनाने के उपाय :

आप जो धर्म-आराधना नहीं कर रहे हैं, वह धर्म-आराधना दूसरा व्यक्ति कर रहा है, आप उसकी प्रशंसा करते रहो। आप उसकी अवसरोचित सेवा करते रहो।

○ आप दान नहीं दे रहे हैं, दूसरे लोग तो दान देते हैं, उनकी आप प्रशंसा करो।

○ आप ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर रहे हैं, दूसरे जो कर रहे हैं, आप उनकी प्रशंसा करो।

○ आप जिनमंदिर में जाकर परमात्मपूजा नहीं कर रहे हैं, दूसरे जो करते हैं, उनकी आप प्रशंसा करो।

○ आप तपश्चर्या नहीं कर रहे हैं, दूसरे जो कर रहे हैं, आप उनकी प्रशंसा करो।

○ आप क्रोध को रोक नहीं सकते हैं, जो रोकते हैं और क्षमा करते हैं, उनकी प्रशंसा करो।

○ आप अभिमान नहीं छोड़ सकते हैं, जो छोड़ सकते हैं, उनकी आप प्रशंसा करो।

○ आप चारित्र्य-धर्म स्वीकार नहीं कर सकते हैं, जो करते हैं उनकी आप प्रशंसा करो।

○ आप साधुसेवा नहीं कर सकते हैं, जो करते हैं उनकी आप प्रशंसा करो।

○ आप धन-संपत्ति की ममता का त्याग नहीं कर सकते हैं, जो करते हैं उनकी आप प्रशंसा करो।

सहयोगी बनकर धर्म करो :

मात्र प्रशंसा नहीं, अवसर आने पर सेवा भी करते रहो। यदि यह बात आपके घर में शुरू कर दी, तो घर का वातावरण बदल जायेगा। सब एक-दूसरे की प्रशंसा करने लगेंगे। तो फिर झगड़े होने की तो बात नहीं रहेगी। जो व्यक्ति धर्मआराधना करता है, उसकी प्रशंसा करो। जो आराधना नहीं करता है, उसकी निन्दा मत करो। आप जो धर्मआराधना नहीं कर रहे हो, दूसरा व्यक्ति कर रहा है, उसका अवमूल्यन मत किया करो। जैसे-आप तपश्चर्या नहीं करते हैं, आपकी धर्मपत्नी तपश्चर्या करती है, तो आप तपश्चर्या का अवमूल्यन मत करें। 'तपश्चर्या करने से क्या? मैं तप करने में नहीं मानता... शरीर को कष्ट क्यों देना? तप करने से ही क्या मोक्ष मिल जाता है?....' ऐसी बातें नहीं करनी चाहिए। आजकल लोगों का कुछ ऐसा ही रवैया बन गया है। जो अच्छा कार्य मनुष्य स्वयं नहीं करता है, दूसरा करता है...

तब उस अच्छे कार्य की कटु आलोचना कर देता है। आलोचना कर के वह अपने आपको कुछ महत्त्वपूर्ण व्यक्ति समझने लगता है। यह बहुत बुरी आदत है। इससे पापकर्मों का बंधन तो होता ही है, समाज में अच्छे कार्यों के प्रति लोकचाहना कम होती है। ज्यादातर वे लोग ही अच्छे कार्यों की, धर्मकार्यों की निन्दा करते हैं या कटु आलोचना करते हैं, जो स्वयं अच्छे कार्य नहीं करते हैं, अथवा जो ईर्ष्या से जलते होते हैं।

अनुमोदना भी बड़ा धर्म है :

जिस धर्म की आराधना आप नहीं करते हैं, आपका ८/१० साल का बच्चा कर रहा है, आप उसकी प्रशंसा करते रहें। आप देखना, उसका उत्साह बढ़ता रहेगा और धर्म के प्रति लगाव भी बढ़ता रहेगा। वह भी दूसरों के धर्मकार्यों की प्रशंसा करना सीखेगा। शत्रु के भी धर्मकार्यों की प्रशंसा करनी चाहिए। परन्तु वह प्रशंसा प्रसंगोचित होनी चाहिए। सुयोग्य व्यक्ति के सामने करनी चाहिए। जो दूसरों की प्रशंसा सुनकर खुश होते हो उनके सामने प्रशंसा करनी चाहिए। प्रशंसा करने में कृपण नहीं बनना चाहिए।

जिनागमों का, धर्मग्रंथों का श्रवण-मनन करते करते सूक्ष्म तत्त्वों का बोध प्राप्त करना चाहिए। जिन्होंने धर्मग्रंथों का अध्ययन-चिंतन-मनन कर के सूक्ष्म-सूक्ष्मतर तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त किया हो, वैसे गुरुदेवों का सान्निध्य प्राप्त करना चाहिए और उनसे वैसा ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

यह कार्य सभी लोग नहीं कर सकते हैं, यह स्वाभाविक है। सभी लोग गहन तत्त्वचिंतन नहीं कर सकते, परन्तु जो बुद्धिमान् है, जिसको श्रुतसागर में गोता लगाना है और ज्ञानानन्द का अनुभव करना है, उसको तो अगम-अगोचर तत्त्वों को पाने का प्रयत्न करना ही चाहिए। ज्ञानी गुरुदेव से शंकाओं का समाधान भी करना चाहिए। शंकाओं का समाधान होने पर तत्त्वनिर्णय हो सकता है। तत्त्वनिर्णय करना बुद्धिमान् लोगों के लिए बहुत आवश्यक है। तत्त्वों के निर्णयों का स्मृति में संग्रह कर लेना चाहिए। वे निर्णय विस्मृत नहीं होने चाहिए।

यह सब गृहस्थ जीवन में भी संभव है :

सभा में से : क्या हमारे गृहस्थ जीवन में यह संभव हो सकता है?

महाराजश्री : क्यों नहीं? असंभव जैसी बात लगती है क्या? जहाँ अभिरुचि

होती है, तत्परता होती है, वहाँ कुछ भी असंभव नहीं लगता है। ज्ञान-सम्यग् ज्ञान पाने की तीव्र अभिरुचि पैदा नहीं हुई है इसलिए असंभव लगता है। पैसा कमाने में कैसी अभिरुचि है? दिन-रात अर्थपुरुषार्थ करते थकते हो? ज्यों-ज्यों पैसे बढ़ते हैं त्यों-त्यों आनन्द बढ़ता है न? हालाँकि श्रावक-श्राविका का आनन्द धर्मवृद्धि से बढ़ता है, नहीं कि धनवृद्धि से। फिर भी धनवृद्धि में तत्परता होने से कुछ भी असंभव नहीं लगता है। ज्ञानवृद्धि में तत्परता आने दो, फिर कुछ भी असंभव नहीं लगेगा।

धार्मिक प्रवचन सुन लेने मात्र से कृतार्थता मत समझो। वह तो पहला कदम है। वह तो केवल दिशानिर्देश है। सुनने के बाद की लंबी प्रक्रिया में से गुजरना पड़ता है। इसमें 'चिन्तन' मुख्य है।

हालाँकि जीवन की अन्यान्य बातों की अपेक्षा सोचने की प्रक्रिया पर सामान्यतः कम ध्यान दिया गया है। चिन्तन का प्रारम्भ मान्यताओं अथवा धारणाओं से होता है। मान्यताओं को या धारणाओं को या तो मनुष्य स्वयं बनाता है अथवा किसी दूसरे से ग्रहण करता है। अथवा तो पढ़ने से, सुनने से या अन्यान्य अनुभवों के आधार पर बनती है। आप यहाँ मेरे पास आये, आपने धर्मप्रवचन सुना... इस पर आपकी कोई धारणा बनेगी, मान्यता बनेगी और उस पर आप चिन्तन कर सकेंगे।

परन्तु, ऐसा स्वस्थ एवं उपयोगी चिन्तन करने के लिए, स्वभावगत दोषों के ढर्रे को तोड़ना पड़ेगा। स्वभावगत दोष है अनुकूल विचार ग्रहण करना, प्रतिकूल विचारों को छोड़ देना! चिन्तन के क्षेत्र में यह दोष हानिकर्ता हैं। चिन्तन के क्षेत्र में तो अनुकूल और प्रतिकूल, दोनों विचारों को अवकाश मिलना चाहिए।

पूर्व मान्यता से मुक्त होकर सुनें :

कुछ लोग अपनी पूर्व मान्यताओं का डिब्बा साथ लेकर यहाँ आते हैं। वे प्रवचन सुनते तो हैं, परन्तु ग्रहण उतना ही करते हैं जो उनकी मान्यता के अनुकूल हो। चिन्तन भी वे अपनी मान्यताओं के दायरे में ही करते हैं। ऐसे लोग नया-नया ज्ञानप्रकाश प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

जैनाचार्यों की हजारों वर्ष की परंपरा ने वेदान्त का चिन्तन भी किया, बौद्धदर्शन का चिन्तन भी किया, योग और चार्वाक का भी चिन्तन किया... क्यों किया? बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे.... क्यों लिखे? चिन्तन-मनन के क्षेत्र में कोई

सीमा का बंधन नहीं है। ज्ञान निःसीम है। हाँ, चिन्तन की दिशा सही होनी चाहिए। स्वस्थ और सही दृष्टिकोण होना चाहिए। चाहे चिंतन निषेधात्मक हो या विधेयात्मक, दृष्टिकोण सही और स्वस्थ होना चाहिए।

एकान्त मान्यताओं के लोह-पिंजड़े में रहा हुआ मनुष्य कभी भी स्वस्थ और सही चिन्तन नहीं कर सकता। परम सत्य को नहीं पा सकता है।

चिन्तन करने के लिए मन की एकाग्रता भी अपेक्षित है। मन का स्वभाव चंचल है। परन्तु वह चंचलता अपरिहार्य नहीं है। चंचलता अभ्यास से मिटायी जा सकती है। मन को अभिप्रेत विषय में चिन्तनकार्य करने को नियन्त्रित किया जा सकता है, विवश किया जा सकता है। अभ्यास-काल में पुनः पुनः वह चंचल बनता रहेगा, परन्तु निरन्तर अभ्यास से वह स्थिर और एकाग्र अवश्य बनेगा।

मन की स्वाभाविक रुग्ण अभिरुचियों को भी बदलना होगा। नयी नीरोगी एवं निर्मल अभिरुचियाँ पैदा करनी होगी। प्रतिदिन धर्मप्रवचनों का श्रवण करने से मन को नयी नयी बातें मिलेंगी और उसका चयन अच्छा बनता जायेगा।

श्रवण के बाद चिन्तन की भूमिका तो बनानी ही पड़ेगी। अन्यथा श्रवण कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखता है। श्रवण और चिन्तन के विषय में विशेष बातें आगे कहूँगा।

आज बस, इतना ही।



- समझ में नहीं आता है आजकल जितनी प्रेरणा, जिनाता उपदेश, विशेष धर्मआराधना या अनुष्ठानों के लिए दिया जाता है... उतनी प्रेरणा या उतना उपदेश सामान्य धर्म जो कि बुनियाद है, उसके लिए क्यों नहीं दिया जाता है?
- ज्ञानशून्य क्रियाजड़ लोग अभिमान के पुतले बने फिरते हैं, वे अपने आपको शायद सर्वज्ञ या सर्वज्ञ के समकक्ष ही मानते हैं। ये लोग धर्म को, परमात्मा के शासन को बड़ा लुकसान करते हैं।
- संतों का संग, मुझपुरुषों का सत्संग तो अमृत है अमृत! जब भी मन व्याकुल बने... चित्त आर्तध्यान की अंधेरी गलियों में भटकने लगे... अविलंब संत पुरुषों के पास चले जाना... अपनी विपदाओं को भुलाकर!
- चिंतन यदि पूर्वग्रहबद्धता से मुक्त है तो ही वह सार्थक है। समझदारी के दीये में ज्ञान का घी डालकर चिंतन की ज्योत जलानी है... यह दीया सदा जलता रहना चाहिए।



परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर, आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रन्थ के पहले ही अध्याय में गृहस्थ जीवन के सामान्य धर्मों का प्रतिपादन किया है। ये सामान्य धर्म, गृहस्थ जीवन की एक ऐसी सुन्दर आचारसंहिता और विचारसंहिता बन सकते हैं कि जिसकी मिसाल दुनिया में अन्यत्र नहीं मिल सकती है।

सामान्य धर्म की उपेक्षा हो रही है :

परन्तु, धर्माचार्यों का एवं धर्मोपदेशकों का जितना ध्यान विशेष धर्मों के प्रति है उतना ध्यान इन सामान्य धर्मों के प्रति नहीं गया है। जितना उपदेश दानधर्म के लिए दिया जाता है, उतना उपदेश न्याय-नीति से अर्थोपार्जन करने के लिए दिया जाता है क्या? जितना उपदेश शील-सदाचार और ब्रह्मचर्य के लिए दिया जाता है उतना जोर-शोर से उपदेश उचित विवाह के विषय में दिया जाता है क्या? जितना उपदेश मंदिरों के निर्माण के लिए दिया

जाता है उतना उपदेश पूजा-पद्धति और पूजक की योग्यता के विषय में दिया जाता है क्या? सामायिक और प्रतिक्रमण जैसी विशिष्ट धर्मक्रियाओं के लिए जितना उपदेश दिया जाता है उतना उपदेश समताभाव एवं पापभीरुता के विषय में दिया जाता है क्या?

परिणाम प्रत्यक्ष है! गृहस्थ जीवन में से सामान्य धर्म लुप्तप्राय हो गये। विशेष धर्मों का पालन अविधियों से होने लगा और क्रिया-जड़ों का अभिमान आसमान को छूने लगा। ज्ञानशून्य क्रिया करनेवाले क्रियाजड़ होते हैं। आता-जाता कुछ नहीं और अभिमान का पार नहीं! जीवन में सामान्य धर्मों का पालन नहीं और 'धर्मात्मा' कहलाना! चल रहा है न ऐसा सब कुछ?

इसलिए कहता हूँ कि प्रतिदिन धर्मग्रन्थों का श्रवण करते रहो। थोड़ा थोड़ा भी शास्त्रज्ञान प्राप्त करो। जीवनस्पर्शी ज्ञान प्राप्त करते रहो। जब-जब ज्ञानी सद्गुरु का संयोग मिले, तब-तब उनसे धर्मोपदेश सुनने का प्रयत्न करें।

जब कभी मन खिन्नता से भर जाय, आप करुणावंत ज्ञानी सद्गुरु के पास पहुँच जाया करें, उनके धर्मोपदेश से आपकी खिन्नता दूर हो जायेगी। प्रफुल्लितता प्राप्त होगी।

जब कभी मन संतप्त हो जाय, आप कोई निष्कारणवत्सल सद्गुरु के चरणों में पहुँच जाया करें, उनके वचनामृत से संताप दूर होंगे और शीतलता प्राप्त होगी।

जब कभी मन व्याकुल बन जाय, आप किसी विषयविरक्त ज्ञानी सद्गुरु के पास चले जायें और उनके चरणों में आत्मनिवेदन करें। उनके आशीर्वचनों से मोहमूढ़ता दूर होगी और ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होगा। श्री 'धर्मबिन्दु' ग्रन्थ की टीका में ही यह बात कही गई है -

क्लान्तमुपोज्जति खेदं तप्तं निर्वाति बुध्यते मूढम्।

स्थिरतामेति व्याकुलमुपयुक्तसुभाषितं चेतः ॥

नरवीर की कहानी :

सद्गुरु का संयोग कभी अचानक प्राप्त हो जाता है, कभी प्रयत्न से खोज करनी पड़ती है। नरवीर, कि जो गुजरात और मालवदेश की 'बोर्डर' पर कुख्यात डाकू था, उसको सद्गुरु का संयोग अचानक मिल गया था। जब नरवीर सर्वहारा बन गया था, उसका सब कुछ नष्ट हो गया था, उसकी

सगर्भा पत्नी की भी हत्या हो गई थी और नरवीर जंगल में प्राण बचाने भटक रहा था तब आचार्यश्री यशोभद्रसूरिजी मिल गये थे! आचार्यदेव जंगल में से गुजर रहे थे अपने शिष्यों के साथ, रास्ते में एक वृक्ष की छाया में नरवीर बैठा था। साधु पुरुषों को देखकर वह खड़ा हो गया और नमस्कार किया। आचार्यदेव खड़े रहे और 'धर्मलाभ' का आशीर्वाद दिया। आचार्यदेव ने नरवीर को देखा, ज्ञानदृष्टि से देखा, उन्होंने नरवीर के भविष्य को उज्ज्वल पाया। उन्होंने करुणाभरे शब्दों में कहा : 'वत्स, तू थका-हारा लगता है। तू बेचैन दिखता है, क्या बात है?'

नरवीर ने कहा : 'महाराज मेरा नाम नरवीर है, मैं कुख्यात डाकू हूँ। आज दिन तक मेरी विजय होती रही, परन्तु आज मैं हार गया हूँ। मेरे सभी साथी मालव सैन्य के हाथों मारे गये... मेरी सगर्भा पत्नी की भी हत्या हो गई... मैं बरबाद हो गया हूँ। परन्तु मैं हाथ जोड़कर बैठा नहीं रहूँगा, मैं बदला लूँगा। मैं मालव देश के गाँवों को जलाऊँगा... हत्या करूँगा।' बोलते-बोलते नरवीर क्रोध से कांपने लगा। आचार्यदेव, शान्ति से सुनते रहे। न घृणा का भाव, न तिरस्कार का भाव! कर्मों के प्रभावों को जानने वाले, कषायों की प्रबलता को जानने वाले... आचार्यदेव, डाकू के प्रति कैसे घृणा करते? उनके हृदय में करुणा की भावना तीव्र हो गई।

उन्होंने कहा : 'नरवीर, पराजय की तेरे दिल पर गहरी चोट पहुँची है... पत्नी की हत्या से तेरा खून खौल उठा है... सही है, कभी पराजित नहीं होने वाला जब पराजित होता है... तब ऐसा होना स्वाभाविक है। तू तो पराक्रमी है... पराक्रमी मनुष्य हारता है तब निराश नहीं होता है... वह पराजय के कारणों को खोजता है। तूने अपने पराजय के कारण खोजे क्या?'

'नहीं, महात्मन्, मैं तो पागल हो रहा हूँ... कुछ भी सोच नहीं सकता।'

बदले की आग कभी बुझती नहीं :

'वत्स, शान्त हो। मैं तुझे कारण बताता हूँ। आज दिन तक, कई वर्षों से तू लूटने का, डाका डालने का दुष्कर्म करता रहा न? तूने हजारों स्त्री-पुरुषों की संपत्ति लूटी, अनेक पुरुषों की हत्याएँ की... इससे हजारों परिवार निराधार बने... औरतें विधवा बनीं... बच्चे अनाथ बने...। तूने और तेरे साथी डाकुओं ने मालवा और गुजरात के कई गाँव जलाये, खेत जलाये...। कितना आतंक फैलाया? तू जरा शान्ति से उन लोगों के दुःख-दर्द का विचार कर। क्या इन घोर पापों की वजह से आज तेरा पराजय नहीं हुआ? तेरी पत्नी की

हत्या भी इसी कारण नहीं हुई क्या? तेरे पापों की यह सजा है - ऐसा समझ ले और चोरी-डाका, हत्या वगैरह पापों का त्याग कर दे।

नरवीर, वैर से वेर बढ़ता है। वैर बढ़ने से अशान्ति, क्लेश और संताप बढ़ता है। क्या यह मानवजीवन ऐसे जीना है? तेरी अन्तरात्मा को पूछ... संतोष है ऐसे जीवन से? वत्स, मेरा कहा मान और अब नया जीवन प्रारम्भ कर। जो पाप किये हैं उनका पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त कर। तुझे शान्ति मिलेगी, समता मिलेगी और प्रसन्नता से शेष जीवन व्यतीत होगा।'

नरवीर एकाग्र मन से आचार्यदेव का उपदेश सुनता रहा। उसके हृदय में ज्ञान का दीपक प्रकट हुआ। उसकी आँखें बरसने लगीं। वह गुरुदेव के चरणों में गिर पड़ा। 'गुरुदेव, आपने मेरे जैसे घोर पापी का उद्धार किया... आज से मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं डाका नहीं डालूँगा, किसी जीव की हत्या नहीं करूँगा। परिश्रम करके आजीविका कमाऊँगा और धर्ममय जीवन व्यतीत करूँगा....। परन्तु गुरुदेव, मैं कहाँ जाऊँ? मेरे जैसे पापी को कौन आश्रय देगा? मेरा नाम सुनकर लोग मुझे पत्थर मारेंगे...।'

आचार्यदेव ने नरवीर को भरसक आश्वासन दिया और आढर श्रेष्ठि के पास भेज दिया। नरवीर का वहाँ नया जीवन शुरू हुआ और आढर श्रेष्ठि के सहवास से वह परमात्मभक्त बना। आप जानते होंगे कि यह नरवीर ही दूसरे जन्म में कुमारपाल बना, जो कि बारहवीं शताब्दी में गुजरात का राजा बना था। कुमारपाल के जीवन में भी अचानक ही उसको सद्गुरु का संयोग मिल गया था। श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी जैसे कलिकालसर्वज्ञ गुरु का संयोग मिलना... महान् पुण्योदय था राजा का।

सत्संग बड़ा कीमती होता है :

सद्गुरु का अचानक संयोग मिलता है, वह पुण्यकर्म के उदय से ही मिलता है। पूर्वजन्मों में जानते-अनजानते साधु-संतों के प्रति आदर, सद्भाव... प्रेम किया हुआ हो, तो वर्तमान जन्म में बिना प्रयत्न सद्गुरु का संयोग मिल सकता है। वैसे वर्तमान जीवन में अथवा आनेवाले भवों में सद्गुरु का संयोग अवश्य मिलेगा।

साधु-संतों के प्रति निष्काम भावना से भक्तिभाव रखने का है। कुछ भी भौतिक कामनाएँ नहीं होनी चाहिए। साधु-संतों के गुणों से एवं उनके निष्पाप जीवन से उनके प्रति प्रीति होनी चाहिए।

सद्धर्म का श्रवण सद्गुरु से ही करना चाहिए। जो स्वयं अपने जीवन में धर्म को जीते हैं, उनसे धर्मश्रवण करने से धर्म हमारे हृदय तक पहुँच सकता है। उनके दो शब्द भी हमारे ज्ञानचक्षु खोल सकते हैं।

चिलातीपुत्र : प्रेमी, खूनी, साधु :

सुषमा का मस्तक काटकर अपने गले से लटका कर वह चिलातीपुत्र नदी के किनारे पर निरपिशाच जैसा भटक रहा था... उस समय अचानक महाज्ञानी चारणमुनि का उसको संयोग मिल गया! कैसी भयानक स्थिति में सद्गुरु का संयोग मिला? जिस सुषमा से वह प्यार करता था और उसको पाने के लिए उसका अपहरण किया था....। अपने कंधे पर उठाकर दौड़ रहा था... परंतु जब उसको लगा कि सुषमा के पिता व चार भाई घोड़े पर बैठकर नजदीक आ रहे हैं... उसने सुषमा की हत्या कर दी....! धड़ रास्ते में छोड़कर, मस्तक अपने गले में बाँध कर वह भागता रहा। रास्ते में नदी आयी... नदी के किनारे पर उसने एक मुनिराज के दर्शन किये। हालाँकि मुनिराज को देखकर उसके हृदय में कोई भक्तिभाव पैदा नहीं हुआ था, परन्तु सहज भाव से वह उनके सामने जाकर खड़ा रहा। उसका मन संतप्त था। वेदना से उसका हृदय तड़प रहा था...। मुनिराज ने ज्ञानदृष्टि से उसको देखा। उन्होंने मात्र तीन शब्द कहे : **‘उपशम, विवेक, संवर!’** तीन शब्द सुनाकर वे आकाशमार्ग से चले गये।

तीन शब्दों का चमत्कार :

चिलातीपुत्र के दिमाग पर तीन शब्द अंकित हो गये। उपशम, विवेक, संवर! उसको अचरज लगा। मुनिराज भी चले गये....। वह गहरे विचार में पड़ गया। हाथ में खून से सनी हुई तलवार है, कपड़े खून से लथपथ हैं... और संवर.... ये तीन शब्द गूँजते हैं! सद्गुरु से तीन शब्दों का उपहार मिला था न? मन में उथल-पुथल मचा दी। भूकंप-सा आ गया हृदय में।

उन्होंने मुझे शम-शान्ति के पास जाने को कहा। अशान्ति के कारणों का विवेक-त्याग करने को कहा और पापप्रवृत्ति-पापविचारों को रोकने के लिए संवर कहा....। अशान्ति का कारण है सुषमा के प्रति मेरा प्रगाढ़ मोह। सुषमा के मुँह का राग... वह मुझे छोड़ना चाहिए?: अब, जब सुषमा ही नहीं रही... मोह रखने से क्या?

चिन्तन की गहराई में वह पहुँच गया। संसार स्वप्नवत् लगा। मोह के सभी बंधन टूट गये और चिलातीपुत्र वीतराग बन गये।

सद्गुरु के तीन शब्दों ने कैसा चमत्कार कर दिखाया? परन्तु चमत्कार तब घटा, जब सुननेवाले ने सुनकर छोड़ नहीं दिये वे शब्द, परन्तु उस पर चिन्तन किया। शब्दों को सुनकर यदि छोड़ दिया होता तो ऐसा चमत्कार संभव नहीं था। शब्दों को सुनकर यदि निषेधात्मक चिन्तन करते, तो भी यह चमत्कार संभव नहीं होता। निषेधात्मक चिन्तन किसको कहते हैं, जानते हो? 'मुनि ने कह दिया उपशम-विवेक-संवर...! आ-हा-हा, मेरे जैसे डाकू के जीवन में कैसे शान्ति संभव है? कैसे त्याग संभव है? कैसे संवर संभव है? भई.... अपने से तो यह कुछ भी हो नहीं सकता... मुनि भी आकाश में उड़ गये... चलो, काम पूरा हुआ....।'।

यह है एक प्रकार का निषेधात्मक चिन्तन। जीव में, मनुष्य में यदि सरल बुद्धि नहीं होती है, वक्रता होती है, तो वह इस प्रकार निषेधात्मक चिन्तन करता रहेगा। आत्मविकास की यात्रा में निषेधात्मक चिंतन बाधक बनता है। आत्मविशुद्धि के मार्ग में अवरोधक बनता है।

ऋषभदेव ने पुत्रों को समझाया :

भगवान् ऋषभदेव ने जब संसार-त्याग कर श्रमण जीवन अंगीकार किया था उस समय अपने सौ पुत्रों को राज्य बाँटकर दिया था। सबको स्वतंत्र राज्य प्रदान किया था। सबसे बड़ा पुत्र था भरत। भरत सार्वभौम चक्रवर्ती होने जा रहा था। समग्र भारत पर उसे विजय पानी थी। चक्रवर्ती के रूप में उसका राज्याभिषेक तब हो सकता था, जब 'चक्ररत्न' उसकी आयुधशाला में प्रविष्ट हो। चक्ररत्न देवाधिष्ठित शस्त्र होता था। जब चक्ररत्न आयुधशाला में प्रविष्ट नहीं हुआ, भरत के मन में चिन्ता हुई। महामन्त्री ने कहा : 'जब तक आपके ९९ भ्राता आपके आज्ञांतिक नहीं बनेंगे तब तक चक्ररत्न आयुधशाला में नहीं प्रविष्ट होगा।' भरत ने अपने दूतों को ९९ भाइयों के पास भेजा।

बाहुबलि ने तो दूत की बात सुनकर, उसकी भर्त्सना कर वापस भेज दिया। भरत की आज्ञा मानने से इनकार कर दिया। दूसरे ९८ भाइयों को भी भरत का संदेश सुनकर क्रोध आ गया। क्यों ऐसा हुआ आप समझते हैं क्या? ९९ भाइयों ने भरत का संदेश सुनकर निषेधात्मक चिंतन किया। 'पिताजी ने हम सबको स्वतंत्र राज्य दिया है, हम भरत की पराधीनता नहीं स्वीकारेंगे।'।

बाहुबली तो युद्ध के लिए तैयार हो गये। ९८ भाइयों ने भी मिलकर भरत के साथ युद्ध करने का निर्णय कर लिया। परन्तु ९८ भाइयों के मन में विचार

आया, 'अपना यह निर्णय ठीक तो है न? क्यों न अपन पिताजी की राय लें?' ९८ भाइयों ने भगवान ऋषभदेव के पास जाने का और उनकी राय लेने का निर्णय किया।

९८ भाई भगवान् ऋषभदेव के पास पहुँचे। जाकर सारी परिस्थिति बता दी और पूछा : 'भगवन्, हमने मिलकर भरत के साथ युद्ध करने का सोचा है, यह निर्णय उचित है न?'

आप लोग समझे न? ९८ भाई चलकर सद्गुरु के पास गये! सामने यथार्थ परिस्थिति सुना दी। हालाँकि भगवंत तो ज्ञानी थे। केवलज्ञानी थे। ९८ पुत्रों के मन के विचारों को भी जान सकते थे। फिर भी ९८ भाइयों ने सब बात सरलता से कह दी। भगवंत ने कहा :

'महानुभावो, तुम्हें भरत दुश्मन लगता है, चूँकि वह तुम्हारी स्वाधीनता छीनना चाहता है। तुम पराधीन बनना नहीं चाहते, ठीक है, कोई भी मनुष्य पराधीनता नहीं चाहता है। परन्तु, वास्तव में स्वाधीनता क्या है और पराधीनता क्या है, वह मैं तुम्हे समझाता हूँ।

तुम्हारी आत्मा अनन्त कर्मों से बँधी हुई है। कर्मों से उत्पन्न क्रोध-मान-माया-लोभ से बँधी हुई है। जिस प्रकार कर्म जीव को नचाते हैं उस प्रकार जीव नाचता है। कर्म राग-द्वेष करवाते हैं, कर्म हर्ष-शोक करवाते हैं, कर्म रोगी-नीरोगी बनाते हैं, कर्म निर्धन-धनवान बनाते हैं, कर्म ही रुलाते हैं और कर्म ही हँसाते हैं, कर्म ही कुरुपता देते हैं और कर्म ही रूप-लावण्य देते हैं। कर्मों से ही यश-अपयश मिलता है और कर्मों से ही सौभाग्य-दुर्भाग्य मिलता है। अब कहो, तुम स्वाधीन हो या पराधीन? तुम्हारी आत्मा अपने स्वरूप में निर्बन्धन है, मुक्त है, परन्तु अनादि-काल से कर्मसंयोग है, उस कर्मसंयोग से पराधीनता है।

यदि वास्तव में तुम सब स्वाधीनता चाहते हो तो कर्मों से लड़कर स्वाधीन बनो। भरत से लड़ना व्यर्थ है। राज्य और राज्य की स्वाधीनता भी व्यर्थ है। क्षणिक है, अल्पजीवी है। भरत स्वयं पराधीन है, वह तुम्हें कैसे पराधीन बनायेगा। उसके कर्म उसे बना रहे हैं। तुम इस मनुष्यजीवन को ऐसे बाह्य युद्धों में नष्ट मत करो। इस जीवन को तो कर्मों के सामने युद्ध करने का मैदान बना दो।'

९८ भाई तन्मयता से भगवंत की बातें सुन रहे हैं। बातें उनके हृदय को छू

रही हैं। ये विधेयात्मक चिंतन की गहराई में पहुँचते हैं। आत्मानंद की अनुभूति करने लगते हैं।

९८ भाइयों ने कर्मों की पराधीनता तोड़ने के लिए संसार का त्याग किया... वे श्रमण बन गये! भगवान् ऋषभदेव के पास रहकर उन्होंने ज्ञान-ध्यान और तपश्चर्या से कर्मों के बंधन तोड़ने शुरू किये।

चिंतन भी विधेयात्मक चाहिए :

सोचो, शान्त दिमाग से सोचो आप लोग। धर्मश्रवण के बाद चिन्तन करना, विधेयात्मक चिन्तन करना कितना महत्त्वपूर्ण है! गये थे वे भरत से न्याययुद्ध करने की अनुमति लेने और बन गये श्रमण, कर्मों के साथ युद्ध करने के लिए! विधेयात्मक चिंतन का वह शुभ परिणाम था।

बाहुबली तो भगवान् के पास गये ही नहीं! उन्होंने तो भरत के साथ भयानक संग्राम खेला! संग्राम करते करते... मन में अचानक चिंतन उमड़ पड़ा...! जिस मुष्टि से भरत पर प्रहार करने दौड़े थे उसी मुष्टि से उन्होंने अपने सिर के बालों का लुंघन कर डाला और युद्धभूमि पर वे श्रमण बनकर खड़े रह गये। श्रवण से ही चिंतन हो, ऐसा नियम नहीं है। बिना धर्मश्रवण भी, आत्मा में स्वयंभू चिंतन प्रकट हो सकता है।

बाहुबली श्रमण बनकर वहीं ही खड़े रह गए! वे भगवान् ऋषभदेव के पास नहीं गये! क्यों नहीं गये, वह बात जानते हो न? चूँकि वहाँ जाने पर ९८ भाइयों को, जो कि केवलज्ञानी बन गये थे, उनको वंदन करना पड़ता! श्रमण जीवन का वैसा व्यवहार होता है। उन्होंने निषेधात्मक रूप से सोचा : 'अभी मैं भगवंत के पास नहीं जाऊँगा, वहाँ जाने से मेरे छोटे ९८ भाइयों को वंदना करनी पड़ेगी...! मुझे केवलज्ञान होगा, तब जाऊँगा...! तब मुझे किसी को वंदन नहीं करना होगा!'

उस समय उनको कौन वहाँ समझाने वाला था कि जब तक आपके मन में इस प्रकार का निषेधात्मक चिंतन रहेगा तब तक आपको केवलज्ञान होनेवाला ही नहीं है! केवलज्ञान होता है विधेयात्मक धर्मचिंतन से।'

जिन्होंने अल्प क्षणों के धर्मचिंतन से राज्य का त्याग कर दिया, वैषयिक सुखों का त्याग कर दिया... भरत के प्रति जो रोष था, उस रोष का त्याग कर दिया और जो श्रमण-अणगार बन गये... वे मान-अभिमान का त्याग नहीं कर पाये! 'मैं बड़ा हूँ और मेरे ९८ भाई छोटे हैं...' यह बड़प्पन का खयाल भी

अभिमान है। अभिमान को हृदय में लिए वे वहाँ बारह वर्ष तक खड़े रहे! शीत में, धूप में और वर्षा में... न भोजन, न पानी... कुछ भी नहीं। फिर भी केवलज्ञान नहीं हुआ उनको।

जब साध्वी ब्राह्मी और साध्वी सुन्दरी ने आकर बाहुबली को कहा : 'हमारे भैया, अब तो हाथी से नीचे उतर जाइये...!' बाहुबली ने सुना और चिन्तन शुरू हुआ : 'क्या मैं हाथी पर खड़ा हूँ? नहीं, नहीं, मैं तो जमीन पर खड़ा हूँ... तो फिर ये साध्वी मुझे हाथी पर से नीचे उतरने को क्यों कह रही है? ये तो सत्यवचना साध्वी है। ओ हो.... समझ गया मैं। मान-अभिमान ही तो हाथी है। मैं अभिमान के हाथी पर बैठा हूँ...। मुझे अभिमान छोड़ना चाहिए....। सच कहा साध्वी ने! मेरी आँखें खोल दीं। कौन छोटा और कौन बड़ा? मेरे ९८ भाई केवलज्ञानी हैं... वे मेरे से बड़े हैं....। मैं अभी चलता हूँ और जाकर भाइयों को वंदना करूँगा...।'।

ज्यों ही उन्होंने कदम उठाया... उनको केवलज्ञान हो गया! वे सर्वज्ञ-वीतराग हो गये! विधेयात्मक चिन्तन का यह परिणाम था। इसलिए ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि धर्मश्रवण के बाद धर्मचिंतन करते रहो।

धर्मचिंतन-विधेयात्मक चिंतन तभी हो सकेगा, जब आप पूर्वाग्रहों से, दुराग्रहों से और हठाग्रहों से मुक्त होंगे। जो मनुष्य पूर्वाग्रहों से बद्ध होता है या दुराग्रहों से ग्रस्त होता है, वह जो कुछ भी सुनेगा, उस पर अपने आग्रहों के माध्यम से ही सोचेगा। सत्य के माध्यम से वह नहीं सोच पायेगा। पूर्वाग्रही मनुष्य कितने ही वर्ष तक धर्मश्रवण करता रहे, तीर्थंकर के मुख से धर्मोपदेश क्यों न सुनता हो - वह कभी भी विधेयात्मक चिंतन नहीं कर पायेगा। उसकी आत्मा का शुद्धीकरण हो ही नहीं सकता। श्रमण भगवान् महावीरस्वामी के समवसरण में ऐसे पूर्वाग्रही अनेक विद्वान् आते थे। वे सुनते थे, एकाग्रता से सुनते थे, महावीर की वाणी बहुत अच्छी-प्रिय लगती थी, परन्तु उन लोगों का चिंतन महावीर से विपरीत ही होता था! चूँकि वे पूर्वाग्रही थे।

सभी सुनने के लिए नहीं आते! :

महाराजश्री : महावीर क्या कहते हैं? कैसे तर्क देते हैं? कैसे उदाहरण देते हैं.... यह सब जानने के लिए आते थे। और, महावीर की विभूति देखने का भी आकर्षण होगा। आते तो थे, पाते कुछ नहीं थे। आज भी ऐसे श्रोता होते हैं, देखे हैं मैंने। वे कुछ पाने को नहीं आते, केवल मनोरंजन के लिए आते

हैं, छिद्रान्वेषण के लिए आते हैं या तो समय व्यतीत करने को आते हैं। पूर्वाग्रही लोगों की बुद्धि कुंठित होती है। उन्होंने जितना समझा हुआ होता है, इससे ज्यादा वह कुछ भी समझना नहीं चाहते। उनकी समझदारी से विपरीत कोई बात सुनते हैं तो उनसे बर्दास्त नहीं होती है। वे सर्वज्ञ की तरह आलोचना करने लगते हैं। स्वयं शास्त्रज्ञ नहीं होते हुए भी 'सर्वशास्त्रविशारद' की तरह बातें करते हैं। कैसी हास्यास्पद बातें होती हैं उनकी! मिथ्या गर्व किये फिरते रहते हैं।

प्रतिदिन धर्मश्रवण करनेवालों में इस रोग की संभावना ज्यादा रहती है। वे लोग अपनी बुद्धि से सोचते ही नहीं हैं! मात्र शब्दों को पकड़ लेते हैं, तात्पर्यार्थ से दूर रहते हैं। इसलिए आप लोगों को कहता हूँ कि आप लोग इस रोग से बचे रहना। धर्मश्रवण कुछ आन्तरिक धन प्राप्त करने की दृष्टि से करें। भीतर के क्रोध-मान-माया, लोभ इत्यादि दोषों को दूर करने की दृष्टि से धर्मश्रवण करते रहें।

श्री इन्द्रभूति गौतम भगवान् महावीर के पास गये थे अभिमान से, वाद-विवाद करने की इच्छा से, परन्तु उनमें पूर्वाग्रह या दुराग्रह नहीं थे। भगवंत ने उनके मन के संशय को बता दिया और संशय का निराकरण कर दिया... बस, अपने पूर्व खयालों को झटक कर भगवंत के चरणों में जीवन समर्पण कर दिया। श्री इन्द्रभूति गौतम कोई सामान्य विद्वान् नहीं थे।

वेदों के पारगामी असाधारण ब्राह्मण विद्वान् थे। उनका कैसा विधेयात्मक चिंतन होगा? वैसे, दूसरे भी १० प्रतिभाशाली ब्राह्मण विद्वान् भी कितने निराग्रही और सरल होंगे? ज्यों-ज्यों भगवंत ने उनके मन की शंकाएँ दूर कीं, वे परमात्मा के शिष्य बनते गये। उन्होंने परम सत्य पा लिया।

धर्मश्रवण और चिंतन के विषय में कुछ विस्तार से बातें बतायी हैं। आप सब प्रतिदिन सद्गुरु से धर्मश्रवण करते रहें और चिंतन-मनन कर अपनी आत्मा को निर्मल बनाते रहें - यही मंगल कामना।

आज बस, इतना ही।



- औरों को नुकसान पहुँचाने की भावना अति निकृष्ट है। मैत्रीभाव का अभाव ही ऐसी स्थिति के लिए जिम्मेदार है।
- हमें मिलनेवाला सुख जब औरों को मिल जाता है... हमें नहीं मिलता है, तब हम बौखला उठते हैं, सामनेवाले को नीचा दिखाने की कोशिश करते हैं।
- हमें सुख या दुःख मिलता है हमारे ही पूर्वजन्म के पाप-पुण्य के कारण।
- निरपराधी, बेगुनाह जीवों को दोषित मानना... मनवाना बड़ा भारी पाप है! यह पाप जन्म-जन्म तक पीछा नहीं छोड़ता है।
- कोई यदि गुनाह करता भी है तो हम कौन होते हैं उसे सजा देनेवाले? हमें अपनी आत्मा का सोचना है। औरों का न्याय तोलने के बजाय हम अपना न्याय करें जरा!
- गुजरात के कई गाँवों में ऐसे प्रयोग हुए हैं...सद्भावभरे व्यक्तियों की प्रेरणा पाकर चोर भी सुधर गए! सारा गाँव सुधर गया। अपराधीजनों के प्रति भी भाव करुणा रखना है।



परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मविन्दु' ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में, गृहस्थ जीवन के सामान्य धर्मों का प्रतिपादन किया है। ३१वाँ सामान्य धर्म है : सभी कार्यों में अभिनिवेश का त्याग। 'अभिनिवेश' की परिभाषा टीकाकार आचार्यश्री ने बहुत ही सुन्दर की है -

'नीतिमार्गमनागतस्यापि पराभिभवपरिणामेन कार्यस्यारम्भोऽभिनिवेशः'

दूसरे जीवों का पराभव करने की इच्छा से अनीतिपूर्ण कार्य का प्रारम्भ करना, अभिनिवेश है।

जब किसी व्यक्ति से शत्रुता होती है, वैर की भावना बन जाती है या ईर्ष्या पैदा होती है... तब उस व्यक्ति का पराभव करने की इच्छा जगती है। उस व्यक्ति को आर्थिक हानि पहुँचाने की दुष्ट भावना पैदा होती है। उसको पारिवारिक नुकसान पहुँचाने का इरादा बनता है। उस पर झूठा आरोप

मढ़कर उसे बदनाम करने की दुष्ट इच्छा जाग्रत होती है। जब ऐसी दुष्ट भावनाएँ जगती हैं तब परिणाम का विचार नहीं आता है। पाप-पुण्य के विचार भी नहीं आते हैं। अरे, वर्तमान जीवन के अनर्थों का विचार भी नहीं आता है।

इसलिए तो ज्ञानीपुरुषों ने मैत्री-भावना को हृदयस्थ करने का उपदेश दिया है। 'सभी जीव मेरे मित्र हैं, मेरा कोई शत्रु नहीं है,' इस भावना से प्रतिदिन भावित बनने का उपदेश दिया है। इस भावना को आत्मसात् कर लेनी चाहिए। फिर भी, किसी से वैर-विरोध हो भी गया, तो शीघ्र क्षमायाचना करके वैर-विरोध को मिटा देना चाहिए। वैर-विरोध की भावना को बढ़ने देना नहीं चाहिए। यदि वह भावना बढ़ती है तो अनेक अनर्थ पैदा कर देती है।

ईर्ष्या से अभिनिवेश बढ़ता है :

सीताजी का सुख देखकर दूसरी रानियों के मन में ईर्ष्या पैदा हुई थी। 'त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र' ग्रन्थ में श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी ने लिखा है कि श्री रामचन्द्रजी की चार रानियाँ थीं। सीताजी के प्रति श्री रामचन्द्रजी का प्रगाढ़ प्रेम था, दूसरी रानियों से वह सहा नहीं गया। उन्होंने सीताजी के व्यक्तित्व को कलंकित करने का सोचा।

दूसरों का सुख देखकर खुश होनेवाले लोग कितने? मध्यस्थ रहनेवाले कितने और ईर्ष्या से जलनेवाले कितने? इस दुनिया में ईर्ष्या से जलनेवालों की संख्या ही ज्यादा होगी। प्रमोदभावना आप लोगों में बड़ी मुश्किल से पाई जाती है। भाई का सुख देखकर भाई राजी नहीं दिखता, भाई का सुख देखकर बहन राजी नहीं दिखती। मित्र का सुख देखकर मित्र खुश नहीं। पुत्र का सुख देखकर पिता खुश नहीं! प्रमोदभावना जैसे गुफा में चली गई है। देखो तो सही, श्री रामचन्द्रजी की रानियों में भी ईर्ष्या की आग सुलग रही है। सीताजी के व्यक्तित्व को गिराकर, श्री राम से उनको दूर करने के लिए अनीतिपूर्ण उपाय करती हैं।

कपट से, सीताजी के हाथों रावण के पैरों का चित्र बन गया और उस चित्र के माध्यम से सीताजी को समग्र अयोध्या में बदनाम किया। 'सीता तो दिन-रात रावण का ध्यान करती है... रावण के विचारों में खोयी-खोयी रहती है... रावण के चित्र बनाती रहती है।' सामान्य जनता तो जो बात सुनती है उसको सच मान लेती है और चर्चा करती रहती है। 'रावण के वहाँ इतने समय रहने पर सीता का शील अखंडित नहीं रह सकता...।' अयोध्या के घर-घर में ऐसी बातें होने लगीं। बात श्री रामचन्द्रजी के पास पहुँची। रघुकुल की

इज़्ज़त को बट्टा लगता हुआ देखकर उन्होंने भी जल्दबाजी की, सीताजी का जंगल में त्याग करवा दिया।

वे तीन सौतन रानियाँ उस दिन कितनी खुश हुई होंगी? सीताजी का पराभव देखकर और अपनी अन्यायपूर्ण चाल सफल होने पर उन रानियों की खुशी का पार नहीं रहा होगा।

ऋषिदत्ता की कहानी :

कावेरी नगरी की राजकुमारी रुक्मिणी ने जब सुना कि राजकुमार कनकरथ ने रास्ते में ही एक ऋषिकन्या के साथ शादी कर ली है और वह वापस लौट गया है। रुक्मिणी को गहरा सदमा पहुँचा। ऋषिकन्या के प्रति ईर्ष्या... शत्रुता पैदा हुई। हालाँकि ऋषिकन्या ने उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ा था! परन्तु रुक्मिणी का सोचना ही गलत था न! 'मेरे साथ शादी करने के लिए राजकुमार यहाँ आ रहा था... रास्ते में उस जादूगरनी ऋषिकन्या ने उसको सम्मोहित कर दिया... राजकुमार ने उसके साथ शादी कर ली और मैं यहाँ इन्तजार करती बैठी रही...।'

वास्तव में बात ही दूसरी थी। ऋषिकन्या ने राजकुमार को सम्मोहित नहीं किया था, परन्तु राजकुमार स्वयं ऋषिकन्या पर मोहित हो गया था। ऋषिकन्या का नाम था ऋषिदत्ता। अपने पिता राजर्षि के पास जंगल के आश्रम में रहती थी। जन्म देने के बाद तुरन्त ही रानी की मृत्यु हो गई थी। राजर्षि ने ही उसका लालन-पालन किया था। राजर्षि ने ही राजकुमार कनकरथ के साथ ऋषिदत्ता की शादी कर दी थी। शादी के बाद कुछ समय आश्रम में रह कर, ऋषिदत्ता को लेकर कनकरथ अपने नगर में चला गया था।

ऋषिदत्ता के प्रति सारे राजमहल की प्रीति बन गई थी। सारे नगर में उसकी कीर्ति फैल गई थी... परन्तु रुक्मिणी के हृदय में शत्रुता की आग सुलग रही थी। ऋषिदत्ता का पराभव करने का, उसको 'राक्षसी' के रूप में बदनाम करने का षड्यंत्र बनाया। इसी को कहते हैं अभिनिवेश। ग्रन्थकार आचार्यदेव ऐसे अभिनिवेश का त्याग करने को कहते हैं। गृहस्थ जीवन में अभिनिवेश अच्छा नहीं है। इससे द्वेष पुष्ट होता है। अशान्ति, बेचैनी बढ़ती है। प्रगाढ़ पापकर्म बंधते हैं। अनेक जन्मों तक अनन्त दुःख सहन करने पड़ते हैं। परन्तु रुक्मिणी को ये सारी बातें कौन बतानेवाला था? उसने तो सुलसा नाम की जोगन के साथ दोस्ती कर ली थी।

सुलसा जोगन मांत्रिक थी। ऋषिदत्ता के विषय में रुक्मिणी ने सारी बात

सुलसा को बता दी और कहा : 'जब तक राजकुमार को ऋषिदत्ता के प्रति प्रगाढ़ प्रीति है तब तक वह मेरे साथ शादी नहीं करेगा। ऋषिदत्ता से उसकी प्रीति टूट जाय... वैसा करना चाहिए।' सुलसा को अनेक प्रलोभन देकर, ऋषिदत्ता को कलंकित करने को भेज दी। सुलसा ने अपनी मंत्रशक्ति से, प्रतिदिन नगर में एक-एक मनुष्य की हत्या करना शुरू किया और दूसरी तरफ ऋषिदत्ता का मुँह खून से रंगने लगी। उसके तकिये के पास मांस के टुकड़े रखने लगी। वह ऐसा सिद्ध करना चाहती थी कि 'ऋषिदत्ता रोजाना एक मनुष्य की हत्या कर उसका मांस खाती है और खून पीती है। ऋषिकन्या राक्षसी है।'।

उसका षड्यंत्र सफल हुआ। राजकुमार कनकरथ ने तो समझ लिया था कि ऋषिदत्ता को बदनाम करने का कोई दैवी प्रयोग हो रहा है। ऋषिदत्ता जो कि जमीनकंद भी नहीं खाती है, रात्रिभोजन नहीं करती है, वह मांसाहार कभी नहीं कर सकती। उसकी संपूर्ण निर्दोषता उसकी आँखों में दिखती है।

परन्तु राजा हेमरथ ने गुप्तचरों के द्वारा तलाश करवाई और ऋषिदत्ता का मुँह खून से सना हुआ देखा...तकिये के पास मांस के टुकड़े देखे...उन्होंने ऋषिदत्ता को राक्षसी कहकर जल्लादों को सौंप दिया। सारे नगर में ऋषिदत्ता को राक्षसी बनाकर घुमायी गई और जल्लाद उसको श्मशान में ले गये। हालाँकि जल्लादों ने उसका वध नहीं किया, वह बच गयी। परन्तु एक बार रुक्मिणी का षड्यंत्र सफल हो गया। जब सुलसा जोगन ने जाकर रुक्मिणी को सफलता के समाचार दिये होंगे...तब उसको कितनी खुशी हुई होगी? यह है अभिनिवेश।

बाद में रुक्मिणी के साथ राजकुमार की शादी भी हुई, परन्तु रुक्मिणी के मुँह से ही सारा षड्यंत्र खुला हो गया। राजकुमार ने उसको धुत्कार दिया और स्वयं अग्निस्नान करने तैयार हो गया। उस समय योगी के वेश में रही हुई ऋषिदत्ता प्रगट हुई और उसने राजकुमार को समझाकर रुक्मिणी को क्षमा प्रदान करवायी। ऋषिदत्ता के मन में कोई अभिनिवेश नहीं था। स्वयं ऋषिदत्ता ने रुक्मिणी को क्षमा कर दिया और अपनी बहन बनाकर साथ ले लिया। रुक्मिणी ऋषिदत्ता की उदारता देखकर, क्षमाशीलता देखकर चकित रह गई और उसके प्रति अपार कृतज्ञभाव व्यक्त करने लगी।

ऋषिदत्ता की कहानी आप लोग अवश्य पढ़ें। हिन्दी और गुजराती भाषा में वह छप भी गई है। 'नैन बहे दिन रैन' पुस्तक का नाम है। हर स्त्री को वह कहानी पढ़ने जैसी है।

दूसरे लोग जो कि निर्दोष होते हैं, निरपराधी होते हैं, उनका पराभव करने

की, बदनाम करने की भावना रखना, बहुत बुरा काम है। पराभव करने के लिए अन्यायपूर्ण तरीकों को अपनाना... अधम से अधम काम है। ऐसे कार्य करनेवालों का मन सतत अशान्त, उद्विग्न और भयभीत रहते हैं। उनके परिवार के लोग भी परेशान रहते हैं। कभी कभी तो ऐसे षड्यंत्रों में पूरा परिवार नष्ट हो जाता है। पारिवारिक संबंध नष्ट हो जाते हैं। अभिनिवेश किसी भी परिस्थिति में उपादेय नहीं है। इससे कोई लाभ नहीं है। सद्गृहस्थ के जीवन में यह होना ही नहीं चाहिए।

अभिनिवेश का मूल ईर्ष्या है। जिसके प्रति ईर्ष्या पैदा होती है उसका पराभव करने की इच्छा होती है। शक्ति नहीं हो और पराभव नहीं कर सके, वह बात दूसरी है। शक्ति एवं संयोग मिलने पर क्या पराभव करना छोड़ोगे?

पेथड़शाह की बात :

मांडवगढ़ के राजा श्री राम की रानी कदंबा, पट्टरानी लीलावती के प्रति ईर्ष्या से जल रही थी। कदंबा लीलावती का पराभव करना चाहती थी, लीलावती के व्यक्तित्व को गिराना चाहती थी। राजा का लीलावती के प्रति ज्यादा प्रेम था, ज्यादा लगाव था, यह बात कदंबा से सहन नहीं होती थी। लीलावती का सुख उससे देखा नहीं जाता था। लीलावती के चरित्र को गिराने की युक्ति वह खोजती रही। एक दिन उसको अवसर मिल गया। लीलावती को बुखार आया था। वैद्यों के उपचारों से बुखार नहीं उतर रहा था। महामंत्री पेथड़शाह की पत्नी पद्मश्री से लीलावती की मैत्री थी। पैथड़शाह ब्रह्मचर्य का मन-वचन-काया से पालन कर रहे थे। पेथड़शाह के प्रभुपूजन के वस्त्र, उसके ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन से प्रभावशाली बने हुए थे। वह पूजा की शाल पद्मश्री ने लीलावती को दी थी। वह शाल ओढ़कर लीलावती सोई हुई थी। कदंबा को यह बात मालूम हो गई थी। उसने राजा के कान भर दिये। 'महाराजा, आपको तो महामंत्री और लीलावती पर पूरा भरोसा है... उन दोनों पर आपका सम्पूर्ण विश्वास है, परन्तु आप जानते नहीं, उन दोनों में कैसी प्रेमलीला चल रही है। महामंत्री की शाल ओढ़े बिना तो लीलावती को नींद नहीं आती है... देखना हो तो जाकर प्रत्यक्ष देख लें।'।

लीलावती ने महामंत्री की जो शाल ओढ़ी थी, वह शाल राजा ने ही महामंत्री को भेंट की हुई थी। राजा ने शाल को पहचान लिया। राजा के हृदय में रानी के प्रति और महामंत्री के प्रति घोर तिरस्कार पैदा हुआ। रानी को देशनिकाला दे दिया। महामंत्री के साथ बोलने का व्यवहार बंद कर दिया।

महामंत्री को तो राजा देशनिकाला दे नहीं सकता था...चूँकि महामंत्री राज्य में अत्यन्त लोकप्रिय थे और राज्य के आधार भी वे ही थे।

लीलावती के चरित्र का हनन हुआ... उसको सजा हुई...इससे कदंबा को बड़ी खुशी हुई। अभिनिवेश वाले मनुष्य को इसमें खुशी होती है। दूसरों को दुःखी करके वे खुश होते हैं। परन्तु वह खुशी क्षणिक होती है। उन लोगों की सफलता भी क्षणिक होती है। लीलावती का कुछ नहीं बिगड़ा और महामंत्री का भी कुछ नहीं बिगड़ा। जब सत्य प्रकाशित हुआ... लीलावती पुनः पटरानी बन गई और कदंबा को अपने मायके भाग जाना पड़ा। महामंत्री का प्रभाव ज्यादा बढ़ गया। लीलावती श्री नमस्कार महामंत्र की परम उपासिका बन गई।

सीताजी की, ऋषिदत्ता की एवं लीलावती की - इन तीन घटनाओं में तो ईर्ष्या का कोई न कोई कारण भी देखने को मिलता है। परन्तु बिना कोई कारण ईर्ष्या करनेवाले...अभिनिवेश रखनेवाले लोग भी दुनिया में मिलते हैं।

ईर्ष्या क्या नहीं करवाती है? :

आपने जगदीशचन्द्र बसु का नाम तो सुना है न? भारत के इस वैज्ञानिक ने 'वनस्पति में जीवत्व है,' यह सिद्धान्त विज्ञान के माध्यम से सिद्ध किया था। जगदीशचन्द्र के पिताजी थे भगवानदास बसु। भगवानदास शान्त प्रकृति के थे, न्यायनिष्ठ एवं नीतियुक्त व्यवहारवाले थे। लोगों में... गाँव में उनकी प्रतिष्ठा थी। लोग उनकी प्रशंसा करते थे। उस गाँव के एक पुरुष को भगवानदास की प्रशंसा सुनकर बुखार आ जाता था। भगवानदास ने उस पुरुष का कुछ भी नहीं बिगाड़ा था, न उसके लिए कभी कटु शब्द का प्रयोग किया था। फिर भी वह भगवानदास के प्रति ईर्ष्या से जलता था। न उसका कोई स्वार्थहनन होता था, न उसका कोई संबंध था भगवानदास के साथ।

ईर्ष्या की पापवृत्ति प्रबल होती गई। भगवानदास को बरबाद करने का अवसर खोजने लगा। एक दिन, जब शाम हुई...अंधेरा पृथ्वी पर छा गया...उसने भगवानदास के घर को आग लगा दी। घर जलने लगा...। भगवानदास अपने परिवार को लेकर घर से बाहर निकल आये। गाँव के लोग भी दौड़े-दौड़े आये। आग बुझाने का प्रयत्न करने लगे। गाँव के सभी लोग क्षुब्ध थे। सब लोग दुःखी थे...सभी आपस में चर्चा करते हैं : 'किसने आग लगाई होगी? ऐसे महात्मा जैसे पुरुष के घर को आग लगानेवाला कौन होगा? यदि मालूम हो जाय तो उसको इसी आग में झोंक दें...'। लोगों में रोष व्याप्त होने लगा। भगवानदास परिवार के साथ जलते हुए घर के सामने शान्त भाव से खड़े थे।

सहानुभूति बतानेवाले लोगों ने उनसे पूछा : 'आपको जिस व्यक्ति पर शक हो, आप बताइयेगा...हम उसको ऐसी शिक्षा देंगे...कि दूसरी बार ऐसा कुकर्म करने को जिंदा ही नहीं रहे।'

भगवानदास ने कहा : 'भाइयो! क्यों उस व्यक्ति के लिए ऐसा सोचते हो? उसको आज कितनी खुशी हुई होगी? कितने दिनों से वह आग लगाने का सोचता होगा? आज उसकी इच्छा पूर्ण हुई... उसको कोई सजा नहीं करना है... भगवान् मेरी परीक्षा ले रहा है। मुझे उनकी परीक्षा में उत्तीर्ण होना है। अपराधी को भी जो क्षमा देता है... वह भगवान की परीक्षा में उत्तीर्ण होता है।' जिस व्यक्ति ने अभिनिवेश में आकर यह दुष्ट कार्य किया था, उस व्यक्ति ने वहाँ ही भगवानदास के चरणों में गिर कर क्षमा मांगी। उसको अपने अन्यायपूर्ण कुकृत्य करने का घोर पश्चात्ताप हुआ।

भगवानदास बसु का अभिनिवेश का त्याग कैसा अद्भुत था। उन्होंने घर जलानेवाले को कहा : 'भाई, तू तेरे घर में चला जा। किसी को भी कहना मत कि 'मैंने घर जलाया है...' अन्यथा ये लोग तेरी हत्या कर देंगे। मेरा घर जल जाने से मुझे दुःख नहीं है...चूँकि घर को कभी मैंने मेरा माना ही नहीं था...। तुझे कोई कष्ट होगा तो मुझे दुःख होगा।'

यदि भगवानदास चाहते तो लोगों के सामने उसका पराभव कर सकते थे। उसकी हत्या भी करवा सकते थे... अथवा पुलिस के सुपुर्द कर सकते थे। परन्तु उनके स्वभाव में ही ऐसी बातें नहीं थी।

सभा में से : हम लोग तो ऐसा सोचते हैं कि अपराधी को सजा नहीं देते हैं तो वह पुनः पुनः अपराध करता है।

सजा, कौन किसे करेगा?

महाराजश्री : सजा करनेवाले आप कौन होते हैं? जरा दिमाग से सोचो। दूसरों को सजा करने जाते हो... आप स्वयं दंडित होते हो। अपराध करनेवाले के संयोग-परिस्थिति का अध्ययन किया, कभी? वह क्यों अपराधी बना? अपराधियों का हृदय-परिवर्तन करने का प्रयत्न करना होगा। उस प्रयत्न में आपको कुछ त्याग करना पड़ेगा, कुछ सहन भी करना पड़ेगा। परन्तु...एक दिन उसका हृदय-परिवर्तन होगा अवश्य। कभी सौ व्यक्तियों में से ५-१० व्यक्तियों का परिवर्तन न भी हुआ...तो निराश होने की जरूरत नहीं है। सौ में से ९० व्यक्तियों का हृदय-परिवर्तन होता है तो बहुत बड़ी सफलता है।

परिवर्तन दिल में होना जरूरी है :

तो क्या, जिन-जिन अपराधियों को सजा होती है, वे अपराधी सुधर जाते हैं सभी? क्या वे पुनः पुनः अपराध नहीं करते हैं? सजा होने पर भी बार-बार अपराध करनेवाले लोग बहुत हैं। महत्त्व की बात है हृदय-परिवर्तन की। किसी भी उपाय से आप अपराधी का हृदय-परिवर्तन करें। मारने से, कष्ट देने से यह काम नहीं होगा।

गुजरात में एक गाँव ऐसा था कि उस गाँव में सभी लोग चोर थे! चोरों का गाँव था! समाज के कुछ हितचिन्तक लोगों ने सोचा... वहाँ जाकर परिस्थिति का अध्ययन किया...। गाँव में स्कूल नहीं थी। बच्चों को शिक्षा नहीं मिल रही थी। लोगों के पास खेती करने योग्य जमीन नहीं थी। चोरी करने में सहायक थे सरकारी लोग। उन लोगों ने प्रयत्न कर गाँव में स्कूल की स्थापना करवायी। बाद में थोड़े-थोड़े लोगों को जमीन दिलवायी। खेती करके गुजारा करने की प्रेरणा दी। सरकारी अफसरों का स्थानान्तर करवा दिया...। चोरी का प्रमाण घटने लगा। करीबन् १० वर्ष के प्रयत्नों से उस गाँव को सज्जनों का गाँव बना दिया गया। इस बारे में रविशंकर महाराज ने काफी प्रयत्न किये थे। उन्होंने अपना जीवन अधिकांश इस तरह की ग्रामसुधार एवं व्यक्ति-सुधार की प्रवृत्तियों में बीताया था। अलबत्ता, उन्हें इसके लिये तकलीफें भी झेलनी पड़ी...संकट भी उठाने पड़े, पर अपने 'मिशन' में उन्होंने सफलता अर्जित कर ली।

आप स्वयं अभिनिवेश का त्याग करेंगे तो दूसरों को प्रेरणा अवश्य मिलेगी। मानो कि किसी ने आपका पराभव करने का प्रयत्न किया है। आपको मालुम भी हो गया। आप आपकी सुरक्षा की उचित प्रवृत्ति कर सकते हैं, परन्तु पराभव करनेवाले का पराभव करने का कभी नहीं सोचें। आप अपनी सुरक्षा की कार्यवाही करें, उसमें इस बात की सावधानी रखें कि दूसरों का पराभव न हो जाय। सही या गलत आक्षेपबाजी नहीं होनी चाहिए। व्यक्तिगत द्वेष नहीं होना चाहिए।

आपसी रंजिश कितनी बढ़ गई है?

पारिवारिक जीवन में एक-दूसरे का पराभव करने की वृत्ति-प्रवृत्ति बहुत चलती है न? भाई भाई का पराभव करने के लिये अन्याययुक्त प्रवृत्ति करता है, सास पुत्रवधू का पराभव करने की भावना से अन्यायपूर्ण प्रवृत्ति करती है। पुत्रवधू सास का पराभव करने की इच्छा से अन्याययुक्त प्रवृत्ति करती है...।

इससे परिवार में क्या सुख बढ़ता है? शान्ति बढ़ती है? नहीं, दुःख बढ़ता है, क्लेश और अशान्ति बढ़ती है।

सभा में से : ऐसा देखते हैं, फिर भी अभिनिवेश क्यों छूटता नहीं?

महाराजश्री : आप आत्मसाक्षी से संकल्प कर लें तो अभिनिवेश का त्याग सरलता से कर पायेंगे। 'मुझे दूसरों का पराभव नहीं करना है। कोई मेरा पराभव करता हो तो करे, मुझे दूसरों का पराभव नहीं करना है। सभी जीव मेरे मित्र हैं, मित्रों का पराभव कैसे करूँ? यदि कोई मेरा पराभव करता है, वह मेरे ही पापकर्मों का फल है। मैं समता से पापकर्मों का फल भोगूँगा तो मेरे कर्म नष्ट होंगे। मुझे नये पापकर्म नहीं बाँधने हैं।' इस प्रकार आपको प्रतिदिन चिंतन करना होगा। दूसरे लोग आपको अभिनिवेश के लिए प्रेरित करें तो भी आपको दृढ़ता से अपने संकल्प को निभाना होगा।

सभा में से : व्यक्तिगत हम तो समता रख ले, परन्तु परिवार के लोग नहीं मानते। वे तो पराभव का बदला लेने के लिए तत्पर होते हैं।

समता को मत भूलो :

महाराजश्री : इसलिए तो मैं कहता हूँ कि परिवार के लोगों को भी आप ये बातें जो यहाँ सुनते हैं, उनको सुनाकर समझाने का प्रयत्न करें। उनको भी प्रवचन सुनने की प्रेरणा दें। अच्छी किताबें पढ़ने को दें। उनके विचारों को बदलने का प्रयास करें। फिर भी नहीं मानें तो उनको जो करना हो सो करें, आप नहीं करें। आप उनके प्रति क्रोध भी नहीं करें। समता रखें। मैं जानता हूँ, आजकल आपके घर में आपकी सही बात भी माननेवाले लोग नहीं हैं। सही है न बात? या तो आपके पुण्योदय में कमी है अथवा जीवों की योग्यता कम होती जा रही है।

कम से कम, एक काम तो करना ही चाहिए। जिन लोगों का आपके ऊपर प्रत्यक्ष या परोक्ष उपकार है, उन लोगों का कभी पराभव नहीं करें। पराभव करने की भावना ही नहीं जगने दें। कभी वे आपको दो कटु शब्द सुना दें, फिर भी आप सहन कर लें। उपकारी का पराभव करने की भावना विनाश करनेवाली होती है।

उपकारी पर भी अपकार :

राजस्थान के इतिहास की एक घटना कहता हूँ। जोधपुर राज्य के

महाराजा जसवन्तसिंहजी को औरंगजेब ने काबुल भेज दिया था। वहीं पर उनकी मौत हो गई थी। षड्यंत्र रचा गया था। जसवन्तसिंह की रानी ने दो पुत्रों को जन्म दिया। एक पुत्र मर गया, दूसरा जिंदा रहा। औरंगजेब उस पुत्र को अपने पास रखना चाहता था। परन्तु वीर दुर्गादास के प्रयत्नों से रानी और पुत्र बच गये, उनको जोधपुर लाया गया। राजकुमार अजीतसिंह का राज्याभिषेक किया गया। वीर दुर्गादास ने उनकी रक्षा की। परन्तु जब अजीतसिंह बड़ा हुआ और व्यसनसेवन करने लगा, दुर्गादास ने उनको रोकने की कोशिश की। बार-बार टोकने लगा। दुर्गादास चाहते थे कि अजीतसिंह पराक्रमी बने और मुगलों के सामने सिंह बनकर लड़े। व्यसनों में यदि वह फँस गया तो कायर बन जायेगा। परन्तु अजीतसिंह को दुर्गादास की बातें पसन्द नहीं आयीं। उसने दुर्गादास की हत्या का षड्यंत्र रचा। दुर्गादास की हत्या करने के लिए उसने दिल्ली से हत्यारों को बुलाया और राजसभा के बाहर खड़ा कर दिया।

दुर्गादास को अजीतसिंह ने राजसभा में पधारने का निमन्त्रण दिया। दुर्गादास जोधपुर गये, वहाँ उनको षड्यंत्र का पता लग गया। उनके एक मित्र ने उनको राजसभा में नहीं जाने को समझाया। परन्तु दुर्गादास राजसभा में गये। अजीतसिंह ने खड़े होकर विनय से उनका स्वागत किया! दुर्गादास ने कहा : 'जब तेरे पिताजी का स्वर्गवास हुआ, उन्होंने मुझे कहा था कि 'मेरी मृत्यु के बाद यदि रानी पुत्र को जन्म दें, तो जब पुत्र बड़ा हो, तब उसको मेरा गुप्त खजाना दे देना।' गुप्त खजाना मेरे पास है, अब मैं तुझे दे देना चाहता हूँ!'

अजीतसिंह आनन्द से झूम उठा। उसने मंत्री से कहा : 'द्वार पर जो दिल्ली के मेहमान खड़े हैं उनको भीतर बुला लो और तुम दुर्गादास के साथ जाओ, खजाना लाने का प्रबंध करो।'

दिल्ली से आये हुए हत्यारे भीतर आ गये और दुर्गादास तीव्र गति से बाहर निकल गये! बच गये। उनके हृदय में अजीतसिंह की कृतघ्नता के प्रति घोर रोष पैदा हुआ। तब से उन्होंने जोधपुर छोड़ दिया। बाद में तो मुगल बादशाह औरंगजेब ने जोधपुर पर कब्जा कर लिया।

अभिनिवेश का त्याग करें। इस विषय में और भी बातें करनी हैं, आगे करूँगा,

आज बस, इतना ही।



- अभावों से पीड़ित मनुष्य की अनीति से कहीं ज्यादा खतरनाक होती है वृष्णाग्रस्त व्यक्ति की अनीति!
- वृष्णा, आसक्ति यह शल्य है... यदि दिल में है... तो ऑपरेशन करवाना होगा।
- आसक्ति कौन-सा पाप नहीं करवाती है?
- चुनावों के दंगल में एक-दूसरे के बीच आरोपों का जंगल खड़ा हो जाता है! स्वस्थ और सैद्धांतिक लड़ाईवाले चुनाव है कहीं? एक-दूसरे पर कीचड़ उछालना, व्यक्तिगत राग-द्वेष की लड़ाइयों से पूरी चुनाव-पद्धति को तीव्र राग-द्वेष का 'केन्सर' लग गया है।
- चुनाव-पद्धति के बारे में नये सिरे से सोचने का समय अब आ चुका है।
- 'इलेक्शन' के बजाय 'सिलेक्शन' की पद्धति शायद ज्यादा सार्थक हो सकती है।
- अब तो अपनी धार्मिक संस्थाओं में भी चुनाव का भूत दाखिल हो गया! चुनाव बनाम कुर्सी की लड़ाई! अपनी-अपनी महत्वाकांक्षाओं की लड़ाई!



परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने, स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में गृहस्थ जीवन के सामान्य धर्मों का सुचारु प्रतिपादन किया है। सूत्रात्मक शैली में सुन्दर रचना की है। टीकाकार आचार्यदेव ने बहुत ही मार्मिक ढंग से एक-एक धर्म का स्पष्ट अर्थनिर्णय किया है।

अभिनिवेश क्या है? :

'अभिनिवेश' शब्द का ऐसा अर्थनिर्णय आप लोगों ने कभी सुना था? कितना रहस्यभूत अर्थ किया है! दूसरों का पराभव करने के लक्ष्य से जो अन्यायात्मक प्रवृत्ति की जाय-वह है अभिनिवेश! ऐसा अभिनिवेश गृहस्थ स्त्री-पुरुषों के मन में नहीं होना चाहिए! नीतिमार्ग का उल्लंघन करने की इच्छा ही मन में पैदा नहीं होनी चाहिए। टीकाकार आचार्यश्री कहते हैं कि नीतिमार्ग का

उल्लंघन करने की इच्छा, नीचता का लक्षण है! ध्यान से सुनना! नीतिमार्ग का उल्लंघन करना, सज्जनता नहीं है, मानवता नहीं है, नीचता है।

नीतिमार्ग का उल्लंघन दो प्रकार से होता है। एक तो अभावों से उत्पीड़ित मनुष्य अनीति का आश्रय लेता है। दूसरा, अधिक पाने की तृष्णा से मनुष्य अनीति का आश्रय लेता है।

एक मनुष्य नीतिमय व्यवसाय करना चाहता है, नीतिमत्ता से जीवन जीना चाहता है, परन्तु उसको नीतिमय व्यवसाय नहीं मिलता है, दरिद्रता उसको घेर लेती है, परिवार का पालन करना दुष्कर हो जाता है... ऐसी परिस्थिति में यदि उसको नीतिमत्ता छोड़नी पड़ती है, अनीति के मार्ग पर चलना पड़ता है...तो कोई बड़ा अपराध वह नहीं करता है। अनीति के मार्ग पर चलते हुए भी उसका लक्ष्य तो नीतिमार्ग का ही बना रहता है।

सभा में से : अनीति के मार्ग पर चलते-चलते यदि आदत बन गई तो? जहाँ हमें लाभ होता है, वहाँ हम चिपक जाते हैं।

महाराजश्री : यदि जागृति नहीं होगी तो यह होने का ही है। भीतर से जाग्रत तो रहना ही पड़ेगा। कभी मार्ग में कांटे होते हैं, दूसरा मार्ग नहीं होने से, उसी मार्ग पर, कांटों पर पैर रखकर चलना पड़ता है... चलते हैं परन्तु कितनी सावधानी से चलते हैं! एक भी कांटा पैरों में चुभ न जाय।

वैसे, परिस्थितिबश अनीति के मार्ग पर चलना पड़े, परन्तु भीतर की जागृति वैसी होनी चाहिए कि अनीति का मार्ग प्रिय न लग जाय और नीतिमार्ग की उपेक्षा न हो जाय।

यदि दृढ़ मनोबल होता है तो मनुष्य कैसी भी अभावग्रस्त स्थिति में अनीति का आश्रय नहीं लेता है। परन्तु ऐसे लोगों की शारीरिक आवश्यकताएँ अल्प होती हैं। पारिवारिक आवश्यकताएँ सीमित होती हैं और लोभ-तृष्णा से वे मुक्त होते हैं। 'अनीतिजन्य कोई सुख नहीं चाहिए,' ऐसा उनका दृढ़ संकल्प होता है!

अनपढ़ औरत की ईमानदारी :

राजस्थान में फलोदी एक छोटा-सा शहर है। हमारा वहाँ जब चातुर्मास था, तब की एक दिलचस्प घटना है! हम जहाँ रहते थे, वहाँ पास ही के कम्पाउंड में आयंबिल भवन था। चातुर्मास में अनेक स्त्री-पुरुष आयंबिल की तपश्चर्या करते रहते हैं। एक दिन, दोपहर को एक बजे आयंबिल भवन की

नौकरानी मेरे पास आयी और सोने का दो सौ ग्राम का हार मेरे सामने रख दिया! उसने कहा : 'महाराज साहब, कोई लुगाई अठे आंबिल करने आयी होगी... हार उतार ने पास में रखियो होसी...बाया चली गई...हार उठे ही पड़ियो थो...मैं आपरे पास लायी हूँ... मारे तो अनीति रो धन मिट्टी बरोबर है...जिनो वे, उने आप दे देसी...।' मैं तो उस नौकरानी को देखता ही रह गया! मेरा हृदय हर्ष से गद्गद् हो गया...

नौकरानी गरीब थी परन्तु उसमें लोभ-तृष्णा नहीं थी! अन्यथा दो सौ ग्राम सोने का हार हाथ लगने पर वह त्याग नहीं करती। हार का मालिक मिल गया, हार उसको दे दिया गया...जब उसने नौकरानी की नीतिमत्ता जानी, वह भी हर्षविभोर हो गया। नौकरानी को बक्षिस दी और नौकरानी की प्रशंसा होने लगी।

अभी भी प्रामाणिकता जिंदा है :

अहमदाबाद की एक सच्ची घटना है। एक सज्जन बस में जा रहे थे! अपना पाकिट हाथ में था। बस में से उतरते समय वे अपना पाकिट बस की सीट पर ही भूल गये थे। घर पहुँचने पर खयाल आया। बस डिपो में तलाश की, पाकिट नहीं मिला। अखबार में विज्ञापन दिया...परन्तु पाकिट नहीं मिला। वे निराश हो गये। पाकिट में करीबन १४०० रुपये थे और कुछ आवश्यक कागजात थे।

कुछ दिनों के बाद एक सज्जन उनके घर आये। उन्होंने अपनी बेग में से पाकिट निकाला और कहा : 'क्या यही आपका पाकिट है? देख लीजिए...आपके रुपये और कागजात सुरक्षित हैं।'

पाकिट देखकर पहले तो वे सज्जन स्तब्ध रह गये। पाकिट खोल कर देखा तो रुपये और कागजात बराबर थे। उन्होंने पाकिट देने वाले भाई का उपकार माना और पूछा : 'आपको यह पाकिट कहाँ से मिला?'

उस भाई ने कहा : 'आप बस में जहाँ बैठे थे, मैं भी पास में ही बैठा था। आप पाकिट भूल गये, बस से उतर गये...कि मैंने वह पाकिट ले लिया! जेब में रख दिया। घर जाकर पाकिट खोल कर देखा...मेरा मन ललचा गया। मैंने पाकिट अलमारी में रख दिया।

परन्तु एक दिन मेरी पाँच रुपये की नोट खो गई घर में। मैंने खोजी...परन्तु नहीं मिली। मैं निराश होकर बैठा था, कि मेरा नौकर मेरे पास आया और

बोला : 'बाबूजी, मुझे घर में से यह पाँच रुपये की नोट मिली है।' उसने नोट मुझे दे दी। मैं नोट को देखने लगा...नौकर को देखने लगा...। मेरे मन में हलचल मची। 'मैं सज्जन या यह नौकर सज्जन? नौकर तो गरीब है...फिर भी कितना नीतिमान है। मैं श्रीमन्त होते हुए भी कितना अनीतिखोर हूँ? पाकिट में १४०० रुपये देखकर मैं ललचा गया और पाकिट मैंने रख लिया...' मुझे मेरी अनीति बहुत अखरी। मैंने अखबार में आपका विज्ञापन पढ़ा था। उसमें आपका पता छपा हुआ था। मैंने तुरन्त निर्णय कर लिया कि पाकिट आपको लौटा दूँ। और, शीघ्र ही पाकिट लेकर आपके पास आया हूँ।

पाकिट का मालिक किस्सा सुनकर आश्चर्यचकित हो गया। पाकिट में से सौ रुपये का नोट निकाल कर देने लगा...। उस सज्जन ने दो हाथ जोड़कर इनकार कर दिया। उसने कहा : 'इनाम का पात्र तो वह मेरा नौकर है...जिसने मुझे अनीति के पाप से बचाया। उसकी नीतिमत्ता ने मुझे नीतिमार्ग पर चलने की प्रेरणा दी।'

जो श्रीमन्त नहीं था, जिसके पास कोई डिग्रियाँ नहीं थी, ऐसे नौकर में कैसी नीतिमत्ता और जो श्रीमन्त हैं, डिग्रीधारी हैं...समाज में इज़्ज़त रखते हैं...वे कितने बेईमान? बेईमानी पैदा होती है लोभ और तृष्णा में से।

- ज्यादा से ज्यादा पैसा प्राप्त करने की तृष्णा।
- सुन्दर स्त्री प्राप्त करने की तृष्णा।
- अधिक से अधिक यश प्राप्त करने की तृष्णा।
- सत्ता व पद प्राप्त करने की तृष्णा।

ऐसी तृष्णाएँ ही मनुष्य को अनीति के मार्ग पर चलने को प्रेरित करती हैं। ज्यों-ज्यों उनकी उपलब्धियाँ बढ़ती जाती हैं, त्यों-त्यों तृष्णा बढ़ती जाती हैं। फिर अनीति का अभिनिवेश दृढ़ होता जाता है।

लाभ से लोभ बढ़ता है :

१. अधिक धन-संपत्ति कमाने की तृष्णा से चोरियाँ होती हैं, डाके डाले जाते हैं, रिश्ततखोरी बढ़ती है, स्मगलिंग-तस्करी बढ़ती है, धोखाधड़ी बढ़ती है। जब तक तृष्णा बनी रहेगी मनुष्य के मन में, यह सब चलने वाला है। कानून से यह सब बन्द होने वाला नहीं है। हृदय-परिवर्तन होने से ही यह सब हो सकता है।

सभा में से : हम लोगों के पास 'हृदय' ही नहीं रहा है, फिर परिवर्तन किसका होगा?

महाराजश्री : हृदय तो है, परन्तु अशुद्ध हृदय है। निर्दय हृदय है। कठोर हृदय है। हृदय है परन्तु नहीं है - वैसा बन गया है। इसलिए कहता हूँ कि हृदय का ऑपरेशन करा लो। हृदय में जो तृष्णा का शल्य पड़ा हुआ है, वह निकालना पड़ेगा। तृष्णा ने हृदय का रूप ही बदल दिया है। धन-संपत्ति की तृष्णा ने दुनिया में सबसे ज्यादा अनर्थ पैदा किये हैं। अनीति, अन्याय, धोखाधड़ी...वगैरह अनेक असंख्य बुराइयाँ धनतृष्णा में से पैदा हुई हैं।

रोम का महान् साम्राज्य भी ढह गया :

२. शरीर के सौन्दर्य की तृष्णा भी कम नहीं है। सुन्दर स्त्रियों का भोगसुख पाने के लिए बलात्कार, अपहरण, हत्या...जैसे अनेक अनिष्ट होते रहे हैं। बलात्कार अनीति है, अपहरण भी अनीति है। अपनी पत्नी के अलावा दूसरी किसी भी स्त्री की इच्छा करना अनीति है। यह अनीति मनुष्य का पतन करती है। यदि यह अनीति राजा करता है तो राज्य का पतन होता है। यदि यह अनीति कोई श्रीमन्त या सत्ताधीश करता है तो पूरे परिवार को नष्ट करता है। परन्तु, अभिनिवेश में अंधा बना हुआ मनुष्य भविष्य को देख नहीं सकता है। अंतिम रोमन सम्राट 'टारक्विन' का पतन कैसे हुआ था? रोमन सम्राटों का अन्त कैसे आया था? इसी अनीति के कारण। 'लुक्रेशिया' नाम की रोमन नारी का अद्भुत रूप देखकर 'टारक्विन' मोहान्ध बना था। लुक्रेशिया एक गृहस्थ स्त्री थी। उसका पति था, उसके पिता थे। सम्राट के सलाहकारों ने सम्राट को मना किया था कि प्रजा के साथ ऐसा नहीं करना चाहिए। लुक्रेशिया तो आपकी पुत्री जैसी है...बहन जैसी है। परन्तु मोहान्ध सम्राट नहीं माना। लुक्रेशिया का अपहरण करवाया। राजमहल में उस पर बलात्कार गुजारा गया और बाद में उसको राजमार्ग पर छोड़ दिया गया। लुक्रेशिया बेहोश थी। हजारों लोग वहाँ इकट्ठे हो गये। लुक्रेशिया की बेहोशी दूर हुई। उसने लोगों की भीड़ के सामने देखा और बोली : 'हे रोमन पिता, रोमन स्वामी, रोमन बंधु! आप सबके सामने एक रोमन लड़की पुकार करती है, शिकायत करती है, रोमन राज-दरबार में रोमन माताओं का, बहनों का, बेटियों का शील लूटा जाता है। मैं लुक्रेशिया, राजकुमार (उस समय सम्राट राजकुमार था) के बलात्कार का भोग बनी हूँ। मैं आज प्रजाजनों से न्याय माँगती हूँ।'

लुक्रेशिया की बात सुनकर सभी के मुँह फटे से रह गये। कोई कुछ नहीं बोलता है, तब लुक्रेशिया का पुण्यप्रकोप तीव्र हो गया।

‘आप सबने मौन क्यों साध लिया? युद्ध मैदानों पर बड़े-बड़े दुश्मनों के दांत खट्टे कर देने वाले मेरे रोमन वीरों की क्या इतनी ही हिम्मत? माँ, बहन, बेटी के शील की इतनी ही कीमत? रे रोमन वीरों, तुम्हारा सामर्थ्य कहाँ गया? तुम्हारे सामर्थ्य को जाग्रत करो, अन्यथा संसार तुम्हारे बल पर थूकेगा।’

फिर भी जब कोई कुछ बोला नहीं, तब लुक्रेशिया खड़ी हुई। पास में खड़े हुए सैनिक की कमर से उसने छुरी खींच ली और अपने सीने में पिटो दी। लुक्रेशिया की देह जमीन पर गिर पड़ी। खून बहने लगा। थोड़ी क्षणों में ही उसका प्राणपखेरू उड़ गया।

बलिदान रंग लाया :

लुक्रेशिया के बलिदान ने रोमन प्रजा में अपूर्व क्रान्ति की आग पैदा कर दी। उसी समय ब्रुट्स नाम का एक सशस्त्र और सशक्त योद्धा आगे आया, उसने लुक्रेशिया के शरीर में से छुरी बाहर निकाली... अपने सर पर लगायी और जनसमूह के सामने देख कर बोला :

‘मेरे रोमन बन्धुओं, एक निर्दोष रोमन बेटी के खून की शपथ लेकर कहता हूँ : इस घोर पाप का कारण दूसरा कोई नहीं है, वह है अधर्म के अवतार रोमन सम्राट। सेना, सत्ता और संपत्ति पा कर राजा उन्मत्त बने हैं। उनकी आँखें मोहान्ध बनी हैं। मैं आज प्रतिज्ञा करता हूँ कि रोमन राजाओं के नाम भी नष्ट करके रहूँगा।’

ब्रुट्स के साथ लाखों रोमन प्रजाजन जुड़ गये। रोम में महान् क्रान्ति हुई। राजाशाही खत्म हो गई।

यह तो हुई दूसरे प्रकार की तृष्णा की बात। तीसरा प्रकार है यश पाने की तृष्णा। आप अच्छे कार्य करते रहें और आपका यश फैल जाय वह बात अलग है। यश पाने की इच्छा से कोई कार्य करना, वह बात यहाँ अभिप्रेत है। यश और कीर्ति पाने की तृष्णा, मनुष्य के पास दूसरों का अपयश करवायेगी, अपकीर्ति करवायेगी, पराभव करवायेगी।

अज्ञानी और अल्पज्ञ लोगों का ऐसा खयाल होता है कि दूसरों की अपकीर्ति करने से अपनी कीर्ति बनती है। दूसरों की निन्दा करने से अपनी

महत्ता बढ़ती है। इसी दृष्टि से वे लोग दूसरों की निन्दा करते रहते हैं। निन्दा सुनने वाले निन्दा-रस का अमृतपान करते रहते हैं! यश, पद, सत्ता... यह सब पाने के लिए अज्ञानी मनुष्य दूसरों का पराभव कर, अनीतिपूर्ण उपाय करता रहता है।

चुनाव का चंगुल : पापों का दंगल :

जब से इस देश में, राजनीति में, समाज में एवं धार्मिक क्षेत्रों में चुनाव-पद्धति प्रविष्ट हुई है, तब से यह अभिनिवेश जन-जन में व्यापक बना है। पद का उम्मीदवार गाँव-गाँव नगर-नगर घूमता है 'आपका पवित्र वोट (मत) मुझे देना...' ऐसी घोषणा करता रहता है और प्रतिपक्षी उम्मीदवारों की घोर निन्दा करता है, उनको लोगों की दृष्टि में गिराने की भरसक कोशिश करता है। आमने-सामने आक्षेपबाजी होती रहती है। सच्चे-झूठे आरोप एक-दूसरे पर मढ़े जाते हैं। परस्पर बैर बंध जाता है। शस्त्रों से हमले होते हैं... हत्याएँ की जाती हैं...

आजादी के बाद राजकीय क्षेत्र में ही चुनाव-पद्धति आयी थी, बाद में सामाजिक संस्थाओं में भी चुनाव-पद्धति प्रविष्ट हुई। 'लोग मुझे ज्यादा वोट देंगे तो मैं समाज में प्रमुख बन जाऊँगा... मेरी इज़्जत बढ़ जायेगी...' ऐसी-ऐसी धारणाओं को लेकर लोग चुनाव के मैदान में उतरते हैं। एक-दूसरे को पराजित करने के लिए, स्वयं की प्रशंसा करना और प्रतिपक्षी उम्मीदवार की घोर निन्दा करना, अनिवार्य बन गया है। इससे समाज में आपस का प्रेम द्वेष में बदल जाता है। गुटबंदी होती रहती है। झगड़े होते हैं... मारामारी होती है... हत्याएँ होती हैं।

धार्मिक क्षेत्रों में भी 'ट्रस्ट एक्ट' आने के बाद चुनाव-पद्धति प्रविष्ट हुई है। संघ हो या कोई मंडल हो... सब जगह चुनाव का चक्र गतिशील हो गया है। हम लोग तो गाँव-गाँव और शहर-शहर फिरते हैं। हर जगह संघों में और संस्थाओं में नब्बें प्रतिशत झगड़े ही झगड़े चल रहे हैं। हम देखते हैं और कारण खोजते हैं... तो मुख्य कारण चुनाव का ही दिखाई दिया है।

सभा में से : सरकारी तौर पर चुनाव करवाना तो अनिवार्य हो गया है न?

महाराजश्री : ऐसी बात नहीं है। सरकार ने तो कहा है 'इलेक्शन' करो या 'सिलेक्शन' करो! दो पद्धति हैं। कुछ संस्थाएँ ऐसी भी हैं जहाँ इलेक्शन (चुनाव) नहीं होता है! वहाँ सिलेक्शन होता है। सिलेक्शन यानी पसंदगी।

संघ या समाज के कुछ लोग, ट्रस्टियों की पसंदगी करते हैं। किसी को ट्रस्टीशिप की उम्मीदवारी करने की नहीं होती है। संघ-समाज में से किसी की भी पसंदगी की जा सकती है। यह पसंदगी एक वर्ष से लगाकर पाँच वर्ष तक हो सकती है... आजीवन भी ट्रस्टी नियुक्त किये जा सकते हैं।

चुनाव की पद्धति तो किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है। चुनाव में मनुष्य पैसे के बल से वोट खरीद सकता है और जीत सकता है। वैसे, गुन्डागिर्दी से भी लोग चुनाव में जीत जाते हैं। कार्यदक्षता या किसी प्रकार की योग्यता का महत्त्व चुनाव में नहीं रहता है।

कौन बैठते है वहाँ?

भारत की लोकसभा में बैठने वालों को क्या भारतीय संविधान का भी ज्ञान है? कितने लोगों को होगा ज्ञान? लोकसभा में बैठने वालों में से कितनों को भारतीय संस्कृति का, भारतीय धर्मों का और भारतीय प्रजाजीवन का ज्ञान होगा? चुनाव जीतकर वे लोकसभा में चले गये और प्रजाजीवन से संलग्न कानून बनाते रहते हैं। हमारे देश की संस्कृति के खिलाफ कितने कानून बने हैं - क्या आप लोग जानते हो?

धार्मिक क्षेत्रों में जो लोग चुनाव जीतकर ट्रस्टी बनते हैं या प्रमुख-उपप्रमुख-कोषाध्यक्ष या सेक्रेटरी बनते हैं, क्या उनको धार्मिक सिद्धान्तों का ज्ञान होता है? जैन संघ का संचालन तो धार्मिक सिद्धान्तों से ही किया जाता है। इसलिए अपने यहाँ सात क्षेत्रों की व्यवस्था स्थापित है। क्या प्रमुख वगैरह पदाधिकारियों को सात क्षेत्रों का ज्ञान होता है? क्या उनमें धार्मिकता होती है? मंदिर-कमिटी का प्रमुख क्या प्रतिदिन मंदिर में आकर पूजा-सेवा करता है? बहुत कम संख्या में। चुनाव में योग्यता-अयोग्यता का विचार ही नहीं किया जा सकता है।

चुनाव की पद्धति में परस्पर का प्रेम और मैत्री नष्ट हो जाती है। दूसरों का पराभव करने की हमेशा वृत्ति बनी रहती है। पराभव करने के लिए अन्यायपूर्ण, अनीतिपूर्ण कार्य किये जाते हैं। अभिनिवेश बढ़ता जाता है। अभिनिवेश की वृद्धि के साथ क्रोध, मान, माया और लोभ भी बढ़ते जाते हैं। इससे जीवन में अशान्ति बढ़ती जाती है। अशान्ति बढ़ने से धर्मआराधना में मन नहीं लगता है। पारिवारिक जीवन में क्लेश बढ़ता जाता है। इससे अर्थपुरुषार्थ में और कामपुरुषार्थ में भी बाधाएँ पैदा होती हैं।

इसलिए सर्वप्रथम तो पारिवारिक जीवन में से अभिनिवेश को विदा दे दो। परिवार के किसी भी व्यक्ति के साथ पराभव करने की दृष्टि से अनीतिमय व्यवहार मत करो। प्रारम्भ घर से ही करना पड़ेगा। 'मुझे किसी का भी पराभव नहीं करना है, किसी के भी व्यक्तित्व को खंडित नहीं करना है। किसी की भी उज्ज्वल कीर्ति को लांछन नहीं लगाना है।' ऐसा दृढ़ निर्णय करना होगा।

चुनाव ने प्रेम में जहर घोल दिया है :

बम्बई की एक घटना है। एक मन्दिर के ट्रस्ट का चुनाव था। चुनाव में दो भाई खड़े हुए थे। बड़े भाई की विजय हुई, छोटा भाई हार गया। यों भी बड़े भाई की कीर्ति फैली हुई थी। वे दानवीर थे और स्वभाव के भी मृदु थे। समाज में उनकी प्रसंसा होती थी। छोटे भाई के मन में ईर्ष्या सुलग रही थी। दोनों भाई अलग रहते थे। बाहर से अच्छा व्यवहार रखते थे। बड़े भाई के मन में छोटे भाई के प्रति प्रेम था।

बड़े भाई के वहाँ लड़की की शादी का प्रसंग आया। उन्होंने छोटे भाई को बुलाकर भोजन-प्रबंध का कार्य उसको सौंपा। बारात आई। भोजन का प्रबंध कर दिया गया था। सबेरे सबेरे ही छोटे भाई ने कहा : 'मुझे मेरी ऑफिस के काम से अभी बाहर गाँव जाना पड़ेगा। व्यवस्था सब हो गई है। घर से सभी आयेंगे, मैं नहीं आ सकूँगा।' वह चला गया।

बारात आ गई। शादी हो गई। भोजन-समारंभ भी निपट गया। परन्तु रात्रि में छोटे भाई का मुन्ना बीमार हो गया। घर पर छोटे भाई की पत्नी ही थी। उसने बड़े भाई को फोन करके बुलाया। बड़ा भाई गाड़ी लेकर तुरन्त वहाँ पहुँचा। लड़का बेहोश था। हॉस्पिटल में भर्ती कर दिया। डॉक्टर ने कहा : '२४ घंटा बीतने पर मालूम पड़ेगा कि बच्चे का स्वास्थ्य सुधरेगा या नहीं। खाने में कोई विषैला पदार्थ आ गया है।'

उधर बारात के लोगों में भी हलचल मच गई। जिन्होंने भोजन किया था वे सभी बीमार पड़ गये थे। बड़े भाई की चिन्ता की सीमा नहीं थी।

अब पछताये क्या होय?

छोटा भाई बाहर गाँव से आया। अपने घर पर ताला लगा हुआ था। वह बड़े भाई के घर गया... वहाँ उसको मालूम हुआ कि उसके लड़के की तबीयत गंभीर है। वह भागा भागा हॉस्पिटल आया। सब बात मालूम हुई। वह फूट-

प्रवचन-८९**१७५**

फूटकर रोने लगा। बड़े भाई ने उसको बहुत आश्वासन दिया... तो वह बड़े भाई के पैरों में लिपट गया और जोरों से रोने लगा। रोते-रोते वह बोला : 'भाई साहब, मुझे क्षमा कर दो या सजा करो... इस अनर्थ का मूल मैं हूँ। मैंने ही भोजन में विष मिलाया था...। आपका शादी का प्रसंग बिगाड़ने का मेरा दुष्ट इरादा था। मैं तो बहाना बनाकर बाहर गाँव चला गया और यहाँ...।, वह ज्यादा नहीं बोल सका... बेहोश होकर जमीन पर गिर गया।'

जब वह होश में आया। बड़े भाई को वहाँ पास में ही बैठे देखा। वह नीचा मुँह लटकाये बैठा रहा। बड़े भाई ने कहा : 'भगवान तुझे सद्बुद्धि दे...।' और वे वहाँ से अपने घर पहुँच गये। डॉक्टर ने कहा : 'तात्कालिक उपचार से लड़का बच गया है। आप लड़के को घर ले जा सकते हैं।' लड़के को लेकर छोटा भाई व उसकी पत्नी घर पर पहुँचे। कई दिनों तक वह पश्चात्ताप करता रहा। बड़े भाई के विशाल हृदय को पुनः पुनः सराहता रहा। उसका अभिनिवेश छूट गया।

बड़े भाई गंभीर रहे। उन्होंने अपनी पत्नी को भी नहीं बताया कि दुर्घटना का कारण मेरा छोटा भाई था। उन्होंने छोटे भाई के साथ पूर्ववत् व्यवहार रखा। परिणाम यह आया कि छोटा भाई बड़े भाई का प्रशंसक बन गया, आज्ञांकित बन गया और बड़े भाई के कार्यों का सहयोगी बन गया।

सभी क्षेत्रों में अभिनिवेश का त्याग करना चाहिए। यदि त्याग करोगे तो अनेक अनर्थों से बच जाओगे। जीवन में शान्ति, सुख और प्रसन्नता बनी रहेगी।

आज बस, इतना ही।



- अपनी कमजोरी को ढँकने के लिए दूसरों की विशेषताओं को उनका दिखाया मत मानो।
- जो गुण अपने में नहीं है... औरों में यदि वह गुण दिखे तो जी भरकर उसकी प्रशंसा करो, सराहना करो।
- गुणवान होना सरल है पर गुणानुरागी बन पाना अति कठिन है। क्योंकि जब तक अहं की भावना कम नहीं होती या मर नहीं जाती तब तक औरों की विशिष्टता को मानवमन स्वीकार नहीं कर पाता है।
- सहानुभूति तो एक जादूभरा करिश्मा है... हर एक दिल को इससे जीता जा सकता है। और फिर इसमें कुछ लगता भी नहीं... हाँ, निस्वार्थ दिल, मीठी ज़बान और सहिष्णुता के सहारे ही यह जादू चल सकता है।
- देव से आदमी बनकर जीना बेहतर है... पर इसमें मेहनत ज्यादा पड़ती है।



परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने, स्वरचित 'धर्मविन्दु' ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में गृहस्थ जीवन के सामान्य धर्मों का प्रतिपादन किया है। सामान्य धर्मों का पालन यदि गृहस्थ जीवन में सुचारु रूप से होता रहे तो वास्तव में भारतीय संस्कृति जीवंत हो जाय। आजकल तो आप लोगों को प्रतिकूल परिस्थितियों में भी इन सामान्य धर्मों का पालन करने का पुरुषार्थ करना पड़ेगा। यदि मानवजीवन को सफल बनाना है तो यह पुरुषार्थ करना ही होगा।

बत्तीसवाँ सामान्य धर्म बताया गया है गुणपक्षपात का। हमेशा गुणों का पक्ष लेना, गुणों के पक्ष में रहना। भले आप में गुण न हों, फिर भी दूसरों के गुणों के पक्ष में रहना। जैसे-

गुणपक्षपात के कई रूप हैं :

- मान लो कि आप उदार नहीं हैं, आपके स्नेही-स्वजन या कोई मित्र

वगैरह उदार हैं, तो आप उसकी उदारता की, उदार व्यक्ति की प्रशंसा करना। उदारता की निन्दा कभी नहीं करना।

○ मान लो कि आप में दाक्षिण्य नहीं है, आप अपना काम पहले करते हैं, अपना काम छोड़कर दूसरों का काम नहीं करते, आप स्पष्ट कह देते हैं 'मुझे अपना काम है, मैं आपका कार्य नहीं कर सकता।' इसका अर्थ यह होता है कि आप में दाक्षिण्य-गुण नहीं है। परन्तु दूसरे में यह गुण आप देखते हो, तो आप दाक्षिण्य-गुण की प्रशंसा करना निन्दा नहीं करना।

○ मान लो कि आप में स्थिरता नहीं है, चंचलता है... शरीर चंचल है, विचार भी चंचल है। परन्तु दूसरों में स्थिरता का गुण है, आप देखते हैं, तो आप स्थिरता-गुण की प्रशंसा करना। गुण की निन्दा नहीं करना।

○ मान लो कि आपकी जबान कटु है, आप अप्रिय शब्द बोलते हैं, परन्तु दूसरे जो प्रियभाषी हैं, प्रिय वचन बोलते हैं, उनकी प्रशंसा करना। प्रिय वचन की निन्दा नहीं करना।

सभा में से : प्रिय वचन बोलता हो, परन्तु हमें मालुम हो जाय कि उसके मन में कपट हैं, किसी को फँसाने के लिए मीठी-मीठी बातें करता है, तो क्या हमें प्रशंसा करनी चाहिए उसकी?

महाराजश्री : आपने जो कहा वह प्रियवचन गुणरूप नहीं है, दोषरूप है, इसलिए प्रशंसा नहीं करनी चाहिए और निन्दा भी नहीं करनी चाहिए। प्रिय वचन जहाँ गुणरूप हो, आप अवश्य प्रशंसा करते रहें।

दोषों के कांटों के बीच भी गुणों के फूल देखो :

गुण को गुण के रूप में देखने की भी दृष्टि चाहिए। अन्यथा, गुणों को भी दोषों के रूप में देखा जायेगा। आप एक बात मत भूलना कि संसार में सभी जीव अपूर्ण हैं, इसलिए हर जीव में अनन्त-अनन्त दोष होते ही हैं। गुण थोड़े प्रकट होते हैं, दोष ज्यादा प्रकट होते हैं। हर व्यक्ति में गुण और दोष दोनों होते हैं, आपकी गुणदृष्टि गुणों को देखेगी, आपकी दोषदृष्टि दोषों को देखेगी।

गुणदर्शन होने पर ही गुणपक्षपात हो सकता है। दूसरे मनुष्यों में गुणदर्शन करना, सरल काम तो नहीं है! गुण देखने पर भी उसकी प्रशंसा करना, ज्यादा मुश्किल काम है। चूँकि हम स्वप्रशंसा करने के आदी हैं। दूसरों के गुणों की, दूसरों के सत्कार्यों की प्रशंसा करना हम सीखे ही नहीं हैं। यदि संघ और समाज में एक-दूसरों के गुणों की प्रशंसा होने लगे तो क्या रगड़े

झगड़े हो सकते हैं? द्वेष...बैर...ईर्ष्या... हो सकती है? परन्तु यह सब होता है न? क्यों होता है - यह कभी गंभीरता से सोचा है? नहीं सोचा है। मूल कारण यही है - गुणों की उपेक्षा। गुणदर्शन करना नहीं, गुणपक्षपात करना नहीं। आप लोगों ने महत्त्व दिया है दोषों को। हम दोषों को बढ़ावा देते हैं या नहीं, सोचना। कुछ लोग दोषों को बढ़ावा देते हुए भी स्वयं नहीं जान पाते कि 'मैं दोषों को बढ़ावा दे रहा हूँ।' कुछ घटनाओं को लेकर यह बात स्पष्ट करता हूँ-

बुराई को बढ़ावा मत दो :

○ एक लड़का अपने पड़ोसी के घर में आता-जाता था। पड़ोसी अच्छा था। लड़के के प्रति ममता थी। एक दिन पड़ोसी बाहर गये हुए थे, घर खुला छोड़कर गये थे। लड़का उस घर में बैठकर कभी-कभी पढ़ाई भी करता था। लड़के ने घर में शक्कर का थैला पड़ा हुआ देखा। उसकी बुद्धि बिगड़ी। थैले में से शक्कर उठाकर वह अपने घर ले गया। आधा थैला खाली कर दिया। लड़के ने अपने पिता को बात बतायी। पिता ने लड़के को शाबाशी दी। लड़के को चोरी करने में प्रोत्साहन मिला। पिता को खयाल नहीं आया कि 'मैं चोरी के दोष को बढ़ावा दे रहा हूँ।'

○ एक पुत्रवधू हमेशा पड़ोस की औरतों के पास जाकर अपनी सास की निन्दा करती थी। पड़ोस की औरतें बड़ी चाव से सुनती थीं और पुत्रवधू को सास के विरुद्ध उत्तेजित करती थीं। एक दिन पुत्रवधू ने सास के साथ झगड़ा कर दिया। गालियाँ बकने लगी। इतने में उसका पति घर पर आया। उसने अपनी पत्नी को डांटा, मारा और घर से निकाल दिया.....। पड़ोस की औरतें देखती रही.....किसी ने उसको आश्रय नहीं दिया। उन औरतों को यह भी महसूस नहीं हुआ कि 'हमने दोषों को बढ़ावा देकर एक औरत की जिंदगी बरबाद कर दी।'

○ एक परिवार में पति-पत्नी के बीच मनमुटाव हो गया था। आपस में झगड़ा भी होता रहता था। घर में एक ही संतान थी। ७/८ वर्ष का लड़का था। माता लड़के को उसके पिता के विरुद्ध भड़काया करती थी। लड़का पिता का कहा नहीं मानता था। ज्यों-ज्यों बड़ा होता गया, पिता के सामने औद्धत्यपूर्ण व्यवहार करने लगा। माँ उसको बढ़ावा देती रही। परिणाम यह आया कि पिता घर का त्याग कर अन्यत्र चला गया। घर में जो भी थोड़ी

संपत्ति थी, दो वर्ष में समाप्त हो गई..... घर भी बिक गया। माता-पुत्र रास्ते भटकते भिखारी हो गये। उस समय भी उस औरत को 'मैंने दोषों को, गलतियों को बढ़ावा दिया, इसका यह परिणाम है,' ऐसा महसूस हुआ होगा क्या?

○ बम्बई में एक भाई के पास अचानक चार-पाँच लाख रुपये आ गये। उसने मौज-मजा करना शुरू कर दिया। पति और पत्नी, दो ही थे घर में। दोनों होटलों में खाना खाते हैं। शराब भी पीते हैं। क्लबों में जाने लगे। पत्नी ने पति के पापाचारों को बढ़ावा दिया। पति एक दूसरी खूबसूरत औरत के मोह में फँस गया। एक वर्ष के बाद पत्नी को मालुम हुआ। झगड़ा होने लगा। पुरुष, पत्नी को मारपीट भी करने लगा। दो वर्ष के बाद पति को केन्सर हो गया.....। इतने विनाश के कगार पर पहुँचने पर भी पत्नी को ख्याल आया होगा या नहीं कि 'मैंने अपने पति को जो दुष्कार्यों में प्रोत्साहन दिया, इसका यह परिणाम है?'

○ बम्बई की ही एक दूसरी करुण घटना है। श्रीमन्त लोगों को अपनी श्रीमन्ताई का प्रदर्शन करने का मोह, क्लबों में एवं होटलों में ले जाता है। बम्बई में एक ऐसी संस्था है, जहाँ पति-पत्नी के अनेक युगल रात्रि में इकट्ठे होते हैं, एक-दूसरे से परिचय करते हैं। आपकी पत्नी दूसरे पुरुष के पास बैठेगी, दूसरे की पत्नी आपके पास बैठेगी। परस्त्री और परपुरुष का संपर्क-परिचय - उसको वे लोग अच्छा मानते हैं! रात को बारह-एक बजे तक उन लोगों का कार्यक्रम चलता रहता है। एक युगल जिसको मैं जानता हूँ - उसकी बात है। स्त्री किसी दूसरे पुरुष के परिचय में आ गयी। शारीरिक संबंध हो गया.....। पति को मालूम नहीं हुआ था। रात को एक बजे दोनों घर पर आये। जब सब सो गये तब उस महिला ने अग्निस्नान कर लिया। खानदान घराना था। महिला ने संयोगवश शीलभंग कर लिया, परन्तु उसके हृदय में घोर पश्चात्ताप हुआ होगा। आत्महत्या करके वह मर गई। इतना होने पर भी पति को खयाल नहीं आया कि 'मेरी ही वजह से यह दुःखद घटना घटी है।'

दोषों को, दुर्गुणों को, दुष्कृत्यों को प्रोत्साहन देने से वे दोष और दुर्गुण आपके जीवन में आयेंगे। आप दुष्कृत्य करने वाले बन जायेंगे। वैसे ही यदि आप गुणों को एवं सत्कार्यों को प्रोत्साहन देंगे तो आपके जीवन में अनेक शुभ गुण आयेंगे और आप अनेक सत्कार्य करने वाले बन जायेंगे।

गुणों की हमेशा सराहना करो :

जो गुण आप में नहीं हैं, दूसरों में हैं, आप उनकी प्रशंसा करें। जैसे कोई निर्बल मनुष्य है, दूसरे बलवान पुरुष को देखता है तो उसकी प्रशंसा किये बिना नहीं रहता है। जैसे कोई निर्धन मनुष्य है, दूसरे धनवान पुरुष को देखता है तो उसकी प्रशंसा करता ही है। वैसे, आप में कोई विशेष गुण नहीं है, परन्तु दूसरे मनुष्य में आप देखते हैं तो आपको गुण और गुणवान् की प्रशंसा करनी ही चाहिए।

यह प्रशंसा तब होगी, यदि आपकी गुणवान् होने की प्रबल इच्छा है। गुण आपको प्यारे लगते हैं! आप में गुण हैं या नहीं हैं - यह बात महत्त्व की नहीं है, आपके मन में गुणों के प्रति अनुराग होना, महत्त्व की बात है।

रावण का गुणानुराग :

रेवा नदी के किनारे पर रावण और राजा सहस्रकिरण का भयानक युद्ध हुआ। सहस्रकिरण पर रावण ने विजय पायी, परन्तु युद्ध में सहस्रकिरण का अद्भुत पराक्रम देखकर रावण मुग्ध हो गया था। सहस्रकिरण को उसने बंदी बनाया था। परन्तु जब आकाश-मार्ग से एक महामुनि रावण की छावनी में पधारे और रावण को मालूम हुआ कि ये महामुनि सहस्रकिरण के पिता हैं, तब रावण ने तुरन्त ही सहस्रकिरण को बंधनमुक्त कर दिया और राजसभा में सहस्रकिरण के पराक्रम की प्रशंसा की। सहस्रकिरण को अपना भाई बना कर, उसको उसका राज्य वापस लौटाने की घोषणा की और सहस्रकिरण से कहा : 'तू मेरा लघु बंधु है, और भी राज्य मांग ले, तू जो राज्य मांगेगा, मैं तुझे अवश्य दूँगा।'

उस समय सहस्रकिरण ने कहा : 'लंकापति! अब मुझे राज्य से कोई लगाव नहीं है। राज्य-संपत्ति का कोई मोह नहीं है। मेरा मन संसार के सुख-वैभवों से विरक्त बना है। मेरे ही भाग्ययोग से ये पूजनीय महामुनि यहाँ पधारे हैं। मैं उनके चरणों में जीवन समर्पित करूँगा.... श्रमण बनकर आत्मकल्याण की साधना करूँगा। कर्म-बन्धनों को तोड़ने का पुरुषार्थ करूँगा।'

रावण, सहस्रकिरण की वैराग्यपूर्ण वाणी सुनकर स्तब्ध रह गया। सहस्रकिरण के त्याग-वैराग्य ने रावण के हृदय को गद्गद कर दिया। रावण की आँखों में हर्ष के आँसू उभरने लगे। उसने भावपूर्वक सहस्रकिरण के गुणों की प्रशंसा की। सहस्रकिरण ने वहीं पर अपने पिता-मुनिराज के चरणों से श्रमणत्व अंगीकार कर लिया।

हालाँकि रावण के जीवन में त्याग-वैराग्य नहीं था, परन्तु त्याग-वैराग्य के प्रति श्रद्धा अवश्य थी! प्रेम था, आदर था। इसलिए उसके समग्र जीवन में कहीं पर भी त्यागी-वैरागी के प्रति अनादर या तिरस्कार देखने को नहीं मिलता है। रावण में गुणानुराग का विशिष्ट गुण था।

एक अपेक्षा से देखा जाय तो गुणवान् से भी गुणानुरागी की कक्षा उच्च होती है। गुणवान् होना सरल है, गुणानुरागी होना दुष्कर है। स्वयं उदार होना सरल है, परन्तु दूसरे उदार व्यक्तियों की प्रशंसा करना सरल नहीं है। स्वयं तपस्वी होना सरल है, परन्तु दूसरे तपस्वियों की प्रशंसा करना सरल नहीं है। प्रशंसा करने के लिए हृदय भावुक और उदार होना चाहिए। संकीर्ण हृदय दूसरों के गुणों का अनुरागी नहीं बन सकता है।

सुखी जीवन के उपाय :

पाँच गुण: 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के टीकाकार आचार्यश्री ने गुणों का निर्देश करते हुए पाँच विशेष गुण बताये हैं - (१) दाक्षिण्य, (२) सौजन्य, (३) औदार्य, (४) स्थैर्य और (५) प्रिय वचन। दूसरा निर्देश किया है आत्मगुणों का - क्षमा, नम्रता, सरलता, निर्लोभता..... वगैरह। ऐसे-ऐसे गुण जिस किसी व्यक्ति में देखें, आप बहुमान से उसकी प्रशंसा करें। मात्र प्रशंसा कर, आप छुटकारा नहीं पा सकेंगे। यदि उस गुणवान् व्यक्ति को कोई सहायता की अपेक्षा है तो आप अवश्य अपनी शक्ति के अनुसार सहायता करेंगे। इतना ही नहीं, गुणवान् आत्माओं के साथ सदैव आप अनुकूल प्रवृत्ति करेंगे।

गुणों का पक्षपात आपके हृदय में प्रगट हो जाने पर, सहायता करनी नहीं पड़ेगी, सहायता हो जायेगी। सहजता से सहायता हो जायेगी। अनुकूल प्रवृत्ति करनी नहीं पड़ेगी..... सहजता से हो जायेगी।

सभा में से : गुणवान् पुरुषों में गुणों के साथ जब दोष देखते हैं तब उनके प्रति आदरभाव नहीं बनता है। दोष देखकर द्वेष ही हो जाता है।

दृष्टि वैसी सृष्टि :

महाराजश्री : दोष तो सभी संसारी जीवों में होते हैं। जो वीतराग नहीं बने हैं, उन सभी जीवों में दोष होते ही हैं। किसी भी जीव के प्रति आप आदरभाव वाले नहीं बन पायेंगे। दोष होने पर भी दोष देखना नहीं है। दोष दिखायी देने पर, दोषों को महत्त्व देना नहीं है। दोषों की उपेक्षा कर देनी है। आप हमेशा

ऐसा सोचें कि : 'मुझे किसी के दोषों से मतलब नहीं है। मुझे तो गुणों से मतलब है.... दूसरों के दोष देखते-देखते तो मैं दोषों से भर गया हूँ। अब मुझे दोष नहीं देखने हैं। इस मनुष्यजीवन में मुझे गुणों का वैभव प्राप्त करना है। मुझे हंस बनकर गुण-मोती का चारा चुगना है। दूसरों के दोष देखने नहीं है, दोषानुवाद करना नहीं है। गुणों को ही देखना है और गुणानुवाद करना है। मेरे मन में भी गुणों का ही चिंतन करना है।'

गुणानुराग से, गुणपक्षपात से निकाचित पुण्यकर्म बंधते हैं। यह पहला बड़ा लाभ है। दूसरा लाभ है गुणों की प्राप्ति का। इस वर्तमान जन्म में गुणों की प्राप्ति होती है और आने वाले जन्म में भी गुणों की प्राप्ति होती है।

गुणवानों के प्रति आदरभाव रखने से, उनकी प्रशंसा करने से, उनको अवसरोचित सहायता करने से और सदा अनुकूल प्रवृत्ति करने से, गुणवानों के साथ संपर्क होता है। दीर्घकाल तक संपर्क बने रहने से उनके गुण आप में आयेंगे ही। 'संपर्कजन्या गुणदोषाः।' संपर्क से गुणदोष पैदा होते हैं। गुणवानों के संपर्क से गुण पैदा होंगे।

और गुणानुराग के पवित्र आशय से जो पुण्यकर्म बांधा होगा, वह पुण्यकर्म आने वाले जन्म में जब उदय में आयेगा, तब अच्छे गुणवान् परिवार में जन्म होगा। उच्च कुल, उच्च जाति, सुन्दर रूप, अपूर्व बल और बुद्धि के साथ साथ उत्तम गुणों की भी प्राप्ति होगी।

सभा में से : गुणपक्षपात से इतना सब कुछ प्राप्त होता है क्या?

महाराजश्री : हाँ, अवश्य प्राप्त होता है। गुणपक्षपात की शक्ति को आप लोग समझे नहीं हैं। गुणपक्षपात का आशय, चिन्तामणि रत्न की शक्ति से भी बहुत ज्यादा शक्तिशाली है। चिन्तामणि रत्न का प्रभाव तो आप जानते हैं न?

सभा में से : जानते तो हैं, परन्तु वह रत्न मिल नहीं रहा है!

महाराजश्री : कैसे मिलेगा? उत्तम वस्तु की प्राप्ति श्रेष्ठ पुण्यकर्म के उदय से होती है। श्रेष्ठ पुण्यकर्म लेकर जन्मे होते तो चिन्तामणि रत्न प्राप्त होता। खैर, अफसोस नहीं करना। चिन्तामणि रत्न से भी महान् शक्तिशाली रत्न आपको देता हूँ। वह है गुणपक्षपात। लेना है? तो ले लो। भविष्य को उज्ज्वल बनाना है तो गुणपक्षपाती बन जाओ। भले, आप गुणवान् न हों, परन्तु गुणवानों के प्रति आदर-प्रेम रखना शुरू करो।

किसी व्यक्ति में आपने सौजन्य देखा, किसी में दाक्षिण्य देखा, किसी में औदार्य देखा, किसी में स्थैर्य देखा, किसी में प्रिय वचन का गुण देखा... आप उसकी प्रशंसा करें। हार्दिक प्रशंसा करें। उस व्यक्ति के सामने प्रशंसा करना उचित नहीं लगता हो तो दूसरों के सामने अवसरोचित प्रशंसा करते रहो।

संस्कारों के लिए जीना सीखो :

रवीन्द्रनाथ टेगौर का नाम तो आपने सुना ही होगा। उनके पिताजी देवेन्द्रनाथ टेगौर की एक घटना है। इस घटना से आपको 'सौजन्य' गुण किसको कहते हैं, वह मालूम होगा। देवेन्द्रनाथ के पिताजी द्वारकानाथ ठाकुर कलकत्ता के प्रसिद्ध व्यापारी व जमीनदार थे। वे व्यवहारदक्ष पुरुष थे। उन्होंने अपने जीवनकाल में, वंशपरंपरागत संपत्ति का एक अलग ट्रस्ट कर दिया था।

द्वारकानाथ की मृत्यु हुई। उनकी व्यापारी पेढ़ी में ३० लाख रुपये का नुकसान था। पेढ़ी का मैनेजर, जो कि एक अंग्रेज था, उसके लेनदारों को एक साथ बुलाकर कहा : 'हमारी पेढ़ी का कर्जा एक करोड़ रुपये हैं, जबकि लेना ७० लाख रुपया है। ३० लाख रुपयों का नुकसान है। पेढ़ी के मालिक, अपनी पूरी संपत्ति... जमीन वगैरह बेचकर भी कर्जा चुकाना चाहते हैं। आप लोग पेढ़ी का लेना-देना समझालो। जमीनदारी के हक भी ले लो और अपना-अपना जो लेना है, ले लो। परन्तु एक ट्रस्ट की जो संपत्ति है, उस पर आपका अधिकार नहीं होगा।'

देवेन्द्रनाथ वहाँ उपस्थित थे। भारतीय संस्कृति के संस्कार गये नहीं थे। 'मेरे धर्म की आज्ञा है कि जो सुपुत्र होता है वह पिता के ऋण को चुकाता है। मुझे भी पिताजी का कर्जा चुकाना ही चाहिए।' उन्होंने लेनदारों से कहा : 'आपको गॉर्डन साहब ने कहा कि हमारी ट्रस्ट की संपत्ति पर आप अधिकार नहीं कर सकेंगे, वह बात कानून से तो ठीक है, फिर भी हम उस ट्रस्ट को खत्म करके, वह संपत्ति भी आप लोगों को देने के लिए तैयार हैं। पितृऋण से हमें मुक्त होना है।'

लेनदार लोग, देवेन्द्रनाथ की बात सुनकर स्तब्ध रह गये। ३० साल के युवक देवेन्द्रनाथ की आदर्श निष्ठा से अत्यन्त प्रभावित हुए। कुछ लेनदारों की आँखों में से आँसू बहने लगे। देवेन्द्रनाथ के सौजन्य ने, लेनदारों में भी सौजन्य का दीपक जला दिया। लेनदारों ने देवेन्द्रनाथ की संपत्ति का नीलाम नहीं किया, परन्तु पेढ़ी का कारोबार अपने हाथ में लेकर पेढ़ी को व्यवस्थित

किया। देवेन्द्रनाथ को प्रतिवर्ष ढाई हजार रुपया देने का नक्की किया और बाद में पेढ़ी भी उनको सौंप दी।

लोगों ने देवेन्द्रनाथ के सौजन्य की प्रशंसा की, लेनदारों के सौजन्य को भी सराहा।

राजा प्रजा के साथ जिये :

दूसरी एक घटना पुराने समय की है। इटली देश की रानी मार्गरेट, अपने नौकरों के साथ आल्प्स पर्वत पर चढ़ रही थी। रास्ते में हवा का बवंडर आया। रास्ते में 'आल्पाइन क्लब' का एक छोटा-सा बंगला था। रानी अपने नौकरों के साथ उस बंगले में पहुँची। रानी को देखकर बंगले में जो लोग थे, उन्होंने बाहर जाने की तैयारी की। रानी ने कहा : 'यह आफत अपने सब पर आयी है। इस समय आप सभी मेरे देश में और इस बंगले में मेरे मेहमान हो। अपन सबको यहाँ बैठने की जगह नहीं मिलेगी तो सब खड़े रहेंगे। परन्तु रहेंगे सब साथ। ईश्वर ने मुझे राजसिंहासन दिया है..... उच्चपद दिया है, तो ऐसे समय मुझे सज्जनता बतानी ही चाहिए।'।

वहाँ उपस्थित देश-विदेश के लोग हर्षविभोर हो गए। रानी के सौजन्य की सराहना करने लगे। रानी की मृत्यु के बाद भी इटली की प्रजा उसके गुणों को नहीं भूली।

सहानुभूति से सबको जीतो :

एक १८-१९ साल का लड़का, नौकरी करने गुजरात से बम्बई आया। एक महीने तक उसको कोई नौकरी नहीं मिली। बाद में एक परिचित भाई के द्वारा शेयर बाजार में नौकरी मिल गई।

सेठ लुवाणा जाति के थे। यह लड़का जैन था। धार्मिक था। रात्रिभोजन नहीं करता था, रोजाना गरम पानी पीता था। पायधूनी से पैदल चल कर वह फोर्ट में जाता था। शाम को ऑफिस बंद होने पर पैदल घर पर जाता था। सूर्यास्त हो जाता था इसलिए शाम को वह भोजन नहीं कर पाता था।

एक दिन शाम को पाँच बजे, यह लड़का ऑफिस में एक जगह बैठकर पानी पी रहा था..... सेठ ने उसको देखा। पानी पीने के बाद उस लड़के ने दो हाथ जोड़े..... कुछ बोला और खड़ा हो गया। सेठ ने उसको पास में बुलाकर पूछा : 'तूने यह क्या किया?'

लड़के ने कहा : 'सेठ साहब, मैं जैन हूँ। हमेशा गर्म पानी पीता हूँ। पानी घर से लेकर आता हूँ। सूर्यास्त के बाद खाना नहीं खाता हूँ और पानी भी नहीं पीता हूँ। इसलिए पानी पी लिया और श्री नमस्कार महामंत्र का स्मरण कर लिया।'

'तो क्या तू हमेशा शाम को भूखा रहता है? मेरे पास नौकरी करनेवाला भूखा रहे - यह मेरे लिए शर्म की बात है।' सेठ ने कुछ क्षण सोचा और बोले : 'कल से तू शाम को पाँच बजे ऑफिस से छुट्टी ले लेना। शाम को भोजन करना। दो महीना तू शाम को भूखा रहा, मुझे इस बात का दुःख हो रहा है।'

लड़के ने भी अपना कर्तव्य निभाया :

लड़के ने बड़ी प्रामाणिकता से सेठ का काम किया। सेठ के घर पर वह जाता और घर का काम भी करता। सेठ ने उसको अपना पार्टनर बनाया और जब सेठ मृत्युशय्या पर थे तब उन्होंने ऑफिस उसको सौंप दी। लड़का सेठ के उपकारों के भार से दब गया था, रो पड़ा। सेठ ने मरते समय सेठानी के सामने उंगली उठा कर लड़के को मौन भाषा में जो कहना था सो कह दिया। सेठ की मृत्यु हो गई। उस लड़के ने सेठानी को काफी आश्वासन दिया। आर्थिक व्यवस्था जमा दी। और सेठानी से कहा : 'मैं आपका ही लड़का हूँ, आप मेरी माता हैं। मैं हमेशा यहाँ आऊँगा। जो भी काम-काज हो, मुझे बताते रहना। सेठ साहब के गुणों को मैं कभी नहीं भूल सकता! वे महान् उदारचित्त सद्गृहस्थ थे। उनमें श्रेष्ठ मानवता थी। उन्होंने ही मुझे ऊँचा उठाया। उनके उपकारों का बदला मैं कब चुकाऊँगा?'

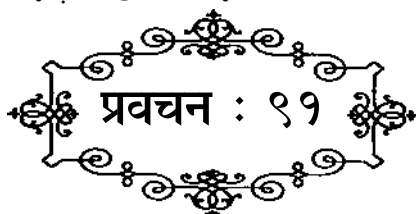
जब तक सेठानी का जीवन रहा, यह युवक वहाँ जाता रहा, सेवा करता रहा और सेठ के एवं सेठानी के गुणों की प्रशंसा करता रहा। सेठानी को हर कार्य में सहयोग देता रहा। उनके अनुकूल प्रवृत्ति करता रहा।

'गुणपक्षपात' का यह सामान्य धर्म आप लोगों को भी आत्मसात् हो, यही मंगल कामना।

आज बस, इतना ही।



- ४५ आगमों की पूजा पढ़ानेवालों को ४५ आगम के नाम तक याद नहीं हैं! हमने केवल क्रियाओं के डिब्बों को पकड़ रखा है... भीतर की भावनाओं का जौहरात पूरा का पूरा गायब है, इसका हमें पता ही नहीं है!
- जिज्ञासा और कौतूहल में अंतर है... जिज्ञासा गतिशील रहती है, जिज्ञासा तो ज्ञान की जननी है - ज्ञान का घट घट्टघट है। जिज्ञासा बढ़ाइये, पर कौतूहल से बचिये। कौतूहल आपके व्यक्तित्व को उथला बना देगा। जिज्ञासा आपको ऊँचाई प्रदान करेगी।
- आपको शायद मालूम नहीं होगा... एक जर्मन विद्वान् ने ४५ आगमों पर 'रिसर्च' करके महालिबंध लिखा है। 'अभिधान चिंतामणि' और 'कल्पसूत्र' जैसे ग्रन्थ सबसे पहले जर्मनी में मुद्रित हुए।
- गीतार्थ साधु समय के पारखी होते हैं। उन्हें मालूम होता है कब, किसको, क्या और कितना उपदेश देना? हर एक पर उपदेश की झाड़ी नहीं बरसाई जाती!



परम उपकारी, महान् श्रुतधर आचार्यदेवश्री हरिभद्रसूरीश्वरजी स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के प्रथम अध्याय में, गृहस्थ जीवन के सामान्य धर्म बता रहे हैं। आज मैं आपको अन्तिम सामान्य धर्म 'ऊहा-अपोहादियोग' यानी 'बुद्धि के आठ गुण' बताऊँगा।

हालाँकि सामान्य धर्मों की संख्या ३५ है, परन्तु अपन ने अजीर्ण में भोजनत्याग एवं 'बलापाये प्रतिक्रिया' इन दो सामान्य धर्मों का समावेश 'प्रकृति-अनुकूल भोजन' में कर दिया है। इसी वजह से सामान्य धर्मों की संख्या ३३ हुई है।

गृहस्थ में बुद्धिमत्ता होना बहुत ही आवश्यक है। केवल बुद्धि होना पर्याप्त नहीं है, बुद्धिमत्ता होनी चाहिए। बुद्धि का काम विचार करने का है, सही विचार या गलत विचार। जबकि बुद्धिमत्ता का अर्थ होता है सही दिशा में विचार करना।

बुद्धिमान् एवं बुद्धिमत्ता का भेद :

एक मनुष्य अपनी बुद्धि से किसी को मारने की योजना बनाता है, दूसरा मनुष्य किसी मरते हुए को बचाने का उपाय सोचता है। दोनों की बुद्धि में फर्क है। मारने की योजना बनानेवाला बुद्धिमान् हो सकता है, परन्तु उसमें बुद्धिमत्ता नहीं कहलायेगी। जब कि दूसरा मनुष्य बुद्धिमत्तावाला कहलायेगा।

वैसे, परस्त्री का अपहरण करनेवाला बुद्धिमान् हो सकता है, परन्तु बुद्धिमत्तावाला नहीं कहलायेगा। दूसरों का धन-माल लूटनेवाला भी बुद्धिमान् हो सकता है, परन्तु बुद्धिमत्तावाला नहीं।

सद्गृहस्थ में बुद्धिमत्ता होनी चाहिए। बुद्धिमत्ता, किसी मनुष्य में स्वाभाविक रूप से होती है तो किसी को प्रयत्न से संपादन करनी पड़ती है। प्रस्तुत गृहस्थ धर्म में बुद्धि के जो आठ गुण बताये हैं, वे आठ गुण तत्त्वनिर्णय की दृष्टि से बताये गये हैं।

हालाँकि, यहाँ पर बताये हुए आठ गुणोंवाली बुद्धि ही बुद्धिमत्ता की जननी हो सकती है, इसलिए पहले मैं आपको बुद्धि के आठ गुण बताऊँगा। पहले नाम बता देता हूँ :

१. सुश्रूषा

२. श्रवण

३. ग्रहण

४. धारण

५. विज्ञान

६. ऊह

७. अपोह

८. तत्त्वाभिनिवेश

अब, एक-एक का विवेचन करता चलूँगा, ध्यान से सुनना, मेरी ओर ही देखना। इधर-उधर मत देखना।

पहला गुण है सुश्रूषा। सुनने की इच्छा यानी सुश्रूषा। इच्छा होना, बुद्धि का-मन का कार्य है। मन को यहाँ बुद्धि के नाम से समझना है। चूँकि तत्त्वबोध से प्रस्तुत में मतलब है। जो बोध कराये उसका नाम बुद्धि! बुद्ध-प्रबुद्ध व्यक्ति से बोध प्राप्त होता है। ऐसे प्रबुद्ध व्यक्ति के पास जाकर, 'मैं तत्त्वबोध प्राप्त करूँ,' ऐसी इच्छा पैदा होनी चाहिए।

सभा में से : इस प्रकार बुद्धि का पहला गुण हम लोगों में तो है न!

महाराजश्री : हाँ, आप लोग यदि यहाँ तत्त्वबोध पाने की इच्छा से, प्रवचन सुनने की इच्छा से आते हो तो बुद्धि का पहला गुण है आप लोगों में। और

एकाग्र मन से सुन रहे हो तो दूसरा गुण भी है आप लोगों में। बुद्धि का दूसरा गुण है श्रवण, श्रवण यानी सुनना। तन्मय होकर सुनना! जहाँ सुनने की इच्छा से सुना जाता है वहाँ तन्मयता आ ही जाती है।

जिज्ञासा ज्ञान की जननी है :

आत्मज्ञान, तत्त्वज्ञान या पदार्थज्ञान पाने की... सुनने की इच्छा पैदा होना भी बड़ी बात है! जो लोग मोहग्रस्त होते हैं, यानी जिन लोगों का मन मोहाक्रान्त होता है या द्वेषाक्रान्त होता है वे लोग तत्त्वश्रवण के प्रति रुचिवाले नहीं होते हैं। भोगासक्त और अर्थलोलुप मनुष्य की बुद्धि में तत्त्वश्रवण की इच्छा पैदा नहीं हो सकती है। ऐसे लोगों की दृष्टि अर्थ और काम (विषयोपभोग) में ही लगी रहती है। सुविधा और सुंदरता की ललक बनी रहती है। अर्थोपार्जन की बातों में ही उसकी बुद्धि लगी रहती है। ज्ञानप्राप्ति की इच्छा कैसे पैदा हो सकती है? वर्तमान युग में देखा जाय तो तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में तो नहीं, व्यावहारिक-क्षेत्र में ज्ञानप्राप्ति की इच्छा लोगों में बहुत कम पायी जाती है। तत्त्वज्ञान पाने की इच्छा तो बहुत थोड़े लोगों में पायी जाती है।

तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में मूल बात है तत्त्वजिज्ञासा। तत्त्वश्रवण की इच्छा पैदा होनी चाहिए। आत्मा, कर्म, परलोक, विश्वव्यवस्था, द्रव्य-गुण-पर्याय, उत्पत्ति-स्थिति-लय... इत्यादि तत्त्वों को जानने की इच्छा आप लोगों को होती है? और, यदि प्रवचनों में ऐसी तत्त्वज्ञान की बातें कहना शुरू कर दूँ तो?

सभा में से : हम लोगों को तो सरल और कहानीप्रचुर प्रवचन ही पसंद आते हैं। तत्त्वज्ञान की बातें बहुत कम लोगों की समझ में आती हैं।

विदेशी ने ४५ आगम पर शोधप्रबंध लिखा!

महाराजश्री : मेरी बात है जिज्ञासा की। तत्त्वज्ञान पाने की जिज्ञासा है क्या? जिज्ञासावाला मनुष्य तत्त्वज्ञान का श्रवण करेगा ही। बातें समझेगा नहीं तो पुनः-पुनः सुनेगा, समझने का भरसक प्रयत्न करेगा। जो अगम अगोचर तत्त्व है, जो जड़-चेतन द्रव्यों का स्वरूप समझानेवाला तत्त्वज्ञान है... वह जानने की, समझने की इच्छा पैदा होने पर, जहाँ पर ये बातें सुनने को मिलेंगी वहाँ वह अवश्य जायेगा और सुनेगा। अमरीका, जापान, जर्मनी वगैरह देशों में जन्मे हुए ऐसे तत्त्व-जिज्ञासावाले लोग, क्या भारत में नहीं आते हैं? मुझ से भी ऐसे कुछ लोग मिले हुए हैं। प्राचीन धर्मग्रन्थों की बातें सुनने की, समझने की जिज्ञासा लेकर भी कई विदेशी भारत आते हैं। एक विदेशी ने

अपने ४५ आगमों को लेकर महान् शोधप्रबंध लिखा है! कैसे लिखा होगा? पहले जिज्ञासा पैदा हुई होगी, फिर उन शास्त्रों को-आगमों को सुना होगा या विद्वानों से पढ़ा होगा, समझा होगा... उस पर चिन्तन-मनन किया होगा... तब लिखा होगा न? आप लोगों में ४५ आगम सुनने की इच्छा भी पैदा हुई है क्या?

सभा में से : कभी ४५ आगम की पूजा पढ़ा लेते हैं मंदिर में जाकर!

महाराजश्री : और उस पूजा में उपस्थित भी रहते होंगे? नहीं न? मंदिर की पेढ़ी में रुपये जमा करा देते होंगे? 'हमारी ओर से ४५ आगम की पूजा पढ़वा लेना।' कह कर अपने घर पर! पुजारी किताब पढ़ कर पूजा बोल दे और थोड़े फल, थोड़ा नैवेद्य भगवान् के सामने रख दे...! हो गई पूजा!

४५ आगम के नाम भी जानते हो क्या? धर्मशास्त्रों के प्रति श्रद्धा, भक्ति और बहुमान है क्या? तो फिर उन शास्त्रों को सुनने की इच्छा कैसे जाग्रत होगी? आगम-ग्रन्थों के प्रति प्रीति होनी ही चाहिए। चूँकि ये आगम-ग्रन्थ ही हमारे मोक्षमार्गप्रकाशक हैं। बुद्धि का पहला गुण होगा तो ऐसे आगम-ग्रन्थों का श्रवण करने की इच्छा पैदा होगी ही।

जिनसे तत्त्वज्ञान पाना है, जिनसे श्रवण करना है, उनके प्रति विनयपूर्ण व्यवहार होना चाहिए। विनयधर्म का पालन करते-करते शुश्रूषा का भाव पैदा हो जाता है! कहा गया है - 'विनयफलं शुश्रूषा' विनय का फल शुश्रूषा है : ज्ञानीपुरुषों का विनय करते रहो, तत्त्वश्रवण करने की इच्छा स्वतः पैदा हो जायेगी अथवा विनय से प्रसन्न गुरुजन आपके हृदय में शुश्रूषा का भाव पैदा कर देंगे।

विनय से ज्ञान प्राप्त होता है :

एक गाँव था। पूरा गाँव डाकुओं का था। ५०० डाकू-परिवार उस गाँव में रहते थे। एक आचार्य अपने शिष्य-परिवार के साथ पदयात्रा करते हुए वहाँ से गुजर रहे थे। अचानक बरसात हुई, होती ही रही बरसात। रास्ते में नदियाँ पानी से उभरने लगीं। रास्ता कीचड़वाला हो गया। पदयात्रा आगे होना असंभव-सा हो गया। आचार्यदेव ने गाँव के मुखिया से पूछा : 'महानुभाव, हम जैन साधु हैं। वाहन का उपयोग नहीं करते हैं और भिक्षावृत्ति से जीवननिर्वाह करते हैं। अब हम यहाँ से आगे नहीं बढ़ सकते हैं। क्या वर्षाकाल हम यहाँ व्यतीत कर सकते हैं? हमको यहाँ रहने की जगह मिल सकती है? और हमारे यहाँ रहने से आप लोगों को कोई तकलीफ तो नहीं होगी?'

गाँव का मुखिया, सभी डाकूओं का सरदार था। आचार्य की बात सुनकर उसने सोचा। ये साधुपुरुष हैं। हमेशा धर्म का उपदेश देते हैं। हम सभी हैं डाकू! ये साधु कहेंगे : 'हिंसा नहीं करना, झूठ नहीं बोलना, चोरी नहीं करना, सदाचार का पालन करना... वगैरह। यदि उनका उपदेश सुनकर गाँव के लोग हिंसा वगैरह छोड़ दें तो हमारा धंधा ठप्प हो जायेगा। हम तो डाकू हैं... हमें हिंसा, चोरी वगैरह तो करनी ही पड़ती है। तो फिर क्या करूँ? मना कर दूँ यहाँ रहने की? तो ये साधु जायेंगे कहाँ? आसपास कोई दूसरा गाँव नहीं है... रास्ते सभी बंद हो गये हैं... इस बीहड़ जंगल में वे कहाँ निवास करेंगे?'

डाकू-सरदार के मन में साधुओं के प्रति सहानुभूति पैदा हुई। वह सहानुभूति से सोचता है। उसने बहुत सोचा। एक विचार उसके मन में आया, वह आचार्य के पास गया और विनय से बैठ कर बोला :

'आप साधु है। धर्म का उपदेश देना, आपका कार्य है, परन्तु हम सभी डाकू हैं! मैं नहीं चाहता कि आप यहाँ रहकर लोगों को धर्म का उपदेश दें। आप यहाँ रह सकते हैं, आपको यहाँ भिक्षा भी मिल जायेगी... परन्तु आपको धर्म का उपदेश नहीं देना है। यदि आपको यह बात मान्य हो तो आप यहाँ रह सकते हो।'

आचार्यदेव ने डाकू-सरदार की बात सुनी। उसकी नम्रता देखी, उसका विनय देखा... कुछ क्षण सोचा और कहा : 'महानुभाव, हम अपना ज्ञान-ध्यान करते रहेंगे, हम किसी को भी धर्म का उपदेश नहीं देंगे। यों भी हम लोग तत्त्वजिज्ञासुओं को ही उपदेश देते हैं, जो सुनने आते हैं उनको उपदेश देते हैं। यहाँ हम किसी को भी धर्मोपदेश नहीं देंगे।'

डाकू-सरदार ने साधुओं को आवास दे दिया। साधु भी अपनी जीवनचर्या इस प्रकार जीते हैं कि गाँव में किसी को भी उनके प्रति दुर्भाव न हो। सब अपने ज्ञान-ध्यान में निमग्न रहते हैं।

उपदेश इच्छुक को दिया जाता है :

डाकू-सरदार प्रतिदिन आचार्य के पास जाता है और कुशलता पूछता है। साधुओं की जीवनचर्या देखता है। बड़ा प्रभावित होता जाता है। परन्तु आचार्य, डाकू-सरदार को एक शब्द भी उपदेश का नहीं कहते हैं! कितनी धीरता होगी! बाकी, हम लोगों को तो उपदेश दिये बिना चैन नहीं होता है! जब तक मनुष्य में धर्मश्रवण करने की इच्छा नहीं दिखाई दे तब तक उसको

उपदेश नहीं देना चाहिए। यहाँ तो आचार्य प्रतिज्ञाबद्ध भी थे कि जब तक इस गाँव में रहेंगे तब तक धर्मोपदेश नहीं देंगे!

सभा में से : क्या उस डाकू-सरदार को कभी भी उपदेश सुनने की इच्छा पैदा नहीं हुई होगी?

महाराजश्री : इच्छा पैदा होती तो वह आचार्य को विनती करता कि 'आज तो आपका उपदेश सुनना है।' परंतु जब तक आचार्य वहाँ रहे, डाकू-सरदार ने कभी विनती नहीं की। मान लें कि इच्छा हृदय में जगी हो परंतु भय से इच्छा प्रगट नहीं की हो। उसके मन में भय था न? 'उपदेश सुनें तो चोरी का धंधा छूट जायेगा।' दूसरा कोई धंधा उन लोगों के पास नहीं होगा अथवा, दूसरा कोई अच्छा धंधा करने के सानुकूल संयोग नहीं रहे होंगे। चोरी के, हत्या के कई अपराधों में, ऐसे लोग फँसे हुए होते हैं। राज्य के अपराधी बन जाने के बाद मनुष्य के लिए समाज में रहना मुश्किल बन जाता है। वे अच्छा धंधा नहीं कर सकते हैं। उनको छिपकर रहना पड़ता है।

सभा में से : राज्यसत्ता के सामने आत्मसमर्पण कर दें तो?

महाराजश्री : तो भी अपराधों की सजा तो कारावास में भुगतनी ही पड़ती है। कई वर्ष तक कारावास में रहना पड़ता है! यह बात डाकुओं को कैसे कबूल होगी? मुक्त जीवन के आदी वैसे वे डाकू कारावास का जीवन प्रायः पसंद नहीं करते हैं। मजबूरन कारावास में जाना पड़े, वह दूसरी बात है।

डाकू-सरदार कि जिसका नाम वंकचूल था, आचार्यदेव के व दूसरे साधुओं के क्षमापूर्ण व्यवहार से बड़ा प्रभावित होता जाता था। दो-तीन महीने व्यतीत होने पर उसके हृदय में आचार्यदेव के प्रति स्नेह प्रकट हुआ।

एक दिन आचार्यदेव ने वंकचूल से कहा : 'महानुभाव, अब हम यहाँ से कल प्रातःकाल विहार करेंगे। तुमने हमारी संयम-आराधना में बहुत अच्छी सहायता की है।'

स्नेह से उपदेश ग्रहण किया :

वंकचूल कुछ भी नहीं बोल सका। उसका कंठ अवरुद्ध हो गया। उसकी आँखें चूने लगीं। वह आचार्यदेव को प्रणाम कर, अपने घर पर चला गया। दूसरे दिन प्रातः वह आचार्यदेव के पास गया। आचार्यदेव व साधुसमुदाय विहार करने के लिए तैयार ही खड़े थे।

मार्ग बताने के लिए वंकचूल आचार्यदेव के साथ चलता है। उसके मन पर और मुँह पर उदासी छायी हुई है। गाँव की सीमा समाप्त हुई और सब आगे बढ़े। रास्ता सीधा मिल गया। आचार्यदेव खड़े रहे। सभी साधु खड़े रह गये। आचार्यदेव ने वंकचूल के सामने देखा। वंकचूल दो हाथ जोड़कर, नतमस्तक होकर खड़ा था। आचार्यदेव बोले : 'महानुभाव, अब हम गाँव से बाहर आ गये हैं, अब तो मैं कुछ धर्मोपदेश दे सकता हूँ तुझे?' 'अवश्य गुरुदेव, मेरे योग्य धर्म बताने की कृपा करें। आप जानते हैं कि मैं डाकू...' वंकचूल रो पड़ा। आचार्यदेव ने उसके सर पर हाथ फेरा और कहा : 'मैं तुझे चार प्रतिज्ञा देता हूँ, तू पालन कर सकेगा।'

'आप बताने की कृपा करें।' वंकचूल में सुश्रूषा पैदा हुई। धर्मश्रवण करने की इच्छा पैदा हुई। गुरुविनय से यह इच्छा पैदा हुई थी। वह गुरुदेव का उपदेश सुनने के लिए तत्पर बना। १. 'किसी भी जीव पर शस्त्र से प्रहार करने से पूर्व सात कदम पीछे हट जाना' - यह है पहली प्रतिज्ञा। २. 'कोई भी अनजान फल नहीं खाना' - यह है दूसरी प्रतिज्ञा। ३. 'राजा की रानी से प्यार नहीं करना' - यह है तीसरी प्रतिज्ञा। ४. 'कौए का मांस नहीं खाना' - यह है चौथी प्रतिज्ञा।

यदि तू यह चार प्रतिज्ञायें ग्रहण करेगा तो तेरी जीवनरक्षा तो होगी ही, तेरे जीवन में धर्म का बीज पड़ेगा। तेरा भविष्य उज्ज्वल बनेगा।

वंकचूल ने आचार्यदेव का उपदेश ध्यान से सुना! चारों बातें स्मृति में भर लीं और उसने सोचा : 'आचार्य मुझे संपूर्ण हिंसा का त्याग तो करवाते नहीं है, वे तो प्रहार करने से पूर्व सात कदम पीछे हटने को कहते हैं... इतना तो मैं कर सकता हूँ।' दूसरी बात उन्होंने कही अनजान फल नहीं खाने की। जंगलों के कौन-से फलों से मैं अनजान हूँ? कभी मान लो कि अनजान फल आ गया, तो मैं नहीं खाऊँगा... यह प्रतिज्ञा भी मैं ले सकता हूँ। तीसरी बात उन्होंने राजा की रानी से प्यार नहीं करने की कही है... वह भी मैं कर सकता हूँ। राजा की रानी के पास जाने का अभी तक तो हुआ ही नहीं है और कभी ऐसा मौका आयेगा तो मैं दृढ़ता से प्रतिज्ञा का पालन कर सकूँगा। चौथी बात - कौए का मांस नहीं खाने की बतायी है, जीवन में कभी वैसा मांस मैंने खाया नहीं है... भविष्य में भी नहीं खाऊँगा। चारों प्रतिज्ञा सरल हैं, मैं ग्रहण कर सकता हूँ। कितने वात्सल्य से आचार्यदेव ने मुझे उपदेश दिया! उन्होंने चोरी छोड़ने को नहीं कहा है... मेरा धंधा तो चलता रहेगा...। वंकचूल ने आचार्यदेव से कहा :

‘गुरुदेव, मैं आपकी बातें ग्रहण करता हूँ। दृढ़ता से प्रतिज्ञाओं का पालन करूँगा।’ उसने प्रतिज्ञायें ग्रहण कीं। आचार्यदेव को विदा कर के वह वापस घर पहुँचा।

बुद्धि की तीन भूमिका वंकचूल में देखी जाती हैं। सुश्रूषा, श्रवण और ग्रहण। उसमें सुनने की इच्छा पैदा हुई, उसने उपदेश सुना और उपदेश की बातें ग्रहण कीं।

सभा में से : आचार्यदेव ने बहुत धैर्य रखा और बहुत सोच-विचार कर प्रतिज्ञायें दीं!

आचार्य भगवंत दीर्घदृष्टा होते हैं :

महाराजश्री : यही तो गीतार्थ आचार्यों की विशेषता होती है। वे दीर्घदृष्टिवाले होते हैं। समय को जाननेवाले होते हैं। जिस समय वंकचूल ने कहा था : ‘आप हमारे गाँव में रह सकते हो, परंतु धर्म-उपदेश नहीं दे सकते हो।’ उस समय यदि आचार्य उपदेश देने लगते कि ‘धर्म का उपदेश तो सुनना चाहिए, इससे आत्मा का ज्ञान होता है, मोक्षमार्ग का ज्ञान होता है, पाप और पुण्य का ज्ञान होता है। तुम लोगों को अनायास लाभ मिल गया है तो उपदेश तो सुनना ही चाहिए।’ ऐसी बात करते तो क्या होता? उस गाँव में रह नहीं सकते और भयंकर जंगल में भटकना पड़ता। चूँकि वे तो डाकू थे। उनको आत्मा-परमात्मा से या पुण्य-पाप से कोई मतलब नहीं था। दूसरी बात होती है गरज की! गरज डाकुओं को साधुओं की नहीं थी, साधुओं को डाकुओं की थी। जिसकी गरज हमें हो, उसकी शर्त हमें माननी चाहिए। आचार्य प्रज्ञावंत थे, उन्होंने वंकचूल की शर्त मान ली! और शर्त का पालन किया। जब तक उस गाँव में रहे! गाँव छोड़कर दूर गये, बाद में ही उन्होंने धर्म का उपदेश दिया। वह भी वंकचूल में श्रवण की इच्छा पैदा करके!

जब तक श्रवण करने की इच्छा मनुष्य में पैदा न हुई हो तब तक उपदेश नहीं देना चाहिए। बिना इच्छा, मात्र व्यवहार से व्याख्यान-सभा में आकर बैठनेवाले क्या उपदेश सुनते हैं? जरा भी नहीं। नींद लेंगे या दूसरे विचार करते रहेंगे।

अब तो प्रवचन भी रुढ़ि हो गया है :

कभी-कभी अपरिचित गाँवों में ऐसा अनुभव होता है। ‘साधु-मुनिराज गाँव

में आये हैं तो व्याख्यान तो रखना ही चाहिए।' ऐसी मान्यता होती है। धर्म का उपदेश सुनने की इच्छावाले लोग कम होते हैं, दो-चार ही होते हैं। तो फिर दूसरे लोगों को पकड़-पकड़ कर लाते हैं! संख्यापूर्ति तो करनी ही पड़ती है न! हम लोग कहें कि 'व्याख्यान सुननेवाले नहीं हैं तो फिर व्याख्यान का आयोजन क्यों करते हो?' वे कहते हैं आप हमारे गाँव में पधारे हों और हम व्याख्यान-सभा का आयोजन नहीं करें, तो अच्छा नहीं लगता है। जैन समाज के अलावा दूसरे लोगों को तो सूचित करते ही नहीं! अन्यथा, दूसरे समाजों के लोगों में भी धर्मश्रवण की इच्छावाले लोग होते हैं और मालूम हो जाय कि जैन मुनिराज का धार्मिक प्रवचन हैं, तो वे लोग आते भी हैं।

सभा में से : सुश्रूषा का गुण नहीं है, परन्तु व्यवहार से भी व्याख्यान-सभा में आकर बैठता है, तो उसमें सुश्रूषा-गुण प्रकट हो सकता है?

महाराजश्री : हो सकता है, परन्तु मेरा अंदाज दो प्रतिशत का है! सौ में से दो व्यक्ति! वह भी निश्चित नहीं। सुश्रूषा के बिना श्रवण हो नहीं सकता। हो भी जाय, तो तत्त्वनिर्णय तक नहीं पहुँच सकता है। कोई किस्सा-कहानी या चुटकुले सुनने की बात नहीं कहता हूँ। हाँ, तत्त्वज्ञान की बात कह रहा हूँ। बुद्धि के आठ गुणों की बातें, तत्त्वज्ञान को लेकर बतायी जा रही हैं। मात्र किस्सा-कहानी सुनने की इच्छा तो अबोध बच्चे में भी होती है और मूर्ख मनुष्य में भी होती है।

हर एक को तत्त्वश्रवण की जिज्ञासा नहीं होती :

ज्ञानीपुरुषों का संपर्क हो, उनके संपर्क में बार-बार रहने का अवसर मिलता हो... तब तत्त्वश्रवण की इच्छा जाग्रत होती है। बहुत कम लोगों को स्वाभाविक इच्छा होती है तत्त्वश्रवण की। इच्छा से श्रवण किया जाय और श्रवण करते हुए तत्त्व को समझने का प्रयत्न किया जाय, तो तत्त्वप्राप्ति होती है। सुनने, परन्तु समझने नहीं तो क्या करना उस श्रवण को? बिना समझे भी श्रवण करनेवाले आते हैं न? सुनते हैं परन्तु समझते नहीं हैं! ऐसे लोगों को पूछ लो कभी कि 'व्याख्यान में क्या सुना और क्या समझे?' वे लोग इतना ही कहेंगे : 'व्याख्यान बहुत अच्छा था!' अथवा कहेंगे : 'व्याख्यान में मजा नहीं आया... एक भी कहानी नहीं थी!' बस, इतना ही वे कहेंगे। ऐसे लोग सुनते हैं परन्तु समझते कुछ नहीं! बुद्धि के दो गुण होते हैं : सुश्रूषा और श्रवण! तीसरा गुण 'ग्रहण' यानी अर्थबोध, नहीं होता है। जो सुनते हैं उसको समझने

की क्षमता सभी श्रोताओं में नहीं होती है। कुछ श्रोता तो ऐसे होते हैं कि जो विपरीत समझते हैं!

अधूरी समझ खतरनाक होती है :

मेरे साथ एक बार ऐसी घटना घटी। एक शहर में हम गये। वहाँ पर 'गीता जयंती' का दिन आया। कुछ अजैन विद्वान् मेरे पास आये। उन्होंने मुझसे प्रार्थना कि : 'हम गीता जयंती के उपलक्ष्य में प्रवचनसभा का आयोजन कर रहे हैं और उसमें आपका ही मुख्य प्रवचन रखना चाहते हैं। आप स्वीकृति दें तो हम अखबारों में दे दें। मैंने स्वीकृति दे दी और प्रवचन देने गया। मेरे साथ अपने समाज के भी काफी संख्या में लोग आये। मैंने गीता का एक श्लोक बोल कर उस पर अनेकान्तदृष्टि से विवेचना की। श्रोतावर्ग कि जो उदबुद्ध था, वह प्रसन्न हुआ, चूँकि उनको गीता के विषय में नयी दृष्टि मिली थी। परन्तु जो गीता को जानते नहीं थे अथवा 'गीता तो मिथ्यात्वियों का ग्रन्थ है,' ऐसा मानते थे, वे कुछ लोग दूसरे दिन मेरे पास आये और बोले -

'महाराज साहब! आपने गीता पर क्यों व्याख्यान दिया? गीता तो मिथ्यात्वी का ग्रन्थ है।' मैंने उन लोगों को समझाया कि 'सम्यक् दृष्टि मनुष्य के पास मिथ्यात्वी का ग्रन्थ भी सम्यक् बन जाता है। इसलिए हम गीता पर जैनदृष्टि से बोल सकते हैं।' तो वे भगत लोग बोलने लगे : 'हाँ हाँ, व्याख्यान तो आपने बहुत अच्छा दिया था... परन्तु गीता पर बोले इसलिए हम नहीं समझ पाये...' वगैरह बातें की। अर्थ नहीं समझनेवाले बड़ा अनर्थ करते हैं।

शास्त्र के अर्थ को समझने के लिए बुद्धि का तीसरा गुण 'ग्रहण' होना चाहिए। आप लोग तो 'धर्मबिन्दु' ग्रन्थ का अर्थ बराबर समझ रहे हो न? कभी अर्थ नहीं समझोगे तो चलेगा परन्तु 'अनर्थ' मत करना। गलत अर्थ मत करना। गलत अर्थ समझोगे तो आप स्वयं भी अनर्थ में फँस जाओगे।

धर्म समझने के लिए बुद्धि पैनी चाहिए :

जैसे व्यावहारिक शिक्षा में अच्छी बुद्धि चाहिए वैसे धार्मिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा में भी अच्छी बुद्धि चाहिए। आठ गुणों से युक्त बुद्धि चाहिए। व्यावहारिक शिक्षा में मान लो कि कम बुद्धि है तो भी चल सकता है, ज्यादा पढ़ाई नहीं कर सकता है, इतना ही नुकसान होता है, परन्तु धार्मिक क्षेत्र में यदि बुद्धि सूक्ष्म एवं कुशाग्र नहीं होती है तो नुकसान बहुत बड़ा होता है। वर्तमान जीवन एवं पारलौकिक जीवन में नुकसान होता है।

प्रवचन-९२**१९६**

आत्मा, कर्म, परलोक, देवलोक, नरक... वगैरह परोक्ष विषयों में सूक्ष्म बुद्धि के बिना प्रवेश हो ही नहीं सकता है। बुद्धि का प्रकर्ष हो, तभी ये सारी बातें समझी जा सकती हैं। परोक्ष विषयों में 'अनुमान-प्रमाण' ही निर्णायक होता है! अनुमान-प्रमाण में तर्क-वितर्क करने की, तर्क-वितर्क को समझनेवाली बुद्धि चाहिए।

आत्मा, कर्म वगैरह परोक्ष (प्रत्यक्ष नहीं है) विषयों को समझाने के लिए हजारों ग्रंथ लिखे गये हैं। जैसे अपने जैन धर्म में ग्रंथ मिलते हैं प्राचीन, वैसे बौद्ध धर्म में एवं वैदिक धर्म में भी इस विषय के अनेक ग्रंथ प्राप्त होते हैं। उच्च कोटि के प्रज्ञाप्रकर्ष वाले ऋषि-मुनि एवं विद्वान् आचार्यों ने निःस्वार्थ भावना से ये सारे ग्रंथ लिखे हैं। ऐसे ग्रंथ सुनें और समझें तो तत्त्वज्ञान के प्रकाश से अपना आत्मप्रदेश प्रकाशित हो जाता है, ज्ञानानन्द की प्राप्ति होती है।

आज बुद्धि के तीन गुण ही बताये हैं, शेष पाँच गुण आगे बताऊँगा।

आज बस, इतना ही।



- धर्मक्षेत्र में जैसे श्रद्धा जरूरी है..... वैसे बुद्धिमत्ता भी उतनी ही आवश्यक है। बुद्धि भी मूक्ष्म-यैनी और परिष्कृत होनी चाहिए।
- बुद्धि कम हो, आदमी अनपढ़ हो.... पर यदि उसमें सरलता है, विनय है, तब तो उसको समझाना सरल है..... पर जड़ और आग्रही व अविनीत व्यक्ति को धर्म का बोध देना बड़ा ही मुश्किल.... करीब करीब असंभव होता है।
- हिंसा भी दो प्रकार की होती है.... गृहस्थ के लिए जहाँ 'हेतु-हिंसा' त्याज्य मानी गई है, वहाँ 'स्वरूप-हिंसा' कुछ अंश में उपादेय भी मानी गई है।
- पाप का बंध आशय से होता है, क्रिया से कम; पर इरादे से अधिक पाप होता है।
- मंदिर मूर्ति की उपादेयता समझाने के लिए दिमाग की खिड़की खुली रहनी चाहिए। पूर्वग्रहबद्ध धारणावाले लोग समझाना ही नहीं चाहते... समझें तो भी स्वीकार करने से कतराते हैं, चूँकि संप्रदायों की पकड़ बड़ी मजबूत होती है।



परम उपकारी, महान् श्रुतधर आचार्यदेव श्री हरिभद्रसूरिजी, स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ में गृहस्थ जीवन के सामान्य धर्मों का प्रतिपादन करते हुए ३३ वाँ सामान्य धर्म बताते हैं बुद्धि के आठ गुणों का। यानी सद्गृहस्थ बुद्धिमान् होना चाहिए।

बुद्धि-प्राप्ति के उपाय :

हालाँकि बुद्धि प्राप्त होती है 'मतिज्ञानावरण' कर्म के क्षयोपशम से। कोई मनुष्य पूर्वजन्म से ही ऐसा क्षयोपशम लेकर आता है। ऐसा मनुष्य जन्म से ही बुद्धिमान् होता है। कोई मनुष्य यहाँ वर्तमान जीवन में प्रयत्न करके बुद्धिमान् होता है। वह प्रयत्न दो प्रकार का होता है : विनय का और उद्यम का। माता-पिता का विनय करने से, कलागुरुओं का विनय करने से, वृद्धजनों का विनय करने से एवं धर्मगुरुओं का विनय करने से बुद्धि का विकास होता है। वैसे, काम करते करते भी बुद्धि विकसित होती हैं।

‘मुझे बुद्धिमान् होना है,’ ऐसा निश्चय तो होना ही चाहिए। जैसे दुनिया में बुद्धि के बिना सुचारु रूप से कार्य नहीं होता है वैसे धर्मक्षेत्र में भी बुद्धि के बिना सूक्ष्म तत्त्वों का बोध नहीं हो सकता है। मोक्षमार्ग की आराधना जैसे करनी चाहिए वैसी नहीं हो सकती है।

सरलता सुधारती है :

एक आचार्य थे। उनके कुछ शिष्य बुद्धिमान् नहीं थे। इसलिए आचार्य उनको हमेशा मार्गदर्शन देते रहते थे। एक बार, वे शिष्य जंगल में गये, वापस लौटने में देरी हुई। जब वे आये, आचार्य ने पूछा : ‘आज इतनी देरी क्यों हुई?’ शिष्य बुद्धिमान् नहीं थे परन्तु सरल जरूर थे। उन्होंने कहा : ‘गुरुदेव, जब हम जंगल से लौटे, नगर के बाहर कुछ नट तमाशा करते थे, हम तमाशा देखने खड़े रह गये, इसलिए यहाँ आने में देरी हो गई।’

आचार्य ने कहा : ‘महानुभावों, साधु को नट नाचते हों, वहाँ खड़ा नहीं रहना चाहिए, तमाशा नहीं देखना चाहिए।’ शिष्यों ने कहा : ‘गुरुदेव, हमारी गलती हुई, क्षमा करें, फिर से ऐसी गलती नहीं करेंगे।’

कुछ दिन बीते। दूसरी बार उन शिष्यों को जंगल से आने में देरी हुई। आचार्य ने पूछा : ‘आज देरी कैसे हुई?’ शिष्यों ने कहा : ‘गुरुदेव, हम जंगल से वापस लौट रहे थे, नगर के बाहर कुछ नटियाँ नाच रही थीं, हम देखने के लिए वहाँ खड़े रह गए। इसलिए यहाँ पहुँचने में देरी हो गई।’

आचार्य को गुस्सा नहीं आया। वे जानते थे कि ‘ये साधु बुद्धिमान् नहीं हैं। जब मैंने उनको नटों का नृत्य देखने का निषेध किया था तब ये नहीं समझ पाये थे कि नटियों का नृत्य भी नहीं देखना चाहिए।’ जो दृश्य राग या द्वेष की वासना पैदा करे, वैसा दृश्य नहीं देखना चाहिए,’ यह बात ये नहीं समझ पाये। वे इतना ही समझे कि ‘नटों का नृत्य नहीं देखना चाहिए!’ उन्होंने वात्सल्य से उन शिष्यों को बोध दिया। वे विनीत थे, सरल थे, इसलिए आचार्य की बात मान ली। यदि वे विनीत नहीं होते, सरल नहीं होते तो आचार्य की बात मानते क्या? आचार्य से क्षमा मांगते क्या? क्षमा तो नहीं मांगते, आचार्य की गलती बताते! जो बुद्धिमान् नहीं होते हैं और सरल नहीं होते हैं, वे अपनी गलती जल्दी स्वीकार नहीं करेंगे। वे लोग अपनी बात को सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहेंगे। यदि वे शिष्य विनीत और सरल नहीं होते तो कहते : ‘गुरुदेव, जिस समय आपने नाचते हुए नटों को नहीं देखने की

बात कही थी, उस समय आपको कह देना चाहिए था कि नाचती हुई नटियों को भी नहीं देखना चाहिए। आपने कहा ही नहीं और आज हमारी गलती बताते हो....।'।

जो बुद्धिमान् नहीं होते हैं, जड़ होते हैं, जो सरल नहीं होते हैं परन्तु वक्र होते हैं, टेढ़े चलते हैं, ऐसे लोग संसार के व्यवहारों में भी सफलता नहीं पाते हैं।

बुद्धि का टेढ़ापन दुःखी करता है :

जटाशंकर हमेशा अपने उद्धत लड़के को कहा करता था कि 'बेटा, माता-पिता की बातें सुननी चाहिए, हर बात में सामने जवाब मत दिया कर।' बेटा हर बात का जवाब देता था! जटाशंकर लड़के से परेशान था! एक दिन जटाशंकर ने लड़के से कहा : 'बेटा, तेरी माँ और मैं, एक शादी में जा रहे हैं, शाम को वापस लौटेंगे। तू घर ही रहना, इधर-उधर भटकने नहीं जाना। खयाल रखना घर का।'

जटाशंकर पत्नी के साथ शादी में गया। लड़के ने सोचा कि 'आज मेरे पिता को सबक सिखा दूँ.... रोजाना मुझे कहते रहते हैं : 'माता-पिता के सामने नहीं बोलना चाहिए। आज बिलकुल नहीं बोलूँगा।' उसने घर को भीतर से बंद कर दिया और घर के बीच खटिया बिछाकर सो गया! शाम को जटाशंकर घर लौट आया। उसने घर का दरवाजा खटखटाया। दरवाजा नहीं खुलता है। जटाशंकर चिल्लाया : 'रमण, दरवाजा खोल।' रमण नहीं खोलता है! जटाशंकर जोर-जोर से चिल्लाता है, उसकी पत्नी भी चिल्लाती है, परन्तु लड़का दरवाजा नहीं खोलता है! जटाशंकर को चिंता हुई.... 'क्या हुआ होगा बेटे को....?' वह घर के छप्पर पर चढ़ा। खपरैलों को हटाकर घर में झाँकता है। उसकी आँखें चौड़ी हो गईं! लड़का खटिये में पड़ा पड़ा हँस रहा है! जटाशंकर को गुस्सा आ गया : 'अरे, हम इतना चिल्लाते हैं और तू दरवाजा नहीं खोलता है? खोल दरवाजा।' लड़के ने कहा : 'आप ही तो हमेशा कहा करते हो कि माता-पिता के सामने नहीं बोलना चाहिए। इसलिए मैं नहीं बोल रहा हूँ।'

इसको कहते हैं वक्रता! दूसरों की बातों का सही अर्थ नहीं करने देती यह वक्रता। विपरीत अर्थ ही करवायेगी। जड़ता और वक्रता मनुष्य को आत्मकल्याण के मार्ग में बाधक बनती है। बुद्धिमत्ता और सरलता आत्मकल्याण के मार्ग में साधक बनती है।

बुद्धि-वृद्धि एवं बुद्धि-शुद्धि के उपाय :

ज्ञान की प्राप्ति करने के लिए 'बुद्धि' ही नहीं, बुद्धि का प्रकर्ष होना आवश्यक है।

सभा में से : हमारे पास तो बुद्धि का प्रकर्ष नहीं है.....

महाराजश्री : तो बुद्धि के प्रकर्षवाले ज्ञानीपुरुषों के प्रति विनीत बने रहो, सरल बने रहो। विनय से बुद्धि विकसित होती है। ज्ञानीपुरुषों की आज्ञा के अनुसार ज्ञान-प्राप्ति का प्रयत्न जारी रखो। एक बात तो याद रखना ही - तत्त्वश्रवण की इच्छा! बस, आपकी इच्छा बनी रहेगी तो ज्ञानीपुरुष आपको ज्ञानी बनायेंगे ही। आप विनय से और सरल हृदय से तत्त्वश्रवण करते रहना। जो सुनो, एकाग्रता से सुनना। एकाग्रता से सुनोगे तो बहुत कुछ याद रह जायेगा। यदि याद नहीं रहता हो तो लिख लेना। जो सुनो उसकी नोट्स Notes बनाते रहना। रोजाना उस नोट्स को पढ़ते रहोगे तो याद हो जायेगा। **बुद्धि के ये प्राथमिक चार गुण हैं : सुश्रुषा, श्रवण, ग्रहण और धारणा।** धारणा का अर्थ है याद रखना।

प्राप्त किये हुए ज्ञान को याद रखने का कड़ा पुरुषार्थ करना पड़ता है। यदि मनुष्य पुरुषार्थ नहीं करता है तो पुराना ज्ञान भूलता जाता है और नया नया ज्ञान प्राप्त करता जाता है। वह नया भी पुराना बन जाता है और विस्मृति के खड्डे में गिर जाता है! जितना-जितना भी ज्ञान प्राप्त करें, याद रखें, भूले नहीं।

धर्मशास्त्रों में लिखा है कि प्रमाद से, आलस्य से जो मनुष्य प्राप्त ज्ञान को भूल जाता है उसको ज्ञानावरण कर्म बंधता है! नया ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति होने पर भी जो नया ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करता है, वह भी ज्ञानावरण कर्म बाँधता है।

सभा में से : तब तो हम कितने कर्म बाँधते हैं? यह बात हम जानते ही नहीं!

महाराजश्री : अब तो जान लिया न? अब दोनों प्रकार के प्रयत्न करते रहोगे न? हाँ, गृहस्थ जीवन में यह काम भी करना है। बुद्धि है तो उसका सदुपयोग करना है। बुद्धि के जो चार गुण बताये, वे तो प्राथमिक हैं, बुद्धि की विशेषता है बाद के चार गुणों से। वे गुण हैं : **विज्ञान, ऊह, अपोह और तत्त्वभिनिवेश।**

ज्ञान से विज्ञान तक की यात्रा :

ज्ञान को विज्ञान बनानेवाली बुद्धि चाहिए। ज्ञान विज्ञान तभी बनता है जब तीन दोषों से ज्ञान मुक्त होता है। ये तीन दोष हैं : **संदेह, विपर्यय और अनध्यवसाय**। संदेह यानी शंका। विपर्यय यानी विपरीत बोध। अनध्यवसाय यानी अनुपयोग।

जो भी ज्ञान प्राप्त करें, उस पर आप चिंतन-मनन करें। चिंतन-मनन करते हुए आपके मन में अनेक शंकाएँ पैदा होंगी और उन शंकाओं का समाधान भी आप करते रहेंगे। कोई शंका ऐसी भी पैदा हो सकती है कि जिसका समाधान आप स्वयं नहीं कर सकते हैं। तब आपको विशिष्ट ज्ञानी पुरुष के पास जाकर विनम्रता से विनती करनी चाहिए कि : 'मैंने इस विषय पर बहुत चिंतन-मनन किया, परन्तु मेरी इस शंका का समाधान नहीं हो पाया है, आप ही मेरी शंका का समाधान कर सकते हैं।'

वे ज्ञानीपुरुष आपकी शंका का समाधान करेंगे। आपकी समझ विपरीत होगी तो सुधार करेंगे। आपको मन की एकाग्रता से, पूर्ण उपयोग से सुनना होगा। सुनकर, उस विषय की धारणा करनी होगी। स्पष्ट बने हुए विषय (Subject) को स्मृति में भर लेना होगा।

एक विषय (Subject) को लेकर, 'विज्ञान' तक आपको ले जाता हूँ। ध्यान से सुनना। मन का उपयोग मेरी बात में रखना।

तीर्थंकर भगवंतों ने कहा है : 'धर्म का मूल, धर्म का लक्षण अहिंसा है।' यह बात आपने सुनी, श्रवण किया। आपने मान लिया इस बात को, ग्रहण किया। आपने याद रख लिया : 'धर्म का मूल, धर्म का लक्षण अहिंसा है।'

इस ज्ञान को विज्ञान बनाने के लिए आपको चिंतन करना होगा। 'अहिंसा' शब्द में मूल शब्द है हिंसा। 'अ' तो निषेध में लगा है। पहला प्रश्न मन में उठता है : हिंसा किसको कहते हैं? उत्तर मिलता है : **प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा**। प्रमाद से किसी जीव के प्राणों का नाश करना हिंसा है। फिर प्रश्न उठता है : 'प्रमाद' का अर्थ क्या? उत्तर मिलता है : विषय-कषाय प्रमाद है। वैषयिक सुखों की स्पृहा से प्रेरित होकर जीवात्मा किसी जीव को मारता है तो वह हिंसा है। क्रोध से, मान से, माया-कपट से या लोभ से किसी जीव को मारता है, तो वह हिंसा है। अनुपयोग से कोई जीव मर जाता है, वह भी हिंसा है।

नया प्रश्न मन में उठता है : किसी जीव को मारने की इच्छा नहीं हो, परन्तु ऐसी क्रिया करनी पड़ती है कि जिस क्रिया में जीव मरते ही हैं, तो क्या वह 'हिंसा' है? परमात्मपूजन करने के लिए गृहस्थ को स्नान करना पड़ता है, उसमें पानी के जीव मरते हैं। मंदिर बनाना होता है, उपाश्रय या स्थानक बनाना होता है, तो उसमें पृथ्वीकाय के, पानी के जीव तो मरते ही हैं, त्रसकाय के जीवों की भी हिंसा होती है। तीर्थयात्रा करने जाते हैं अथवा गुरुवंदन करने जाते हैं, तो भी जीव मरते हैं.....। तो क्या करना चाहिए?

हिंसा के प्रकार :

उत्तर मिलता है : तीर्थकर भगवान ने हिंसा दो प्रकार की बतायी है : हेतुहिंसा और स्वरूपहिंसा। प्रमाद से जो हिंसा होती है यानी विषय-कषाय से जो हिंसा होती है वह हेतुहिंसा है। चूँकि वहाँ दूसरे जीवों को मारने की वृत्ति होती है, इरादातन मारने की क्रिया होती है, इसलिए हेतुहिंसा वर्ज्य है। परन्तु जिस क्रिया में जीवों को मारने की वृत्ति नहीं होती है, आशय जीववध का नहीं होता है, आशय होता है शुभ कार्य करने का और जीवों की हिंसा होती है, उसको स्वरूपहिंसा कहते हैं। गृहस्थ जीवन में आप स्वरूपहिंसा का त्याग नहीं कर पायेंगे। स्वरूपहिंसा का भी त्याग करना है तो आपको श्रमणजीवन-साधुजीवन स्वीकार करना पड़ेगा। साधुजीवन में स्वरूपहिंसा भी नहीं होती है। हेतुहिंसा तो साधुजीवन में संभवित ही नहीं है।

इस बात पर एक और नया प्रश्न उठता है : गृहस्थ को स्वरूपहिंसा से भी कर्मबंध-पापकर्मों का बंध होता है न? भले गृहस्थ मंदिर बनवाता हो, उपाश्रय बनवाता हो, स्थानक बनवाता हो या कोई भवन बनवाता है, उसमें जो हिंसा होती है जीवों की, इससे पापकर्म तो बंधेंगे ही?

हिंसा है लेकिन :

इस प्रश्न का उत्तर मिलता है : जितने अंश में हिंसा होती है, उतने अंश में पापकर्म का बंध अवश्य होता है, परंतु वह कर्मबंध प्रगाढ़ नहीं होता है, निकाचित नहीं होता है। वह कर्मबंध कच्चे रंग जैसा होता है। जैसे कच्चा रंग धोने से निकल जाता है वैसे, स्वरूपहिंसा से जो कर्मबंध होता है वह कर्मबंध शुभ अध्यवसायों के पानी से धुल जाता है! परमात्मभक्ति का भाव, गुरुभक्ति का भाव, साधर्मिक भक्ति का भाव, गरीबों के उद्धार का भाव... ये सारे भाव पापकर्मों को धोने के लिए पानी जैसे हैं!

एक मुसाफिर है। पदयात्रा करता है। ग्रीष्मकाल है। पंथ लंबा है। मुसाफिर थक जाता है, प्यास भी ज़ोरों की लगी है। उसके पास पानी नहीं है। वह एक नदी के पास पहुँचता है। नदी में भी पानी नहीं है। वह सोचता है : 'नदी का पट है, इसलिए पानी तो भीतर में होना ही चाहिए। मुझे खड्डा खोदना पड़ेगा। हालाँकि मैं थक गया हूँ....खड्डा खोदने से थकान बढ़ेगी, परंतु क्या करूँ? दूसरा कोई उपाय नहीं है पानी पीने का। थकान लगे तो लगे, कपड़े बिगड़े तो बिगड़े.... परन्तु मैं खड्डा तो खोदूँगा ही। पानी मिलने पर थकान भी उतर जायेगी और कपड़े भी साफ हो सकेंगे।' मुसाफिर खड्डा खोदता है, पानी मिलता है, पेट भर के पीता है और विश्राम करता है। कपड़े भी धोकर साफ कर देता है।

यह उपनय-कथा है। आप लोग संसार के मुसाफिर हो। संसार की आधि-व्याधि-उपाधि से संतप्त हो। चार गतियों के परिभ्रमण से थके हुए हो। आपको पुण्य की प्यास लगी है। आपको मंदिर बनाना पड़ेगा, परमात्मा की मूर्ति बनानी पड़ेगी, परमात्मा का पूजन करना पड़ेगा, इससे स्वरूपहिंसा होगी और पापकर्म का बंधन भी कुछ होगा! परंतु क्या करोगे? यह तो करना ही पड़ेगा! परन्तु चिन्ता नहीं करना। प्रभुदर्शन से, प्रभुपूजन से और प्रभु-स्तवना से जो शुभ भावों का पानी मिलेगा, उस पानी से वे बंधे हुए पापकर्म धुल जायेंगे। पापों की थकान दूर हो जायेगी। मुक्ति की ओर आपकी यात्रा आगे बढ़ेगी।

मन ही मुख्य कारण है :

एक बात याद रखना : कर्मबंध या कर्मक्षय का मुख्य आधार अपने मन के अध्यवसाय हैं। मन के अध्यवसाय अशुद्ध होंगे तो कर्मबंध होगा, मन के अध्यवसाय शुद्ध होंगे तो कर्मक्षय होगा। क्रिया हिंसा की है परंतु मन के अध्यवसाय प्रभुभक्ति के हैं अथवा गुरुभक्ति के हैं तो वह हिंसा हिंसा नहीं है। क्रिया अहिंसा की है परंतु मन के अध्यवसाय अशुभ हैं, अशुद्ध हैं तो वह अहिंसा अहिंसा नहीं है। इसलिए डरे बिना परमात्मा के मंदिर बनायें और घबराये बिना परमात्मा की पूजा भी करें। चूँकि स्वरूपहिंसा से जो पाप लगेंगे वे पाप 'वोशेबल' (Washable) होंगे! परमात्मभक्ति के शुभ भाव से वे पाप धुल जायेंगे।

'अहिंसा' के विषय में अपन ने इतना चिन्तन किया! अब कोई शंका हो तो दूर करनी चाहिए। कोई विपरीत बोध हो अपना, तो दूर करना चाहिए।

सभा में से : तो फिर मंदिर और मूर्ति का विरोध क्यों करते हैं कुछ संप्रदाय?

महाराजश्री : संप्रदाय तो विरोध करता रहेगा, चूँकि कोई भी संप्रदाय बुद्धि से एवं धर्मग्रन्थों के माध्यम से गहरा चिंतन नहीं करता है। करता भी है, तो अपनी गलत मान्यता को छोड़ेगा नहीं। परंतु यदि व्यक्ति अपने बुद्धिप्रकर्ष से चिन्तन करें, धर्मग्रंथों का अध्ययन-परिशीलन करें तो वह अपने पुराने आग्रहों से मुक्त हो सकता है। आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी जैसे महान् श्रुतधर एवं ज्योतिर्धर महापुरुष के प्रति भी उन लोगों की श्रद्धा नहीं है! अन्यथा उनके ग्रंथों का मुक्त मन से अध्ययन करें तो मंदिर और मूर्ति उपादेय लगे बिना नहीं रहे। दुर्भाग्य तो यह है कि वे लोग ४५ आगम भी पूरे नहीं मानते! जितने मानते हैं, उन आगमों पर लिखी गई 'चूर्णि' नहीं मानते, 'निर्युक्ति' नहीं मानते, 'टीका' नहीं मानते और 'भाष्य' भी नहीं मानते! यानी वे लोग 'पंचांगीआगम' नहीं मानते! उन लोगों की मान्यता के अनुसार वे धर्मग्रंथों को मानते हैं! धर्मग्रंथों के अनुसार उनकी मान्यताएँ नहीं हैं! ऐसे लोग परम सत्य नहीं पा सकते हैं।

सभा में से : क्या मंदिर और मूर्ति शाश्वत् हैं? अनादिकाल से हैं?

महाराजश्री : हाँ, मंदिर और मूर्ति शाश्वत् भी हैं और अशाश्वत् भी हैं। देवलोक में लाखों जिनमंदिर हैं। वे सभी शाश्वत् हैं। नंदीश्वर द्वीप पर अनेक शाश्वत् जिनमंदिर हैं और जिनमूर्तियाँ हैं। आगमग्रन्थों में इसका वर्णन मिलता है। जो मंदिर बनाये जाते हैं वे अशाश्वत् होते हैं।

इस अवसर्पिणी काल में, प्रथम तीर्थंकर परमात्मा ऋषभदेव का निर्वाण अष्टापद के पहाड़ पर हुआ था। चक्रवर्ती भरत ने परमात्मा की स्मृति में मंदिर बनाया और अवसर्पिणी काल के २४ तीर्थंकर भगवन्तों की रत्नमय मूर्तियाँ बनवा कर, उस मंदिर में स्थापित की। असंख्य वर्ष पुरानी यह बात है न?

मंदिर और मूर्ति अनादिकालीन हैं। जैनागमों को माननेवाले इस बात का इनकार नहीं कर सकते। संप्रदाय के बंधन के कारण नहीं मानें तो नहीं मानें! शास्त्रों में श्रद्धा रखनेवालों को मानना ही पड़ेगा। बुद्धिमान् लोग तो मानेंगे ही।

खैर, हिंसा-अहिंसा के विषय को लेकर कितना चिंतन हो गया?

सभा में से : और हमारी शंका भी दूर हो गई!

महाराजश्री : निःशंक होना ही चाहिए। सत्य शंकारहित होना चाहिए। बुद्धि का पाँचवा गुण है विज्ञान। विशिष्ट ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। ज्ञान जब विशिष्ट बनता है तब उसमें शंका नहीं रहती है। विज्ञान निःशंक ही होता है।

शंका भी जरूरी, समाधान भी :

शंकाओं को दूर करने के लिए ही 'ऊह' और 'अपोह' बताये हैं। 'ऊह' और 'अपोह' भी बुद्धि के गुण हैं। 'ऊह' सामान्य ज्ञान करवाता है, 'अपोह' विशेष ज्ञान करवाता है। यानी 'ऊह' सामान्य चिंतन को कहते हैं, 'अपोह' विशेष चिंतन को कहते हैं।

अभी 'अहिंसा' के विषय में जो चिंतन किया गया, वह 'ऊह' है! 'अपोह' में तो सूक्ष्मता में, गहराई में जाकर चिंतन करने का होता है। चिंतन के माध्यम होते हैं उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य। द्रव्य, गुण और पर्याय। कर्मबन्ध, कर्ममुक्ति.... वगैरह।

जैसे कि : एक जीव की हिंसा हुई... तो क्या हुआ? सामान्य बुद्धिवाला कहेगा : 'वह मर गया!' बस, इतना ही कहेगा। जब कि विशिष्ट बुद्धिवाला कहेगा, उस जीव का एक पर्याय नष्ट हुआ, आत्मा कायम रही और वह आत्मा नया शरीर धारण करेगी। आत्मा द्रव्य है, शरीर पर्याय है! आत्मा ध्रुव है, शाश्वत् है। आत्मा के पर्याय अध्रुव हैं, विनाशी हैं। आत्मा के गुण दो प्रकार के होते हैं : स्वाभाविक और वैभाविक। स्वाभाविक गुण कभी नष्ट नहीं होते हैं। वैभाविक गुण कर्मों के नाश होने के साथ नष्ट हो जाते हैं।

आत्मा के पर्यायों का ही मात्र विचार करने से राग-द्वेष पैदा होते हैं। 'द्रव्य' का चिंतन करने से ही मध्यस्थ-भाव आता है। द्रव्य है विशुद्ध आत्मा। जो कभी उत्पन्न नहीं हुई है, न कभी मरनेवाली है। वैसे जो पुद्गल द्रव्य हैं, द्रव्यरूप में शाश्वत् हैं, पर्यायदृष्टि से उत्पन्न होते हैं, नष्ट होते हैं।

सभा में से : हम लोग तो द्रव्य, पर्याय वगैरह कुछ जानते ही नहीं!

महाराजश्री : जानोगे कैसे? अध्ययन ही नहीं किया है तत्त्वज्ञान का। कॉलेज की डिग्रियाँ ले लेना अलग बात है और तत्त्वज्ञान पाना दूसरी बात है। द्रव्य, गुण पर्याय-यह तत्त्वज्ञान का विषय है। उत्पत्ति-स्थिति और व्यय (नाश) यह तत्त्वज्ञान का विषय है। वैसे कर्मबंध और मोक्ष - यह भी तत्त्वज्ञान का विषय है।

चिंतन किसका करोगे? :

- आत्मा क्या है? कैसी है? आदि है या अनादि है,
- आत्मा पर कर्म कैसे लगते हैं? कब से लगे? आत्मा और कर्म का संबंध आदि है या अनादि है? कर्म कितने हैं?
- आत्मा के साथ कर्म कैसे बंधते हैं?
- बंधे हुए कर्म कब उदय में आते हैं?
- बंधे हुए कर्मों का संक्रम होता है या नहीं?
- बंधे हुए कर्मों को शीघ्र उदय में लाये जा सकते हैं या नहीं?
- कर्मों की निर्जरा कैसे की जा सकती है?
- कर्मबंध कितने प्रकार से होता है?
- मोक्ष क्या है?
- मोक्ष में आत्मा कैसी होती है? कितनी होती है?
- मोक्ष में गई हुई आत्मा वापस संसार में जन्म क्यों नहीं लेती?
- मुक्ति पाने में पुरुषार्थ प्रधान है या कर्म?

विशेष ज्ञान पाने के लिए इस बातों पर चिंतन-मनन करते रहना चाहिए। तत्त्वज्ञान के ग्रंथों का अध्ययन, सुयोग्य विद्वान् पुरुष के पास करना चाहिए।

यदि आप अर्थ-काम के पुरुषार्थ में ज्यादा उलझे हुए होंगे तो अध्ययन नहीं कर पाओगे। आपका मन संसार की उपाधियों में ज्यादा उलझा हुआ होगा, तो आप अध्ययन नहीं कर पाओगे। अध्ययन करने के लिए मन मुक्त होना चाहिए उपाधियों से, चिन्ताओं से। गृहस्थ जीवन आपका शान्तिपूर्ण होगा तो ही आप अध्ययन कर सकोगे।

अवसर मिले तो लाभ उठा लो :

दूसरी बात है अध्ययन करानेवालों की। आपके गाँव में, नगर में ऐसे विद्वान् शास्त्रज्ञ ज्ञानीपुरुष का संयोग होगा तो ही आप अध्ययन कर सकोगे।

एक और बात है शारीरिक आरोग्य की। आपका शरीर नीरोगी होगा तो ही आप अध्ययन कर सकोगे। रोगग्रस्त शरीर से अध्ययन नहीं हो पाता है। इसलिए जब तक शरीर नीरोगी है तब तक अध्ययन कर लेना चाहिए।

प्रवचन-९२**२०७**

सबसे ज्यादा महत्त्व की बात है आपके उल्लास की और उत्साह की। आपका उल्लास होगा ज्ञानप्राप्ति करने का, तो ही आप अध्ययन कर सकोगे। अध्ययन किया हुआ होगा तो ही आप ज्ञान को विज्ञान बना सकोगे। ऊह-अपोह करके तत्त्वनिर्णय तक पहुँच पाओगे। बुद्धि का आठवाँ गुण जो 'तत्त्वाभिनिवेश' है, वहाँ तक पहुँच सकोगे।

तत्त्वज्ञान जब निःशंक हो जाता है, शंकारहित होता है, तब उस तत्त्वज्ञान का अभिनिवेश हो ही जाता है। 'यह तत्त्व ही सही है,' ऐसा निर्णय हो जाता है। परन्तु बात है बुद्धि की! बुद्धि होनी चाहिए, बुद्धि का प्रकर्ष होना चाहिए।

बुद्धि का प्रकर्ष नहीं है, परन्तु प्राप्त करना है बुद्धि का प्रकर्ष, तो प्राप्त कर सकते हो। इसी ग्रन्थकार आचार्यदेव ने उपाय बताये हैं अपने दूसरे एक ग्रन्थ में। बताऊँगा आपको कभी। श्रेष्ठ बुद्धि प्राप्त कर के आप जिनवचनों को समझें, विश्वास करें और अपनी आत्मा को विशुद्ध करने का प्रयत्न करें, यही मंगल कामना।

आज बस, इतना ही।



- स्वयं में यदि बुद्धि का प्रकर्ष नहीं है, बुद्धि का पैनापन नहीं है, तो गुरुजनों की सेवा-भक्ति करनी चाहिए। सेवा-भक्ति भी लंबे अरसे तक करनी होगी बिना थके, बिना रुके। यह कोई 'इन्स्टन्ट प्रोसीजर' नहीं है! समय लगता है।
- स्वयं को ज्यादा बुद्धिशाली माननेवाला व्यक्ति बहुधा औरों को बुद्धिहीन मान लेता है।
- भवी जीवों को ही 'निपुण बुद्धि' प्राप्त होती है।
- तथाभव्यत्त्व यानी मोक्षमार्ग की समुचित आराधना करने की योग्यता प्राप्त होना। इसके विकास के लिए 'पंचसूत्र' नाम के ग्रंथ में तीन महत्त्वपूर्ण उपाय बतलाये गये हैं :
(१) चार शरण अंगीकार करना, (२) दृष्टकृत्यों की आत्मसाक्षी से लिंदा करना, (३) किये हुए सत्कार्यों की मन ही मन अनुमोदना करना।
- हर एक व्यक्ति को अपने उचित कर्तव्यों का पालन करना है....मोहरहित, ममत्त्व-आसक्ति रहित होकर करना है।



परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरीश्वरजी, स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ में, गृहस्थ जीवन के सामान्य धर्मों का प्रतिपादन करते हुए ३३वाँ सामान्य धर्म बताते हैं : बुद्धि के आठ गुण। ग्रंथकार का कहने का तात्पर्य यह है कि गृहस्थ बुद्धिमान् होना चाहिए। गृहस्थ के पास बुद्धि का प्रकर्ष होना चाहिए।

'बुद्धि' शब्द की व्युत्पत्ति - 'बुध्यतेऽनयेति बुद्धिः' इस प्रकार की गई हैं। जिससे जीवात्मा को बोध प्राप्त होता है, उसको बुद्धि कहते हैं। बुद्धि से ही बोध प्राप्त होता है, यानी ज्ञान प्राप्त होता है। इसी ग्रंथकार महात्मा ने 'उपदेशपद' नाम के ग्रंथ में कहा है-

‘बुद्धिजुया खलु एवं तत्र बुज्झंति, ण उण सव्वेवि’

अति निपुण प्रज्ञावाले मनुष्य ही, सूत्रानुसारी-आगमानुसारी तत्त्व पा सकते हैं, सभी जीव नहीं पा सकते। धर्मतत्त्व को पाना है तो बुद्धि को अति निपुण

बनाना होगा। हाँ, बुद्धि को निपुण बनाया जा सकता है। बुद्धि के चार प्रकार बताये गये हैं। इन प्रकारों में दो प्रकार हैं सहज-स्वाभाविक बुद्धि के और दो प्रकार हैं प्रयत्नसाध्य बुद्धि के।

चार प्रकार की बुद्धि :

१. औत्पत्तिकी, २. वैनयिकी, ३. कर्मजा और ४. पारिणामिकी। ये हैं बुद्धि के चार प्रकार। औत्पत्तिकी और पारिणामिकी - दो प्रकार की बुद्धि जिस मनुष्य को होती है, स्वाभाविक होती है। मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है। वैनयिकी और कर्मजा बुद्धि प्रयत्न से प्राप्त हो सकती है। हालाँकि क्षयोपशम तो मूलभूत कारण है ही, परन्तु क्षयोपशम के लिए भी प्रयत्न तो चाहिएगा ही!

यदि मनुष्य में बुद्धि नहीं है, यानी बुद्धि का प्रकर्ष नहीं है, और मनुष्य चाहता है बुद्धि का प्रकर्ष, तो उसको गुरुसेवा करनी चाहिए। गुरु का विनय करना चाहिए। विनय-विवेकपूर्ण सेवा करनी चाहिए। दीर्घकालपर्यंत सेवा करनी चाहिए। एक बात याद रखना कि यह कोई 'इंस्टन्ट' ट्रीटमेंट नहीं है कि सरदर्द हुआ, 'डिस्प्रिन' की गोली ले ली और एक-दो घंटे के बाद आराम हो गया! वैसे, आज हमने गुरुसेवा की और कल हम बुद्धिमान् हो जायें! जब तक आप बुद्धिमान् नहीं बनो तब तक बुद्धिनिधान ऐसे गुरुदेवों की बुद्धि के अनुसार जीवन जीते रहो। यानी गुरु-आज्ञा के अनुसार जीवन-यापन करने का।

सरल और निष्कपट हृदय से गुरुसेवा करनी चाहिए। वह भी सेवा जैसे तैसे गुरु की नहीं, बुद्धि के प्रकर्ष वाले, बुद्धिनिधान गुरु की सेवा करनी चाहिए। गुरुसेवा से जो बुद्धि प्राप्त होगी वह वैनयिकी बुद्धि कहलायेगी। इसी ग्रंथकार महर्षि ने 'उपदेशपद' ग्रंथ में कहा है :

भत्तीए बुद्धिमंताण तहय बहुमाणओय एएसिं।

अपओसयसंसाओ एयाण वि कारणं जाण ।।१६२।।

बुद्धि का प्रकर्ष प्राप्त करने के लिए, बुद्धि को निपुण बनाने के लिए तीन उपाय बताये गये हैं :

- १. बुद्धिमानों की भक्ति,**
- २. बुद्धिमानों का बहुमान,**
- ३. बुद्धिमानों की ईर्ष्यारहित प्रशंसा।**

बुद्धिमानों की भक्ति करने से बुद्धि निपुण बनती है, परंतु भक्ति कैसे करनी चाहिए वह जानना चाहिए न?

सभा में से : बुद्धिमान् किसको मानें? साधुपुरुषों को या गृहस्थों को? कौन से बुद्धिमानों की भक्ति करनी चाहिए?

महाराजश्री : प्रस्तुत में तो बुद्धिमान् साधुपुरुषों से संबंध हैं। परंतु बुद्धिमान् साधर्मिक श्रावक-श्राविकाओं का भी समावेश हो सकता है। बुद्धिमान् श्रावक-श्राविकाओं की भी भक्ति करनी चाहिए, बहुमान करना चाहिए और प्रशंसा करनी चाहिए।

भक्ति की रीत :

बुद्धिमान् साधुपुरुषों को और सद्गृहस्थों को उचित भोजन, वस्त्र, औषध वगैरह प्रदान करना, जब वे घर पर पधारें तब उचित जल से पादप्रक्षालन करना, जब कभी वे बीमार हो जाय तब उनके पास दिन-रात रह कर उचित सेवा करना, उनकी आज्ञा को शिरोधार्य करना.... वगैरह भक्ति के प्रकार हैं।

भक्ति बाह्य क्रिया-रूप है, बहुमान आन्तरिक होता है। बुद्धिमान् सत्पुरुषों के प्रति कैसा हार्दिक बहुमान होना चाहिए, जानते हो? चिन्तामणि-रत्न मिल जायें तो हृदय के भाव कैसे उल्लसित होते हैं? कामधेनु घर पर आ जाय तो मन कैसा नाचने लगे? इससे भी ज्यादा उल्लास बुद्धिमान् सत्पुरुषों की प्राप्ति से होना चाहिए। बुद्धिमान् सत्पुरुष चिन्तामणि से भी ज्यादा उपादेय लगने चाहिए, कामघट और कामधेनु से भी ज्यादा प्रिय लगने चाहिए।

ऐसे सत्पुरुषों की प्रशंसा करनी नहीं पड़ती है, प्रशंसा हो ही जाती है। मुक्त मन से प्रशंसा हो जाती है।

सभा में से : हम से ज्यादा बुद्धिमान् गृहस्थ के प्रति हमको कभी ईर्ष्या हो जाती है...।

निपुण बुद्धि किसे प्राप्त होती है?

महाराजश्री : तो फिर आप बुद्धिमान् होने से रहे! जो मनुष्य अपने आपको बुद्धिमान् मानता है, जो कि वास्तव में मूर्ख है, वह कभी भी दूसरे बुद्धिमानों की प्रशंसा नहीं करेगा। वह तो निन्दा ही करता रहेगा। अपने आपको बुद्धिमान् मानने वाले कि जो अपने घर की गुत्थियाँ भी नहीं सुलझा सकते हैं, वे उच्चकोटि के प्रज्ञावंत विशिष्ट ज्ञानी ऐसे साधुपुरुषों की भी निन्दा करते हैं!

ऐसे लोग कभी भी निपुण बुद्धि प्राप्त नहीं कर सकते। ग्रंथकार आचार्यदेव तो कहते हैं - 'भव्वाण णिउण बुद्धि जायति' जो जीव 'भव्य' होते हैं यानी निकट के भविष्य में जिनकी मुक्ति होनेवाली है (आसन्नभव्य) ऐसे जीवों को ही निपुण बुद्धि प्राप्त होती है। चूँकि ऐसे जीव राग-द्वेष वगैरह दोषों की प्रबलता से मुक्त होते हैं। राग-द्वेष की प्रबलता से मुक्त मनुष्य ही धर्मश्रवण-तत्त्वश्रवण करने योग्य होता है। ऐसा मनुष्य ही बुद्धिनिधान सत्पुरुषों के समागम को सार्थक करता है। सत्पुरुषों की ऐसा मनुष्य ही भक्ति करेगा, बहुमान करेगा और ईर्ष्यारहित प्रशंसा करेगा।

एक बात निश्चित समझना कि अभव्य जीवों को कभी भी निपुण बुद्धि प्राप्त नहीं होगी। यानी मोक्षमार्ग की आराधना में अनुकूल बुद्धि उनको नहीं मिलेगी। कभी भव्य जीवों की ऐसी हालत होती है। तीव्र राग-द्वेष की परिणतिवाले भव्य जीव भी निपुण बुद्धिवाले नहीं हो सकते। इसका अर्थ यही होता है कि प्रज्ञा का प्रकर्ष पाने के लिए राग-द्वेष की मंदता होना अनिवार्य है।

बुद्धिमान् सत्पुरुषों का, जो कि जीव मात्र के कल्याणमित्र होते हैं, समग्र जीवसृष्टि के प्रति मैत्रीभावना रखने वाले होते हैं; उनके संपर्क से, उनके संबंध से राग-द्वेष की परिणति कम होती है। उनके संपर्क से ही बुद्धिमानों की भक्ति, उनके प्रति बहुमान और उनकी प्रशंसा करने की प्रेरणा मिलती है। यह सब करने से बुद्धि का नैपुण्य बढ़ता जाता है। धर्म के विषय में, अर्थ और काम के विषय में इच्छित फल प्राप्त कराने वाली बुद्धि प्राप्त होती है। सभी कार्यों में उसकी बुद्धि का चमत्कार लोगों को देखने को मिलता है। कैसी भी समस्या पैदा हुई हो, वह सुलझा देगा। मात्र वर्तमान जीवन की सुख-शान्ति के लिए ही नहीं, पारलौकिक जीवन के लिये भी वह अपनी बुद्धि का उपयोग करेगा।

विनय से प्राप्त होने वाली बुद्धि तीन प्रकार का नैपुण्य धारण करती है। विनीत ऐसा बुद्धिमान् व्यक्ति

१. अति दुष्कर कार्य भी सिद्ध करता है,
२. धर्म-अर्थ और काम - तीनों पुरुषार्थ में दक्ष होता है,
३. वर्तमान जीवन और पारलौकिक जीवन, दोनों जीवन को सफल बनाता है।

विनीत शिष्य को शास्त्र के अर्थ सही रूप में स्फुरायमान होते हैं। अविनीत-जड़ बुद्धिवाले शिष्य को शास्त्र के अर्थ सही रूप में ज्ञात नहीं होते।

ज्ञान को गहरा बनाना जरूरी है :

एक उपाध्याय थे। उनके दो शिष्य थे। दोनों को उपाध्याय ने निमित्तशास्त्र का अध्ययन करवाया। एक दिन वे दोनों छात्र लकड़ी काटकर लाने के लिए जंगल में गये। लकड़ियाँ काटकर, गड्ढर बाँधकर दोनों वापस लौटते हैं। नदी में पानी पी कर, एक वृक्ष की छाया में विश्राम करने बैठे। इतने में एक स्त्री पानी का घड़ा लेकर वहाँ से निकली, उसने इन दोनों छात्रों को देखा। वह स्त्री जानती थी कि ये विद्वान् छात्र हैं। उसने आकर विनय से प्रश्न किया : 'मेरा प्रिय पुत्र कई वर्षों से परदेश गया है। अभी वह वापस नहीं आया है। कृपा कर के बताइये कि वह कब घर आयेगा।' उस स्त्री ने प्रश्न पूछा ही था कि उसके हाथ में से पानी का घड़ा जमीन पर गिर गया और फूट गया। यह देखकर एक छात्र ने कहा : 'तेरा पुत्र मर गया है।' दूसरे छात्र ने कहा : 'हे माता, तू तेरे घर पर जा, तेरा पुत्र घर पर आ गया है।' वह स्त्री घर पर गई तो उसने अपने पुत्र को घर पर आया हुआ देखा। वह बड़ी संतुष्ट हुई। दो वस्त्र और कुछ रुपये लेकर वह तुरन्त उन छात्रों के पास गई। जिसने सही भविष्यकथन किया था, उसको वस्त्र और रुपये दिये और बहुत-बहुत प्रशंसा की।

दोनों शिष्य आश्रम में गये। जिसका भविष्यकथन गलत सिद्ध हुआ था उसने जाकर उपाध्याय को उपालंभ देते हुए कहा : 'मैं आपकी भक्ति करता हूँ फिर भी आपने निमित्तशास्त्र का रहस्य इसको बताया, मुझे क्यों नहीं बताया?'

उपाध्याय ने 'क्या हुआ?' पूछा। छात्रों ने समग्र घटना सुनायी। उपाध्याय ने पूछा : 'उस औरत का लड़का मर गया है, ऐसा तूने किस आधार से बताया?' उस छात्र ने कहा : 'उसने प्रश्न पूछा और तुरन्त ही उसका घड़ा फूट गया, यह देख कर मैंने कहा कि तेरा पुत्र मर गया है।'

दूसरे शिष्य से पूछा : 'तूने कैसे कहा कि तेरा पुत्र घर पर आ गया है।' शिष्य ने विनयपूर्वक कहा : 'गुरुदेव, मैंने शास्त्रानुसार सोचा कि घड़ा मिट्टी में से पैदा हुआ है और मिट्टी में मिल गया, वैसे लड़का माँ से उत्पन्न हुआ है, माता को मिल गया है। यह सोच कर मैंने उस महिला को कहा कि तेरा पुत्र घर पर आ गया है।'

उपाध्याय ने अविनीत शिष्य से कहा : 'निमित्तशास्त्र तो मैंने तुम दोनों को

पढ़ाया है समान रूप से, परंतु तेरी जड़ बुद्धि के कारण तू रहस्य नहीं पा सका है, मेरा कोई दोष नहीं है।'

संपर्क में सतर्कता रखो :

निपुण प्रज्ञा के बिना शास्त्र के रहस्य प्राप्त नहीं हो सकते हैं। निपुण प्रज्ञा गुरुविनय से प्राप्त होती है। एकाग्रता से अध्ययन करते रहने से निपुण प्रज्ञा प्राप्त होती है। पुनः-पुनः विचारपूर्वक अभ्यास करने से, कार्य करने से निपुण प्रज्ञा प्राप्त होती है।

मूर्ख मनुष्यों के संसर्ग में रहोगे तो बुद्धि का विकास नहीं होगा। कामी, क्रोधी, लोभी.... मायावी लोगों के संसर्ग में रहने से बुद्धि का नाश होता है। इसलिए ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि कल्याणमित्रों का संपर्क रखो। कौन कल्याणमित्र हो सकता है, जानते हो न? जो श्रद्धावान् हो, ज्ञानवान् हो और चरित्रवान् हो, वह ही कल्याणमित्र हो सकता है।

जिसमें मैत्रीभावना हो, करुणाभावना हो, प्रमोदभावना हो और माध्यस्थभावना हो, वह महापुरुष ही कल्याणमित्र हो सकता है।

सभा में से : ऐसे कल्याणमित्र कहाँ मिलेंगे? साधुभगवंत तो आते-जाते हैं! निरंतर संपर्क बना रहे, वैसे कल्याणमित्र मिलने मुश्किल हैं!

तथाभव्यत्व की परिपक्वता के साधन :

महाराजश्री : सही बात है आपकी। पुण्यकर्म के उदय से ही कल्याणमित्र का संयोग मिलता है। 'पुण्यानुबंधी पुण्यकर्म' का उदय होना चाहिए। ऐसे पुण्यकर्म के उदय के बिना कल्याणमित्र का योग नहीं मिलता है और, तथाभव्यत्व का परिपाक हुए बिना ऐसा पुण्योदय नहीं मिलता। 'तथाभव्यत्व' तो प्रत्येक मोक्षगामी जीव में होता ही है। परन्तु उसको 'परिपाक' करना पड़ता है। परिपाक का पुरुषार्थ किये बिना 'तथाभव्यत्व' का विशेष कोई महत्त्व नहीं है। 'तथाभव्यत्व' एक प्रकार की योग्यता है, मोक्ष पाने की योग्यता है। योग्यता होने मात्र से क्या? योग्यता का लाभ प्राप्त करना चाहिए। 'तथाभव्यता' का परिपाक करने के लिए प्रतिदिन सुबह, मध्याह्न और शाम-तीनों समय १. चार शरण अंगीकार करते रहें, २. दुष्कृत्यों की आत्मसाक्षी से गर्हा करते रहें और ३. सुकृत्यों की अनुमोदना करते रहें। इससे तथाभव्यत्व का परिपाक होगा।

- तथाभव्यता के परिपाक से पुण्यानुबंधी पुण्य बंधता है,
- पुण्यानुबंधी पुण्य के उदय से कल्याणमित्र का योग मिलता है,
- कल्याणमित्र का योग मिलने से बुद्धि की निपुणता के उपाय मिलते हैं,
- बुद्धि के नैपुण्य से सूत्रानुसारी प्रवृत्ति होती है, धर्म, अर्थ और काम-तीनों पुरुषार्थ में विवेक एवं औचित्य आता है। जीवन में कोई अनुचित प्रवृत्ति नहीं होती है। जो भी प्रवृत्ति होगी वह उचित प्रवृत्ति होगी। 'उपदेशपद' ग्रंथ में ग्रंथकार आचार्यदेव कहते हैं :

**बुद्धिजुओ आलोयइ धम्मट्ठाणं उवाहिपरिसुद्धम् ।
जोगत्तमप्पणोच्चिय अणुबंधं चेव जत्तेण ।।१६७।।**

बुद्धिमान् मनुष्य दोषरहित धर्मस्थानों का विचार करता है। धर्मस्थान यानी सम्यग् ज्ञान की आराधना, सम्यक् चारित्र की आराधना सम्यक् तपश्चर्या की आराधना....वगैरह आराधनाओं के विषय में वह सोचता है। बुद्धिमान् मनुष्य अवश्य सोचेगा। वह कैसे सोचता है वह भी बताता हूँ-

सोचने की बातें :

अभी वर्तमान समय में मुझे कौन-सी धर्माराधना करनी चाहिए? यानी वर्तमान संयोगों में मैं कौन-सी धर्माराधना कर सकता हूँ? मुझे आठ दिन के पौषध करने हैं और आठ दिन उपवास करने हैं, क्या मैं कर सकता हूँ? क्षेत्र अनुकूल है? मेरा शरीर उपयुक्त है? मेरे पारिवारिक कर्तव्यों में बाधा नहीं पहुँचेगी न? मैं आठ दिन घर में नहीं रहूँगा। परंतु घर को संभालनेवाला मेरा भाई है....। मेरा शरीर भी तपश्चर्या के लिए उपयुक्त है। पौषधव्रत में मेरे साथ दूसरे भी साधर्मिक भाई रहेंगे। इससे आपस का साधर्मिक प्रेम बढ़ेगा।

बुद्धिमान् मनुष्य काल (समय) का विचार करेगा, अपने मित्रों का विचार करेगा, अपने देश का विचार करेगा, आय और व्यय का विचार करेगा, अपनी शक्ति का भी गंभीरता से विचार करेगा।

गंभीरता से सोच कर ही वह कार्य का प्रारंभ करेगा। जो भी कार्य वह करेगा, उसका प्रारंभ बहुत अच्छे ढंग से करेगा। समाज में हास्यास्पद नहीं होना पड़े, कार्य की सफलता प्राप्त हो - उस द्रष्टि से वह कार्य करेगा। नगर के लोग उसके कार्य की प्रशंसा करें, समाज में उसकी इज्जत बढ़े, उस ढंग से वह कार्य करेगा। एक कहावत है न कि 'जिसका प्रारंभ अच्छा उसका अन्त

भी अच्छा!' बुद्धिमान् मनुष्य कार्य का प्रारंभ समुचित उपायों से करता है।

अनुचित आरंभ करने से कार्य सफल नहीं होता है। इससे मनुष्य का मन विषाद से भर जाता है। घर के लोग और समाज के लोग उपहास करते हैं जिससे दूसरे कार्य करने के लिए उत्साह नष्ट हो जाता है। इसलिए परिणाम का विचार भी गंभीरता से कर लेना चाहिए। 'मैं यह कार्य करता हूँ, मुझे श्रेष्ठ फल की प्राप्ति होनी ही चाहिए।'

पेथड़शाह की निपुण बुद्धि रंग लाई :

आप जानते हो न, देवगिरि में जिनमंदिर का निर्माण करने के लिए मालवा के महामंत्री पेथड़शाह ने कार्य का प्रारंभ कैसे किया था? पंद्रहवीं शताब्दी के आसपास की यह घटना है। मालवा की राजधानी उस समय मांडवगढ़ में थी। महामंत्री थे पेथड़शाह। मांडवगढ़ वगैरह अनेक नगरों में महामंत्री ने जिनमंदिरों का निर्माण करवाया था। देवगिरि का राज्य अलग था। उस राज्य का महामंत्री ब्राह्मण था। कट्टर ब्राह्मण था। देवगिरि में उसने एक भी जिनमंदिर नहीं होने दिया था। पेथड़शाह की इच्छा थी वहाँ जिनमंदिर बनाने की। बड़े निपुण बुद्धिवाले थे महामंत्री। कार्यसिद्धि के उपायों पर विशद विचार किया। मन में निर्णय कर लिया कि 'देवगिरि में मंदिर बनेगा ही।' देवगिरि के ब्राह्मण महामंत्री के प्रेम संपादन करने का उपाय सोचा। सत्ता का उपयोग करने का नहीं सोचा! बल का उपयोग करने का नहीं सोचा। कितना अच्छा उपाय खोज निकाला महामंत्री ने!

उन्होंने मांडवगढ़ और देवगिरि के रास्ते पर एक 'विश्रामगृह' बनवाया। एक प्रकार की बढ़िया 'होटल' ही समझ लो! वहाँ खाने की व्यवस्था, स्नानादि की व्यवस्था, आराम करने की व्यवस्था....सब प्रकार की व्यवस्था कर दी। मुसाफिरों के लिए बहुत अच्छी सुविधा हो गई और वह भी निःशुल्क!

भोजन भी श्रेष्ठ! 'दाल और रोटी, तीसरी बात खोटी.....' वाली बात वहाँ नहीं थी। नौकर लोग भी विनीत, विनम्र और कार्यदक्ष रखे गये थे।

जो भी मुसाफिर पूछता : यह विश्रामगृह किसने बनाया है? कौन पुण्यशाली इतना सारा खर्च कर रहा है? तो विश्रामगृह का मुनीम (मेनेजर) कहता है : 'देवगिरि के महामंत्री की ओर से यह विश्रामगृह चल रहा है।' लोग देवगिरि के महामंत्री की बहुत प्रशंसा करते हैं। प्रशंसा के शब्द देवगिरि के महामंत्री के कानों में पहुँचे। उसको बड़ा आश्चर्य हुआ। 'मैंने तो कहीं पर भी विश्रामगृह

बनवाया नहीं है और जो जो व्यक्ति मांडवगढ़ से आता है..... मेरी प्रशंसा करता है पेट भर के! विश्रामगृह की प्रशंसा करता है मुँह फाड़ के! क्या बात है? मुझे स्वयं वहाँ जाकर देखना होगा और तलाश करनी पड़ेगी कि वास्तव में वह विश्रामगृह कौन चलाता है और मेरे नाम से क्यों चलाता है? मेरा यश बढ़ाने का प्रयोजन भी तो होना चाहिए....।’

देवगिरि का महामंत्री एक दिन उस विश्रामगृह में पहुँचा। विश्रामगृह देखकर आश्चर्यचकित हो गया। वहाँ की सभी प्रकार की सुविधाएँ देखकर दंग रह गया। ‘पानी की तरह यहाँ पैसे बह रहे हैं..... कौन बहा रहा होगा?’ उसने मुनीम को बुलाकर पूछा : ‘यह विश्रामगृह किसने बनवाया है?’

‘देवगिरि के महामंत्री ने.....’ मुनीम कहाँ पहचानता था! उसने तो जो जवाब देना था दे दिया।

‘असत्य क्यों बोलते हो? मैं ही देवगिरि का महामंत्री हूँ।’ अब मुनीम सम्हल गया। उसने महामंत्री को नतमस्तक होकर प्रणाम किया और कहा :

‘क्षमा करना मेरा अपराध, यह विश्रामगृह चला रहे हैं मांडवगढ़ के महामंत्री पेंथड़शाह!’

‘और नाम मेरा क्यों बताया जाता है?’ महामंत्री ने पूछा।

‘यह बात हम नहीं जानते, हमको तो हमारे महामंत्री का जो आदेश है, उस आदेश के अनुसार आपका नाम बताते हैं।’

देवगिरि के महामंत्री ने सोचा कि ‘अब मुझे पेंथड़शाह से ही मिलना पड़ेगा।’ और वे दोनों महामंत्री मिले। देवगिरि के महामंत्री ने कहा : ‘आपने मुझे कितना यश दिया? मेरी कीर्ति कितनी फैला दी? आज से आप मेरे मित्र हैं। कहिए, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?’

पेंथड़शाह ने कहा : ‘मुझे देवगिरि के मध्य भाग में विशाल जगह चाहिए, मैं वहाँ जिनमंदिर बनाना चाहता हूँ।’ देवगिरि के महामंत्री ने जगह देने का वचन दिया और देवगिरि पधारने का निमंत्रण दिया। पेंथड़शाह देवगिरि गये, जमीन मिल गई और भव्य जिनमंदिर भी बन गया।

इसको कहते हैं निपुण बुद्धि! कार्य का प्रारंभ कितने चातुर्य से किया! परिणाम कितना बढ़िया आया? सारे देश में पेंथड़शाह की प्रशंसा हुई। पेंथड़शाह को स्वयं को कितना आनंद हुआ होगा? सुकृत की अनुमोदना करते करते उन्होंने कितना महान् पुण्यानुबंधी पुण्यकर्म बाँधा होगा?

पेथड़शाह में ऐसी निपुण बुद्धि कहाँ से आयी थी? जानते हो? आचार्यदेव श्री धर्मघोषसूरिजी की परम कृपा थी उन पर। आचार्यदेव की एक-एक आज्ञा का वे पालन करते थे। आचार्यदेव का संपर्क-समागम बनाये रखते थे। निपुण बुद्धि के लिए महत्त्वपूर्ण बात यही है! प्रकृष्ट प्रज्ञावाले महापुरुषों का संपर्क बनाये रखना। ऐसे महापुरुषों का, अपने जीवन के प्रश्नों में मार्गदर्शन लेते रहना। उनके मार्गदर्शन के अनुसार कार्य करना। कर सकोगे आप लोग?

सभा में से : वकीलों के साथ तो ऐसा ही व्यवहार करते हैं!

महाराजश्री : चूँकि व्यावहारिक उलझनों से वकील आपको मुक्त कर सकता है, ऐसा आपका विश्वास है न! आप वकील को अपने से ज्यादा बुद्धिमान् मानते हो! इसलिए रुपये देकर बुद्धि लेते हो। यहाँ तो रुपये देने-लेने की बात नहीं है! निःस्वार्थ और निःस्पृही ऐसे सत्पुरुषों के सामने तर्क-वितर्क नहीं करने चाहिए, वे जो भी मार्गदर्शन दें, ग्रहण कर लेना चाहिए।

‘हम तो बुद्धिहीन हैं, दुर्भाग्यग्रस्त हैं,’ ऐसा मानने से तो मनुष्य पतन की गर्ता में ही गिरता है। निराशावादी विचारों को दिमाग में से बाहर फेंक दो। आशावादी बनो। अपने भविष्य की समुन्नत कल्पनाएँ करते रहो। इसलिए कल्याणमित्र की खोज करो। कल्याणमित्र मिल जाने पर आप उनका साथ कभी मत छोड़ो। वे आपको निर्धारित लक्ष्य की ओर प्रगति करवायेंगे। कभी ऐसा भी प्रसंग आयेगा कि उनकी बात आपके छोटे से दिमाग में नहीं जँचेगी, फिर भी आप उनकी बात मान लेना।

गुरु के सामने दलील नहीं करना :

एक बार ईसु ख्रिस्त अपने शिष्य मेथ्यू के साथ पदयात्रा करते जा रहे थे। बीच में मेथ्यू का गाँव आया। वहाँ समाचार मिला कि मेथ्यू के पिता का आज ही स्वर्गवास हुआ है। मेथ्यू ने ईसा के सामने देखा। ईसा ने कहा : ‘मेथ्यू, क्या इस गाँव में दूसरा कोई मनुष्य मरा होता तो तू शोकमग्न होता? नहीं होता न? तेरे मन में अभी ‘ये मेरे पिता थे,’ ऐसा ममत्व पड़ा है इसलिए तू शोकमग्न बना। ममत्व ही तो तोड़ना है।’

मेथ्यू सुनता रहा। ईसा वहाँ नहीं रुके। वे दूसरे गाँव चले गये। मेथ्यू ईसा के साथ ही चला। दूसरे गाँव जाकर ईसा ने मेथ्यू से कहा : ‘मेथ्यू तू उस गाँव जा और पिता की मृत्यु की उत्तरक्रिया कर के आ जा।’ मेथ्यू चला गया!

दूसरे शिष्यों ने पूछा : ‘आप ने ऐसा क्यों किया?’ ईसा ने कहा : ‘उस गाँव

में मैंने मेथ्यू के मोह को दूर किया और यहाँ उसको कर्तव्य-पालन की आज्ञा दी। मनुष्य को मोहरहित होकर कर्तव्यों का पालन करना चाहिए।'

महत्त्व की बात मैं यह बताना चाहता हूँ कि मेथ्यू ने दोनों समय ईसा के सामने तर्क नहीं किया। वह ईसा को गुरु मानता था। ईसा के ज्ञान में, ईसा की बुद्धि में उसको विश्वास था। मेथ्यू के लिए ईसा कल्याणमित्र थे।

बुद्धि जब प्रकर्ष पाती है तब आठों गुण उसमें आ जाते हैं। वह तत्त्वाभिनिवेश तक पहुँच जाती है। यानी निःशंक एवं निश्चित तत्त्वों में उसकी रमणता हो जाती है। वह अपनी बुद्धि का उपयोग दूसरों को पराजित करने के लिए नहीं करता है, परंतु दूसरों को ज्ञानी बनाने का प्रयत्न करता है। स्वयं बुद्धि का अभिमान नहीं करता है, न दूसरों का उपहास करता है।

सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति में, सम्यग् दर्शन की द्रढ़ता में और सम्यक् चारित्र्य की आराधना में 'निपुण बुद्धि' होना अति आवश्यक है। धर्म, अर्थ और काम के पुरुषार्थों में भी 'निपुण बुद्धि' होना आवश्यक है। इसलिए बुद्धि के विषय में लापरवाही नहीं करते। मोह और अज्ञान से बुद्धि को बचाये रखने की सावधानी बरतें।

आज बस, इतना ही।



- सुख की पसंदगी वैसी करो ताकि दूसरे तुम्हारे सुख की निंदा न करें। लोकनिंदा से हमेशा बचकर रहना चाहिए।
- प्रशंसनीय सुख पाने के लिए व्यवहार-धर्म का पूरा पालन करना होगा। व्यवहार-धर्म की उपेक्षा करके, सामान्य धर्म को नजरअंदाज करके प्रशंसनीय सुख प्राप्त करने की इच्छा रखना व्यर्थ है।
- भय और लोभ, डर और लालच, आशंका और अतृप्ति-इनसे बचकर धर्मआराधना करना है।
- गुरुजनों का मार्गदर्शन जीवन में प्रत्येक कदम पर लेते रहें। इससे जीवन सुव्यवस्थित एवं सुदृढ़ बनेगा, साथ ही निष्प्रायोजन पाप-कार्य से आत्मा बच जायेगी।
- आजकल तो पूरा वातावरण ही बदल गया है। बदली हुई समाज-व्यवस्था में सामान्य धर्मों का पालन उतना ही सहज नहीं है....पर करना तो होगा ही। इसके बिना चलनेवाला नहीं है।
- नींव की उपेक्षा करके मकान को बनाने में ही लगे रहे तो एक दिन मकान हिल उठेगा और शायद ढह भी जाये!



परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरीश्वरजी, स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के प्रथम अध्याय में गृहस्थ जीवन के सामान्य धर्मों का प्रतिपादन कर, उपसंहार करते हुए फरमाते हैं-

एवं स्वधर्मसंयुक्तं सद्गार्हस्थ्यं करोति यः।

लोकद्वयेऽप्यसौ धीमान्, सुखमाप्नोत्यनिन्दितम् ॥१॥

'इस प्रकार गृहस्थ जीवन के सामान्य धर्मों के साथ सद्गृहस्थाई को जो बुद्धिमान् मनुष्य जीता है, वह इस जीवन में और पारलौकिक जीवन में प्रशंसनीय सुख पाता है।'

संसार में सुख कौन नहीं चाहता है? सभी जीव सुख चाहते हैं। भोगी सुख चाहता है, तो योगी भी सुख चाहता है! रागी सुख चाहता है तो त्यागी भी

सुख चाहता है। आप लोग सुख चाहते हैं, हम भी सुख चाहते हैं! परंतु मुझे आप से पूछना है कि आप कैसा सुख चाहते हो?

दो प्रकार का सुख :

सुख दो प्रकार के होते हैं दुनिया में। एक होता है निंदनीय सुख और दूसरा होता है प्रशंसनीय सुख। होते हैं दोनों सुख! एक सुख ऐसा होता है कि आप उस सुख को भोगें और दुनिया आपकी निंदा करे। दूसरा सुख ऐसा होता है कि आप उस सुख को भोगें और दुनिया आपकी प्रशंसा करे। कहिए, आपको कैसा सुख पसंद है?

सभा में से : प्रशंसनीय सुख ही चाहिए।

महाराजश्री : वैसा सुख पाना है तो जो इस अध्याय में गृहस्थ जीवन के सामान्य धर्म बताये हैं, उन सामान्य धर्मों का जीवन में पालन करना ही होगा। यदि आप इन सामान्य धर्मों का पालन नहीं करते हैं और विशेष धर्मों का पालन करते हैं, तो इससे सुख तो मिलेगा, परंतु निंदनीय सुख मिलेगा। विशेष धर्म यानी परमात्मपूजन, गुरुसेवा, तीर्थयात्रा, दान, तपश्चर्या वगैरह से भी सुख मिलेगा; परंतु प्रशंसनीय सुख नहीं मिलेगा। निंदनीय और प्रशंसनीय सुखों के कुछ 'सेम्पल' बताता हूँ।

पसंदगी के दो माध्यम :

○ मनुष्यजन्म मिला, यह सुख है। परंतु नीच कुल में जन्म मिला इसलिए यह सुख निंदनीय है। उच्च कुल में जन्म मिला तो प्रशंसनीय सुख है।

○ जन्म देनेवाली माता सुशील है, वात्सल्यपूर्ण है, संस्कारी है, तो माता का सुख प्रशंसनीय मिला। यदि माता कुशील है, क्रूर है, कुसंस्कारी है, तो माता का सुख निंदनीय कहलायेगा।

○ वैसे पिता मिलना सुख है, परन्तु यदि पिता दरिद्र है, व्यसनी है, कुसंस्कारी है, तो वह सुख निंदनीय है। पिता श्रीमंत है, सुसंस्कारी है, गुणवान् है, तो वह सुख प्रशंसनीय है।

○ पत्नी मिलना सुख है, परन्तु वह कुरूप है, कुशील है, क्रोधी है, प्रमादी है, तो वह सुख निंदनीय है। यदि पत्नी सुंदर है, सुशील है, प्रेमपूर्ण है, कार्यदक्ष है, तो वह सुख प्रशंसनीय है।

○ मित्र होना सुख है, परन्तु यदि मित्र दुराचारी है, मायावी है, बदनाम है, तो मित्र का सुख निंदनीय है। यदि मित्र सदाचारी है, संस्कारी है, लोकप्रिय है, तो वह सुख प्रशंसनीय है।

○ पैसा होना, संपत्ति होना सुख है; परन्तु व्यवसाय चोरी का है, अनीति का है, घोर हिंसा का है, तो पैसे का सुख निंदनीय कहलायेगा। परन्तु यदि व्यवसाय न्याय-नीतिपूर्ण है, वंशपरंपरागत सुयोग्य है, तो वह सुख प्रशंसनीय है।

○ संतान होना सुख है, परन्तु संतान उद्धत है, अविनीत है, मूढ़ है, तो वह सुख निंदनीय कहलायेगा। संतान यदि विनीत है, बुद्धिशाली है, विवेकी है, तो वह सुख प्रशंसनीय कहलायेगा। चूँकि दुनिया आपकी प्रशंसा करेगी - 'यह भाई पुण्यशाली है, सुखी है, कैसी अच्छी संतानें हैं!' यदि संतान अविनीत है तो लोग निन्दा करेंगे - 'इसके लड़के कैसे दुष्ट हैं, दुराचारी हैं....' जिस सुख की लोग प्रशंसा करें वह सुख प्रशंसनीय और जिस सुख की लोग निन्दा करें वह सुख निंदनीय समझना।

आप ही क्या, सभी लोग प्रशंसनीय सुख चाहते हैं, परन्तु प्रशंसनीय सुख पाने के उपाय सभी लोग नहीं जानते हैं। जो लोग उपाय जानते हैं, उनमें से बहुत थोड़े लोग उन उपायों को कार्यान्वित करते हैं। वर्तमान समय में मुझे तो आपके ज्यादातर सुख निंदनीय ही लगते हैं। चूँकि पूर्वजन्म में आपने गृहस्थ जीवन के सामान्य धर्मों का पालन नहीं किया होगा। यदि किया होता पालन, तो आपको प्रशंसनीय सुख मिलते।

सभा में से : हम तो इस जीवन में भी सामान्य धर्मों का पालन नहीं कर रहे हैं.....।

तो फिर क्या होगा?

महाराजश्री : तो आनेवाले जन्म में कैसे सुख मिलेंगे, समझ गये न? प्रभुपूजन वगैरह विशेष कोटि के धर्मों का पालन करने से पुण्यकर्म बंधता है। पुण्यकर्म के उदय से सुख भी मिलते हैं, परन्तु वे सुख तभी प्रशंसनीय मिलेंगे, जब आपने सामान्य धर्मों का पालन किया होगा।

जो मनुष्य विशेष धर्मों का पालन नहीं करता है और सामान्य धर्मों का पालन भी नहीं करता है, उसकी बात नहीं है। चूँकि उसको सुख मिलता ही नहीं है। सामान्य या विशेष, किसी भी प्रकार का धर्म नहीं करता है, पापमय जीवन जीता है, उसको तो दुःख ही मिलते हैं। यहाँ अपनी बात चलती है विशेष धर्म करनेवालों की जो कि सामान्य धर्मों का पालन नहीं करते हैं।

सामान्य धर्म क्या है?

○ परमात्मा की पूजा करते हैं, परन्तु माता-पिता का अनादर-तिरस्कार करते हैं।

○ सामायिक की क्रिया करते हैं; परंतु प्रचंड क्रोध करते हैं, गंदे शब्द बोलते हैं, आक्रोश करते हैं।

○ प्रतिक्रमण की क्रिया करते हैं, यानी विशेष धर्म का पालन करते हैं; परंतु झूठ, चोरी, दुराचार जैसे पापों का सेवन मजे से करते हैं, परनिन्दा, स्वप्रशंसा करते रहते हैं।

○ साधुपुरुषों की सेवा करते हैं; परन्तु दुर्जनों का संग करते हैं, सज्जनों की उपेक्षा करते हैं।

○ तीर्थों की यात्रा करते हैं; परंतु अन्याय से, प्रपंच से, चोरी से धन कमाते रहते हैं।

○ पौषध व्रत करते हैं; परंतु दुःखी जीवों के प्रति निर्दयतापूर्ण व्यवहार करते हैं, शिष्ट पुरुषों की निन्दा करते हैं।

○ रोजाना श्री नवकार मंत्र की मालाएँ फेरते हैं; परन्तु रहते हैं विधर्मियों के पास में, कर्मादान के धंधे करते हैं।

○ उपवास, आयंबिल वगैरह तपश्चर्या करते हैं; परन्तु जब खाते हैं तब भक्ष्याभक्ष्य का विवेक नहीं, अति भोजन करते हैं, अजीर्ण होने पर भी खाते रहते हैं।

इससे निंदनीय सुखों की प्राप्ति होती है। सामान्य धर्मों की घोर उपेक्षा करने से, इस वर्तमान जीवन में भी मनुष्य प्रशंसापात्र या लोकप्रिय नहीं बन पाता है। मृत्यु के बाद भी, जहाँ जन्म लेगा वहाँ वह निंदनीय सुख ही प्राप्त करेगा।

सभा में से : सामान्य धर्मों की इतनी घोर उपेक्षा, आज संघ में, समाज में क्यों हो गई है?

महाराजश्री : इसका कोई एक कारण नहीं है, अनेक कारण हैं। कुछ कारण बताता हूँ :

सामान्य धर्म की उपेक्षा के कारण :

१. सामान्य धर्मों के पालन का उपदेश देना, साधुपुरुषों ने कम कर दिया है। विशेष धर्मों के पालन का उपदेश विशेष रूप से दिया जाता है। विशेष धर्म करनेवाले यदि सामान्य धर्मों का पालन नहीं करते हैं तो भी उनको सम्मान मिल जाता है।

२. सामान्य धर्मों का पालन नहीं होता है फिर भी 'हम धर्महीन हैं,' ऐसा भाव पैदा नहीं होता है। गलती नहीं लगती है।

३. सामान्य धर्मों के पालन से होनेवाले लाभ और पालन नहीं करने से होनेवाले नुकसानों का ज्ञान नहीं है।

४. बदलती हुई समाजरचना में सामान्य धर्मों के प्रति दुर्लक्ष्य होता जा रहा है।

५. विश्व के दूसरे देशों के साथ भारत के लोगों का संबंध बढ़ता गया, वहाँ की अर्थप्रधान और कामप्रधान विकृतियाँ अपने देश में तीव्र गति से आने लगीं, इससे सामान्य धर्म का पालन भुला दिया गया है।

६. जीवों की बुद्धि में विपर्यास आ गया है। निंदनीय सुख भी अच्छे लगने लगे हैं।

ऐसे बहुत से कारण हैं। परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि वर्तमान काल में मनुष्य सामान्य धर्मों का पालन नहीं कर सकता। कर सकता है। धर्ममय व्यवहारों को जीने की द्रष्टि चाहिए। सभी जीवन-व्यवहारों को धर्ममय बनाने की तमन्ना चाहिए और ज्ञानी दीर्घदर्शी ऐसे गुरुदेवों का सान्निध्य या मार्गदर्शन चाहिए। सोच-विचारकर, ऐसे ज्ञानी एवं चारित्र्यवंत गुरुदेव को शिरच्छत्र बना लो कि जो आपको सही मार्गदर्शन देते रहें। पूरा परिवार उनके प्रति श्रद्धावान् होना चाहिए।

‘पुशबेक’ करनेवाला चाहिए :

सामान्य धर्मों का और विशेष धर्मों का पालन करने के लिए ऐसा कोई प्रेरणास्रोत बहता रहना चाहिए। श्रद्धा से प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिए। ऐसा मनोबल बना रहना चाहिए कि गलत प्रलोभनों में आप फँस नहीं जायें और भयों से डर नहीं जायें। चूँकि जो मनुष्य गलत प्रलोभनों में फँस जाता है और सच्चे-झूठे भयों से डरता रहता है, वैसा मनुष्य सामान्य धर्मों का पालन नहीं कर सकता है।

वैसे, जो मनुष्य पाँच इन्द्रिय के विषय-सुखों की तीव्र स्पृहावाला होता है और मामूली-मामूली दुःखों से भी जो डरता रहता है, वह सामान्य धर्मों का पालन नहीं कर सकता है। परंतु यदि ज्ञानी एवं करुणावंत गुरुजनों के संपर्क में रहे और उनसे प्रेरणा लेता रहे, तो परिवर्तन हो सकता है। सुखों की स्पृहा और दुःखों का भय कम हो सकता है। इससे सामान्य धर्मों का पालन सरल बन जाता है।

○ जैसे, आपका भौतिक सुखों का राग कम हुआ, आप न्याय-नीति से व्यवसाय कर सकेंगे। न्याय-नीति से व्यवसाय करने पर आपको कम आय होगी, तो भी आप अन्याय से धनोपार्जन करने का नहीं सोचेंगे। ‘न्याय-संपन्न वैभव’ यह पहला सामान्य धर्म है, आप उसका पालन कर सकेंगे।

○ गुरुदेवों की निरंतर सत्प्रेरणा मिलती रहने से आप शिष्ट पुरुषों की प्रशंसा करनेवाले बन जायेंगे, दुर्जनों का संपर्क छूट जायेगा और सत्पुरुषों की मैत्री बन जायेगी।

○ सुखों का राग कम होने से आप उचित समय ही भोजन करेंगे और अजीर्ण होने पर भोजन का त्याग करेंगे। अभक्ष्य भोजन नहीं करेंगे। परनिन्दा नहीं करेंगे, स्वप्रशंसा नहीं करेंगे।

○ निर्मल प्रज्ञावाले गुरुजनों के संपर्क से, आपकी बुद्धि निर्मल बनेगी। बुद्धि में शुद्धि आयेगी। ज्यादा नहीं तो कम, परन्तु शुद्धि आयेगी अवश्य।

सभा में से : वंकचूल के जीवन में ऐसी ही बात बनी थी न?

महाराजश्री : हाँ, प्रज्ञावंत आचार्यदेव के परिचय से उस डाकू की बुद्धि भी कुछ निर्मल बनी थी। प्रतिज्ञाओं का पालन शुद्ध बुद्धि से हो सकता है। उसने जो चार प्रतिज्ञाएँ ली थीं, उन प्रतिज्ञाओं का पालन उसने दृढ़ता से किया था।

वंकचूल की कसौटी :

एक दिन वंकचूल अपने सभी साथी-डाकुओं के साथ डाका डालने चला गया था। गाँव में एक भी पुरुष नहीं रहा था। सब औरतें ही गाँव में थीं। दूसरी पासवाली पल्ली के डाकुओं को मालूम हो गया कि इस पल्ली में एक भी डाकू नहीं है। उन्होंने इस पल्ली को लूटने की योजना बनायी। करीबन् २०/२५ डाकुओं ने नटों का वेश धारण किया। वंकचूल की पल्ली में आये। पल्ली में जाहिर किया कि 'आज रात को यहाँ हम रामलीला करेंगे।'।

वंकचूल के घर में उसकी पत्नी और बहन थी। बहन ने नटों को देखा। उसके मन में शंका पैदा हुई। 'ये डाकू भी हो सकते हैं। यहाँ एक भी पुरुष नहीं है, यह जानकर यहाँ आये हों.....। रात में एक तरफ रामलीला चलती रहे और दूसरी तरफ ये लोग घरों को लूट लें.....।' उसके मन में चिंता हुई। उसने अपनी भाभी से बात की। दोनों सोचती रही। भाभी ने कहा : 'अपन ऐसा करें कि रामलीला देखने जब अपन जायें तब तू तेरे भाई के वस्त्र पहन लेना। तेरा मुँह तेरे भाई जैसा ही है! रात्रि में मशालों के प्रकाश में कोई गौर से देखेगा नहीं और वे डाकू समझेंगे कि 'सरदार आ गये हैं.....' तो चोरी का विचार छोड़ कर चले जायेंगे।'।

इसको कहते हैं बुद्धि! आफत के समय बुद्धि काम आती है। बुद्धि से बचने का रास्ता निकल आता है। परंतु यदि मनुष्य संकट के समय घबरा जाता है, चिन्तामग्न हो जाता है, तो उसकी बुद्धि काम नहीं करती है। काम करती भी

है तो गलत काम करती है।

रात हुई। पल्ली में नाटक शुरू हुआ। सभी औरतें नाटक देखने इकट्ठी हो गईं। इधर वंकचूल की बहन ने वंकचूल के वस्त्र पहन लिए। भाभी के साथ वह भी नाटक में पहुँच गई। वहाँ पहुँचते ही सभी ने देख लिया कि 'वंकचूल आ गया है!' चोरों का तो मजा ही किरकिरा हो गया। वंकचूल ने उन नटों को बक्षिस भी दी और वे दोनों अपने घर आकर एक ही चारपाई में सो गई। चोर तो तुरन्त ही रवाना हो गये।

आधी रात बीतने पर वंकचूल घर पर पहुँचा। उसने अपनी पत्नी को किसी पुरुष के साथ सोयी हुई देखा! अंधेरा था। स्पष्ट नहीं दिखता था। वंकचूल को घोर गुस्सा आ गया। उसने तलवार उठायी। प्रहार करने आगे बढ़ता है, त्यों ही उसको अपनी प्रतिज्ञा याद आ गई। वह सात कदम पीछे हट गया। उसकी तलवार मकान की छत से टकरायी, आवाज हुई और बहन जाग गई.... 'भैया, तुम आ गये!' बोलती हुई खड़ी हो गई।

पुरुष के वेष में अपनी बहन को देखकर वंकचूल स्तब्ध रह गया। उसके हाथ में से तलवार जमीन पर गिर गई। वंकचूल कुछ पूछे, इसके पहले तो बहन ने सारी बात बता दी। वंकचूल की पत्नी भी जाग गई थी।

वंकचूल कुछ बोला नहीं। उसने आँखें बंद की और गुरुदेव की स्मृति में वह खो गया। मनोमन बोलने लगा : 'गुरुदेव! आपने मुझे घोर पाप से बचा लिया..... आपने मुझे प्रतिज्ञा नहीं दी होती तो आज मेरे हाथ से पत्नी की और बहन की हत्या हो जाती...।' उसकी आँखों में से आँसू बहने लगे।

प्रतिज्ञा के पालन से उसको प्रत्यक्ष लाभ दिखायी दिया। प्रतिज्ञा-पालन की उसकी दृढ़ता और प्रबल हो गई। 'धर्म के पालन से सुख मिलता ही है,' यह श्रद्धा दृढ़ हुई। उसको गुरुदेव के वचन याद आये : 'महानुभाव, धर्म इस जीवन में और पारलौकिक जीवन में सुख देता है, इसलिए दृढ़ता से धर्म का पालन करना।' इस जीवन में तो मैंने सुख का अनुभव किया, परलोक में भी यह धर्म सुख देगा ही।' उसका धर्मविश्वास दृढ़ हुआ।

एक दिन वंकचूल और उसके साथी कोई गाँव में डाका डालने गये। वापस लौटते हैं। जंगल में से गुजरते हैं। सबको जोरों की भूख लगी है। पास में भोजन था नहीं। डाकू जंगल में से सुंदर पके हुए फल ले आये। वंकचूल के पास फलों का ढेर कर दिया। वंकचूल ने पूछा : 'इस फल का नाम क्या है?' फल लानेवाले डाकुओं ने कहा : 'हम नाम तो नहीं जानते, परन्तु लगता है कि ये फल स्वादिष्ट हैं।'।

‘मैं ये फल नहीं खा सकता।’

‘लेकिन क्यों?’ साथियों ने पूछा।

‘चूँकि अनजान फल नहीं खाने की मेरी प्रतिज्ञा है।’

‘हम तो खायेंगे.....जोरों की भूख लगी है।’

वंकचूल ने वे फल नहीं खाये, साथियों ने खाये..... मधुर लगे। परंतु खाने के बाद सभी सो गये। ऐसे सोये कि कभी जगे ही नहीं। मर गये सभी। वे फल जहरीले थे।

वंकचूल अपने साथियों की मौत पर रो पड़ा। उसको गुरुदेव याद आये। उसने भाव से गुरुदेव को वंदना की। ‘गुरुदेव, आपने मुझे दूसरी बार भी बचा लिया।’ उसकी धर्मश्रद्धा ज्यादा पुष्ट हुई। गुरुदेव के उपकार को पुनः पुनः गद्गद् मन से याद करने लगा। उपकारी के उपकारों को याद करना, यह भी महत्त्वपूर्ण धर्म है। वंकचूल में ऐसे मौलिक धर्म एक-दो नहीं, अनेक थे।

अपने साथियों की मौत से वंकचूल का मन चोरी के कुकर्म से विरक्त बना। परंतु साथियों के परिवारों का पालन करने की जिम्मेदारी वह समझता था। उसने सोचा : ‘अब एक ऐसी चोरी कर लूँ कि फिर कभी भी चोरी नहीं करनी पड़े। राजमहल में ही ऐसी चोरी हो सकती है।’

वंकचूल रानी के सामने :

वह राजमहल में चोरी करने जाता है। वहाँ वह गलती से रानी के शयनखंड में पहुँच जाता है। रानी जग जाती है। वंकचूल का रूप और चातुर्य देखकर उस पर मोहित हो जाती है। रानी ने वंकचूल से प्रेम की याचना की। वंकचूल को अपनी प्रतिज्ञा याद आ गई। उसने रानी से कहा : ‘क्षमा करना देवी, मैं आपको मेरी बहन मान सकता हूँ, परंतु आपसे प्रेम नहीं कर सकता।’ रानी ने वंकचूल से बहुत अनुनय किया परंतु वंकचूल नहीं माना, तब रानी ने चिल्ला कर सैनिकों को बुलाया और वंकचूल को पकड़वा दिया। दूसरे दिन राजसभा में राजा के सामने उसने अपना अपराध कबूल कर लिया : ‘मैं चोरी करने राजमहल में आया था।’

राजा ने खड़े होकर वंकचूल के बंधन खोल दिये और उसको धन्यवाद देते हुए कहा : ‘तू चोर होगा, परंतु मेरी दृष्टि में तो महात्मा है। मैंने रात्रि के समय मेरी रानी के साथ तेरा जो वार्तालाप हुआ था, वह सुना था। तू पराक्रमी है, मैं तुझे मेरे राज्य का सेनापति बनाना चाहता हूँ। अब तुझे चोरी करने की जरूरत नहीं है। तू यहीं पर रह जा।’

वंकचूल ने कहा : 'महाराजा, आपका उपकार मानता हूँ। आप मेरे जैसे चोर को सेनापति-पद देना चाहते हैं, यह आपकी महानता है; परंतु मैं अकेला नहीं हूँ। मेरी पत्नी है, मेरी बहन है और मेरे साथियों के परिवारों की मुझ पर बड़ी जिम्मेदारी है।'

राजा ने कहा : 'तू जाकर पत्नी और बहन को यहाँ ले आना और तेरे साथियों के परिवारों को जमीन वगैरह जो देना हो, तू मेरी तरफ से दे सकता है। उन लोगों को भी चोरी नहीं करनी पड़े-वैसा प्रबंध कर देना।'

वंकचूल की स्मृति में गुरुदेव आ गये। गुरुदेव के उपकार को याद करते करते वंकचूल भावविभोर हो गया। 'गुरुदेव, आपने मुझे दुःखों से तो बचाया, सुख भी दिया.....।' उसका कृतज्ञ हृदय पुनः-पुनः गुरुदेव को याद करने लगा।

प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहा :

वंकचूल सेनापति बना, फिर भी अपनी प्रतिज्ञाओं का अविकल पालन करता है। उसकी धर्मश्रद्धा पुष्ट होती जाती है। एक दिन चौथी परीक्षा भी आ जाती है। युद्ध में विजय तो पायी वंकचूल ने, परन्तु उसका शरीर अनेक घावों से भर गया। वैद्यों ने उपचार करते हुए कहा : 'सेनापतिजी को कौए का मांस खिलाना होगा, तो ही घाव भरेंगे, अन्यथा जीवन को खतरा है।'

वंकचूल ने मना कर दिया। 'मौत आये तो भले आये, मैं मेरी प्रतिज्ञा का भंग नहीं करूँगा।' वंकचूल ने कौए का मांस नहीं खाया। उसकी मृत्यु हुई, परंतु समाधिपूर्वक मौत हुई। वह मर कर देवगति में गया।

हालाँकि वंकचूल के जीवन में कोई भी विशेष धर्मक्रिया देखने को नहीं मिलती है, परंतु अनेक सामान्य धर्म उसके जीवन में दिखायी देते हैं। यदि सामान्य धर्मों के साथ विशेष प्रकार की धर्म-आराधना होती उसके जीवन में, तो उसकी आत्मा कितनी श्रेष्ठ विशुद्धि प्राप्त कर लेती?

सामान्य धर्म ही असामान्य हैं :

सामान्य धर्मों का पालन करनेवाला सद्गृहस्थ अनिंदित सुख प्राप्त करता है। यानी सामान्य धर्मों के पालन से पुण्यानुबंधी पुण्य बंधता है, उस पुण्य के उदय से जो सुख मिलता है वह सुख अनिंदित होता है। ऐसा सुख मिलता है कि जिस सुख की कोई निन्दा नहीं करता है। कोई उस सुख की ईर्ष्या नहीं करता है।

ऐसा सुख होता है कि जिसमें मनुष्य आसक्त नहीं होता है। ऐसा सुख होता है कि मनुष्य में पापबुद्धि पैदा नहीं होती है।

ग्रंथकार ने 'अनिन्दित सुख' की प्राप्ति की बात बड़ी महत्त्वपूर्ण कही है। सामान्य धर्मों का पालन करने से गृहस्थ को अनिन्दित सुख की प्राप्ति होने की बात बड़ी महत्त्वपूर्ण है। अनिन्दित सुख कैसे होते हैं यह बात पहले बता दी है। इसलिए फिर से वह बात नहीं कहता हूँ। बुद्धिमत्ता इसी में है कि आप लोग सामान्य धर्मों का पालन दृढ़ता से करें।

बदली हुई समाज-व्यवस्था में, मैं जानता हूँ कि सामान्य धर्मों का पालन करना सरल नहीं है, फिर भी पालन करना अनिवार्य है। दृढ़ मनोबल से मुश्किल कार्य भी सरल बन जाता है। आप अपना मनोबल बढ़ाइये। मनोबल बढ़ाने के लिए दो उपाय अपना लें :

१. सत्समागम और २. स्वाध्याय।

सत्पुरुषों के समागम से आपका निर्बल मन बलवान् होगा। निःसत्त्व मन सत्त्वशील बनेगा। बात बात में भयभीत होनेवाला मन निर्भय बनेगा। सत्पुरुषों के समागम से जीवन-परिवर्तन करनेवाले ऐसे स्त्री-पुरुष हमने देखे हैं कि जिन्होंने-

- परनिंदा छोड़ दी, गुणानुवाद करनेवाले बने।
- दुर्जनों का संग छोड़ दिया, सज्जनों का संग करने लगे।
- पापस्थानों में जाना छोड़ दिया, धर्मस्थानों में जाने लगे।
- दुराचारों का त्याग कर दिया, सदाचारों का पालन करने लगे।
- माता-पिता के प्रति विनयपूर्वक व्यवहार करने लगे।

ऐसे अनेक परिवर्तन हमने देखे हैं। वैसे, अच्छे धर्मग्रंथों के स्वाध्याय से, अध्ययन से भी जीवन में सुधार होता है। मनोबल बढ़ता है न! सतत, नियमित स्वाध्याय करने से मन निर्मल होता है और बलवान् होता है।

गृहस्थ जीवन को मात्र अर्थ-काम का जीवन मत बनाओ। अर्थ-काम तो मात्र साधन हैं, उसका इस्तेमाल साधन के रूप में ही करना है। मुख्य तो धर्मपुरुषार्थ करना है। अनंत अनंत कर्मों से बंधी हुई आत्मा को बंधनों से मुक्त करने का पुरुषार्थ करना है। यदि अर्थपुरुषार्थ में और कामपुरुषार्थ में उलझ गये तो धर्मपुरुषार्थ नहीं कर पायेंगे, मनुष्य जीवन व्यर्थ चला जायेगा।

शान्त चित्त से सोचोगे तो ही यह बात मन में जँचेगी। चूँकि शान्त चित्त ही पारलौकिक दृष्टि से चिन्तन कर सकता है। शान्त चित्त ही आत्माभिमुख बन सकता है। थोड़े क्षणों के लिए चित्त को क्रोध-मान-माया और लोभ से मुक्त रखें, चित्त शान्त होगा और आप शुभ विचारधारा में बह सकोगे।

आज बस, इतना ही।

- मनुष्य जीवन सचमुच में दुर्लभ है। देव, नारक और तिर्यचों की सृष्टि के आगे मनुष्यों की संख्या काफी कम है...नगण्य है! उसमें अपना 'चाव्स' लग गया है तो उसका भरपूर फायदा उठा लेना चाहिए।
- हीरा जौहरी की नजरों में, पारखी की निगाहों में हीरा होता है। चरचाहे का बेटा तो उसे काँच का टुकड़ा समझकर खेलता रहेगा.... फेंक देगा।
- चिंतन का दीया जलाओ भीतर में! विचारों की ज्योत और स्वास्थ्य का घी डालते रहो दीये में। चिंतन चिरंतन रहे वैसी कोशिश करो।
- मौत बड़ा खौफनाक शब्द है, पर सत्य है...वास्तविकता है! मृत्यु के चिंतन ने कइयों के दिल में समझदारी के चिराग जला दिये!
- जलती चिता को देखकर भी चिंतन का दीया जल उठता है!
- जो करना है सो कर लो.... भो भरना है सो भर लो। क्या ठिकाना कल का? न जाने कल आये या नहीं भी आये?



परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरीश्वरजी, स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के प्रथम अध्याय का उपसंहार करते हुए फरमाते हैं :

दुर्लभं प्राप्य मानुष्यं विधेयं हितमात्मनः ।

करोत्यकांड एवेह मृत्युः सर्वं न किंचनः ॥२॥

दुर्लभ मनुष्य जीवन पाकर आत्मा का हित कर लेना चाहिए। कारण बताते हुए कहते हैं, मौत अचानक आ सकती है और जैसे जीवन में कुछ था ही नहीं.....वैसी स्थिति बन जाती है।

पहली बात उन्होंने मनुष्य जीवन की दुर्लभता की बतायी है। मनुष्य का जीवन, समग्र जीवसृष्टि की अपेक्षा से दुर्लभ है। दुर्लभता और सुलभता - दोनों सापेक्ष हैं। एक वस्तु दूसरी वस्तु की अपेक्षा से दुर्लभ कही जाती है, वही वस्तु दूसरी वस्तु की अपेक्षा से सुलभ कही जाती है। अपेक्षा का खयाल रखते हुए 'दुर्लभ' एवं 'सुलभ' का विचार करना चाहिए।

दुर्लभ और सुलभ का फेर :

ग्रंथकार आचार्यश्री ने मनुष्य जीवन को दुर्लभ बताया है, शेष तीन प्रकार के जीवन की अपेक्षा से। नरक गति के जीवों की अपेक्षा से, तिर्यच गति के जीवों की अपेक्षा से और देवगति के जीवों की अपेक्षा से। नरक में जन्म होना, तिर्यच (पशु-पक्षी) में जन्म होना या देवगति में जन्म होना सुलभ है। मनुष्य गति में जन्म होना दुर्लभ है। नरक में असंख्य जीवन होते हैं, तिर्यच गति में अनंत जीव होते हैं, देवगति में असंख्य जीव होते हैं, परन्तु मनुष्य गति में गिनती हो सके उतने ही जीव होते हैं। जो जीवन सबसे कम जीवों को मिलता है वह जीवन दुर्लभ कहा जाता है।

सभा में से : आजकल तो दुनिया में मनुष्यों की संख्या काफी बढ़ रही है, तो क्या मनुष्य जीवन सुलभ हो गया है?

महाराजश्री : कितनी भी संख्या बढ़ो मनुष्यों की; परन्तु देव, नारक और तिर्यचों की संख्या के जितनी कभी नहीं बढ़ेगी! आज जो कहा जाता है 'मनुष्यों की संख्या काफी बढ़ रही है,' वह भी अपेक्षा से कहा जाता है! दस वर्ष पूर्व जो संख्या थी, इससे आज संख्या बढ़ गई है। ऐसे तो बढ़ना-घटना चलता रहेगा। जब जब विश्वयुद्ध हुए लाखों मनुष्य मर गये, संख्या घट गई! अब यदि अणुयुद्ध हुआ तो करोड़ों मनुष्य मर सकते हैं, संख्या घट जायेगी! तीर्थंकर भगवंतों ने समग्रतया विश्वदर्शन करके मनुष्य जीवन की दुर्लभता बतायी है। उन्होंने अपने पूर्ण ज्ञान में देखा कि मनुष्य की संख्या कितनी भी बढ़ेगी, परन्तु शेष तीन गति के जीवों की अपेक्षा से कम ही रहेगी।

ज्ञानीपुरुष तो मनुष्य जीवन की दुर्लभता बताते ही हैं, परन्तु जब मनुष्य समझें कि 'मेरा जीवन दुर्लभ है, मुझे दुर्लभ जीवन की प्राप्ति हुई है,' तब उसके लिए मनुष्य जीवन महत्त्व रखता है। मनुष्य के पास मूल्यवान् दुर्लभ रत्न है, परन्तु वह नहीं जानता कि 'मेरे पास दुर्लभ रत्न है,' तो उसके लिए रत्न कोई महत्त्व का नहीं रहता। उसके लिए वह रत्न काँच का टुकड़ा ही है!

आपकी कीमत है कहाँ?

मनुष्य जीवन की दुर्लभता को जो मनुष्य नहीं समझता है वह मनुष्य, जीवन का सदुपयोग नहीं कर सकेगा। जीवन का दुरुपयोग ही करेगा। चूँकि मनुष्य का ऐसा स्वभाव है कि जिस वस्तु को वह मूल्यवान् समझता है, दुर्लभ समझता है, उस वस्तु की वह ज्यादा हिफाजत करता है। उस वस्तु का दुरुपयोग नहीं करता है। यदि कोई उस वस्तु का दुरुपयोग करता है, बिगाड़ता है, तो उसको दुःख होता है। आप लोगों को जीवन की क्षणों का दुरुपयोग होने पर दुःख होता है क्या? यदि होता है तो समझना कि आप मनुष्य जीवन को दुर्लभ मानते हो।

स्वर्ण-रस तो कीमती लगता है....

मान लो कि आप गिरनार की यात्रा करने गये। गिरनार के पहाड़ पर जाकर भगवान नेमिनाथ का दर्शन-पूजन किया, बड़ा उल्लास आया। पहाड़ उतरते हो, रास्ते में कोई गुफा दिखायी दी। गुफा देखने के लिए भीतर गये। वहाँ एक योगी-सिद्धपुरुष बैठे हैं। आपने उनको नम्रता से, भक्तिभाव से नमन किया, उनकी सेवा की। उस सिद्धपुरुष ने आप पर प्रसन्न होकर, एक कमंडलु स्वर्ण-रस दिया और कहा : 'बेटे, इस स्वर्ण-रस के एक बिन्दु से एक किलो लोहा सोना बन सकता है। इसलिए सम्हाल कर इस कमंडलु को घर ले जाना!' कहिए, आप उस स्वर्ण-रस को कैसा मानोगे? दुर्लभ या सुलभ?

सभा में से : दुर्लभ ही नहीं, अति दुर्लभ!

महाराजश्री : और उस कमंडलु को कितनी सावधानी से घर ले आयेंगे? एक बिन्दु भी रास्ते में गिर न जाय, इसलिए कितने सतर्क रहेंगे? और मान लो कि रास्ते में दो-चार बिन्दु गिर गये तो कितना दुःख होगा?

सभा में से : पूछो ही मत.... हम लोग पागल हो जायें!

महाराजश्री : दुर्लभ वस्तु का नुकसान, मनुष्य को पागल भी बना सकता है, आश्चर्य की बात नहीं है। आश्चर्य तो इस बात का मुझे हो रहा है कि, मनुष्य जीवन जैसे दुर्लभ जीवन का घोर नुकसान होने पर भी आप लोग पागल नहीं हो रहे हो! आप लोगों को यह जीवन दुर्लभ लगा है क्या? मनुष्य जीवन का एक-एक क्षण, स्वर्ण-रस के एक-एक बूंद से भी अनन्तगुण मूल्यवान् है, यह बात सदैव याद रखें। स्वर्ण-रस की एक बूंद एक किलो सोना बनाती होगी, मनुष्य जीवन का एक क्षण असंख्य वर्ष का देव-आयुष्य निर्माण कर सकता है। आपके जीवन के एक-एक क्षण को शुभ विचार में, शुद्ध ध्यान में जोड़ दें, अनन्त पुण्यकर्म का निर्माण होगा, अनन्त पापकर्मों का नाश होगा।

हरिभद्रसूरिजी जैसे तार्किक और तीव्र प्रज्ञावाले महापुरुष मनुष्य जीवन को दुर्लभ कह रहे हैं, यह बात मत भूलना।

देखें, पर ज्ञानदृष्टि से :

आप लोग जब अनेक दुःखों से उत्पीड़ित, अनेक व्यथाओं से व्यथित, अनेक त्रासों से संत्रस्त मनुष्यों को देखते हो तब आपको मानव जीवन व्यर्थ लगता होगा? जब आप स्वयं घोर दुःखों से घिर जाते हैं तब आपको मानव जीवन असार लगता होगा? कभी इस जीवन का अंत ला देने का विचार आया होगा? चूँकि आप लोग ज्ञानदृष्टि से सोच नहीं सकते हैं। पूर्ण ज्ञानी महापुरुषों ने जो ज्ञानदृष्टि दी है, धर्मग्रंथों में एवं महापुरुषों के चरित्रग्रंथों में

जो ज्ञानदृष्टि हमें प्राप्त होती है, उस ज्ञानदृष्टि से यदि आप इस मनुष्य जीवन के प्रति देखोगे, तो किसी भी स्थिति में आपको यह जीवन निःसार नहीं लगेगा। जीवन जीने जैसा लगेगा। जीवन का एक-एक क्षण ज्ञानानन्द से भरपूर जीने की चाह पैदा होगी।

इस जीवन को यदि दुर्लभ समझकर, जीवन में सामान्य धर्मों का पालन नहीं किया, तो फिर से मनुष्य जीवन कब मिलेगा, ज्ञानी जानें! आठ-दस भवों में तो मिलना मुश्किल लगता है। दुर्लभ वस्तु बार-बार नहीं मिलती है। बार-बार मिले तो वह दुर्लभ नहीं! वह सुलभ कही जायेगी। मनुष्य जीवन बार-बार नहीं मिलता है। मिल गया है पुण्यकर्म के उदय से, तो इस जीवन में आत्महित कर लेना है।

हाँ, आत्मा का हित करना है। चूँकि मनुष्य जीवन में ही आत्मा का हित किया जा सकता है। आत्मतत्त्व की पहचान भी तो इस जीवन में की जाती है न? कोई कुत्ते, चूहे या हाथी-घोड़े आत्मतत्त्व की पहचान थोड़ी करते हैं!! मनुष्य आत्मतत्त्व की पहचान कर सकता है। आत्मस्वरूप को जान सकता है। आत्मा की अशुद्धि को दूर करने का पुरुषार्थ कर सकता है। इस पुरुषार्थ का प्रारंभ होता है सामान्य धर्मों के पालन से। गृहस्थ जीवन के सामान्य धर्मों का पालन, धर्मपुरुषार्थ का प्रथम चरण है। आत्महित करने के लिए सामान्य धर्मों का पालन करना अनिवार्य बताते हैं।

सोचो, यह सब क्यों हो रहा है? :

मनुष्य जीवन जब दुर्लभ समझोगे तब आत्मा की ओर देखने की दिव्यदृष्टि प्राप्त होगी। अशुद्ध आत्मा को देखकर उसको शुद्ध करने का विचार आयेगा। 'शुद्धि का उपाय धर्म है,' यह बात सच लगेगी। 'धर्म का प्रारंभ सामान्य धर्मों से करना होता है' - यह कथन आपको युक्तियुक्त लगेगा। फिर भी यदि आपका मन सामान्य धर्मों का पालन करने के लिए उल्लसित नहीं होता है तो विचार करना कि क्यों उल्लसित नहीं होता है।

- क्या स्वजनों के मोह से मन मोहित है?
- क्या परिजनों की माया लगी है?
- क्या वैभव-संपत्ति का तीव्र अनुराग है?
- क्या शारीरिक सुखों की तीव्र स्पृहा है?

यदि ये कारण हैं तो आप सामान्य धर्मों का पालन नहीं कर सकोगे। स्वजन-परिजन-संपत्ति और शरीर का लगाव सामान्य धर्मों का पालन नहीं करने देगा।

○ न्याय-नीति से धन क्यों नहीं कमाते हो? चूँकि संपत्ति से लगाव है। 'न्याय-नीति से तो धन कम मिलता है,' ऐसी धारणा बन गई है और आपको चाहिए विपुल संपत्ति!

○ अभक्ष्य क्यों खाते हो? कभी भूख से भी ज्यादा खाते हो न? क्यों? शरीर के सुख के लिए। रसनेन्द्रिय की परवशता की वजह से।

○ व्यसनी, क्रूर और दुर्जनों से यदि मित्रता रखते हो-क्यों रखते हो? चूँकि उनसे लगाव हो गया है। 'ये तो मेरे खास परिजन हैं, इनको तो किसी हालत में नहीं छोड़ूँगा।'

○ धन की मूर्च्छावाले लोग दयावान् नहीं होते। पैसे के लिए तो वे लोग किसी की हिंसा भी कर देते हैं।

○ स्वजनों के मोह से मोहित मनुष्य, परमार्थ-परोपकार के कार्य नहीं कर सकता है। रंग-राग और भोगविलास में ही उसका समय व्यतीत होता है। स्वजनों का समागम नहीं होता है। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है।

मौत का क्या भरोसा है? :

ग्रंथकार आचार्यदेव कहते हैं - अचानक मौत आयेगी, तब यह सब... स्वजन-परिजन, वैभव-संपत्ति और मदमस्त शरीर यहीं पड़ा रह जायेगा... आत्मा अकेली ही चली जायेगी। जैसे 'कुछ था ही नहीं' वैसी स्थिति बन जायेगी। मृत्यु को सर्वहारा बताकर, आचार्यदेव स्वजन आदि से लगाव नहीं रखने की प्रेरणा देते हैं।

मौत सब कुछ छीन लेती है। स्वजनों को, परिजनों को, वैभव को और शरीर को...सब छीन लेती है। मौत को कोई रोक सकता नहीं है। इस बात को ग्रंथकार ने उपसंहार के तीसरे श्लोक में कहा है -

सत्येतस्मिन्नसारामु संपत्स्वविहिताग्रहः ।

पर्यंतदारुणासूच्यैर्धर्मः कार्यो महात्मभिः ॥३॥

सभी प्रकार की संपत्ति असार है, यानी मृत्यु को रोकने में असमर्थ है, अशक्त है, एवं परिणामस्वरूप वह संपत्ति अनेक दुःख देनेवाली है, इसलिए ऐसी संपत्ति में आसक्ति-आग्रह रखे बिना मनुष्यों को धर्म का पालन करना चाहिए।

लंकापति रावण के पास कितनी संपत्ति थी? कौन-सी संपत्ति उसके पास नहीं थी? विशाल साम्राज्य का वह अधिपति था। एक हजार विद्याशक्तियाँ उसके पास थीं। हजारों रूपवती रानियों का अन्तःपुर था। अनेक पुत्र थे, भाई थे, बहनें थीं। सुंदर और बलवान् शरीर था। हजारों आज्ञांकित राजा थे।

परन्तु ज्यों उसकी मौत हुई, सब कुछ यहाँ पड़ा रहा.... उसकी आत्मा नरक में चली गई।

महाकवि उपाध्याय श्री विनयविजयजी ने कहा है :

कहा करूँ मंदिर? कहा करूँ दमरा?

न जानूँ कहाँ उड़ बैठेगा भंवरा...?

जोड़ी जोड़ी गये छोड़ी दुमाला,

उड़ गया पंछी पड़ा रहा माला....

यहाँ मंदिर का अर्थ है मकान और दमरा का अर्थ है पैसा। कवि कहते हैं : क्या करूँ मकान और क्या करूँ पैसा? सब छोड़कर आत्मा, क्या पता कहाँ चली जायेगी? मैं देखता हूँ प्रत्यक्ष कि अज्ञानी लोग बड़े-बड़े मकान बनाते हैं... काफी धन इकट्ठा करते हैं और यह सब यूँ का यूँ छोड़कर चल बसते हैं। जैसे पंछी माला बना कर, माला-घौंसला छोड़कर उड़ जाता है।

संवेदना को मरने मत दो :

ग्रंथकार ने मृत्यु का विचार दे कर, मनुष्य को दिव्य दृष्टि दी है। मृत्यु का विचार, कौन-सी आसक्ति को मंद नहीं करता है? हाँ, एक बात है - विचार करनेवाला मनुष्य संवेदनशील होना चाहिए। संवेदनशील मनुष्य को ही मृत्यु का विचार हिला सकता है। शरीर, संपत्ति वगैरह की असारता का भान करवा सकता है। आसक्ति के बंधन को तोड़ सकता है। जो मनुष्य संवेदनाशून्य होता है, उसको मृत्यु का विचार कोई असर नहीं करता है। उसको यदि कोई मौत की याद दिलायेगा तो कहेगा : 'एक दिन मरना तो है ही, जब तक जीवन है तब तक मौज-मजा कर लेना है!' यदि पुनर्जन्म को नहीं मानता होगा तो कहेगा : 'यहाँ इतना सारा भोगसुख मिला है तो भोग लेना चाहिए। परलोक किसने देखा है? मृत्यु तो आनेवाली है ही..... मैं मृत्यु से डरता नहीं हूँ।'

संवेदनाशून्य और बुद्धिहीन मनुष्यों को यह बात पसंद नहीं आयेगी। हालाँकि, उन लोगों के लिए ये बातें हैं भी नहीं। हाँ, कभी-कभार ऐसा देखा जाता है कि कल जो संवेदनाशून्य था, बुद्धिहीन था वह आज संवेदनशील है, बुद्धिमान है! ऐसा बनता है कोई निमित्त से अथवा कर्मों के क्षयोपशम से। निमित्तों का प्रभाव असाधारण होता है। निमित्त को पाकर डाकू साधु बन गये हैं और निमित्त को पाकर साधु संसारी भी बन गये हैं। निमित्त को पाकर घोर नास्तिक आस्तिक बने हैं और निमित्त पाकर निर्धन श्रीमन्त बने हैं। कभी भी मृत्यु पर मनन नहीं

करनेवाला मनुष्य निमित्त को पाकर मृत्यु पर गहरा चिंतन करने लगा है और परमात्मा के अस्तित्व को मानने लगा है। अभी-अभी एक घटना पढ़ी। हालाँकि विदेश की-अमरीका की घटना है। नाम बदलकर घटना सुनाता हूँ।

परमात्मा कहाँ है? खोजा है कभी?

जिमी और टोम दोस्त थे। जिमी परमात्मा में श्रद्धा रखनेवाला था, टोम परमात्मा को नहीं मानता था। एक बार जिमी ने टोम से पूछा : 'टोम, तू परमात्मा को क्यों नहीं मानता है?' टोम ने कहा : 'परमात्मा कहाँ है? परमात्मा क्या है? मैं नहीं मानता.....।' तब से जिमी ने कभी भी टोम को परमात्मा के विषय में कुछ नहीं कहा। दोनों कॉलेज में साथ-साथ पढ़ते थे।

कुछ दिनों से टोम कॉलेज में नहीं आया तो जिमी टोम के घर चला गया। देखा तो टोम का स्वास्थ्य गिर गया था। जिमी टोम से लिपट गया। 'क्या हो गया टोम?' टोम ने कहा : 'डॉक्टर ने बताया कि मुझे कैंसर हो गया है जिमी।' जिमी जैसे स्तब्ध हो गया। फटी-फटी आँखों से टोम को देखता रहा....। धीरे-धीरे उसकी आँखें बंद हुईं। उसके मुँह से शब्द निकले : 'हे भगवान्, टोम को शान्ति देना..... शान्ति देना.....।' बाद में दोनों दोस्तों ने इधर-उधर की बातों की और जिमी अपने घर चला गया।

टोम को अब जिमी के शब्द याद आने लगे : 'टोम, तू परमात्मा को क्यों नहीं मानता है?' उसके मन में मंथन शुरू हो गया। कभी-कभी माँ के आग्रह से चर्च में जाता था, उस समय धर्मगुरु बाइबल के वचन सुनाते थे....उन वचनों में से एक वचन उसको याद आया : 'भगवान् और कोई नहीं है, प्रेम वही भगवान् है।' टोम ने सोचा : प्रेम ही भगवान् है, तो मुझे सबसे प्रेम करना चाहिए। 'मेरी माँ मुझसे प्रेम करती है, मेरे पिता भी मुझसे प्रेम करते हैं.... मेरे भाई, मेरी बहन..... सब मुझसे प्रेम करते हैं; परंतु मैंने किसी से प्रेम नहीं किया, सिवा जिमी। मैंने मेरे साथ पढ़नेवालों के साथ भी प्रेम नहीं किया। और..... अब तो मुझे जाना है। डॉक्टर पिताजी से कहते थे : 'कैंसर का कोई इलाज नहीं है। मृत्यु मेरे सामने है। मृत्यु से पहले मैं सबसे प्रेम कर लूँ, तो परमात्मा खुश होंगे... मेरे सारे अपराधों को माफ कर देंगे।'।

प्रभात का समय था। टोम के पिताजी अखबार पढ़ रहे थे। टोम उनके पास पहुँचा। उसने कहा : 'पिताजी, मुझे आपसे बात करनी है।' पिताजी ने टोम के सामने देखा। 'कहो टोम, क्या कहना है?' 'पिताजी मुझे महत्त्व की बात कहनी है, टोम अपने पिताजी से सट करके खड़ा रहा। 'कहो बेटे, क्या कहना है?'

My dear Father, I love you! पिताजी, मैं आपसे प्रेम करता हूँ।' पिता ने अखबार को दूर पटक दिया, वे खड़े हो गये और टोम को अपनी छाती से लगा लिया। टोम के पिता ने टोम से पहली बार ही ऐसे शब्द सुने थे। टोम के मुँह पर अपूर्व शान्ति छा गई।

उसी दिन जिमी उसको मिलने के लिए आया। टोम जिमी को देखते ही उससे लिपट गया। Jimmi, I believe in God! Love is God! जिमी, मैं परमात्मा को मानता हूँ। जिमी, प्रेम ही परमात्मा है न? मैं सबसे प्रेम करता हूँ। सचमुच जिमी, प्रेम महान् है। आज मैं कितना खुश हूँ? चूँकि आज मैंने पिताजी से प्रेम किया! माँ से प्रेम किया, घर में सबसे प्रेम किया.... सब ने मुझे हृदय से प्रेम दिया! जिमी, तू अपनी क्लास में सभी विद्यार्थियों को कहना कि : 'टोम तुम सबसे प्रेम करता है। कहोगे न जिमी? अब मैं तो घर से बाहर भी नहीं निकल सकता हूँ.....।' जिमी ने टोम के दोनों हाथों को अपने हाथों में लेकर कहा : 'टोम, मैं अवश्य उन सभी को कह दूँगा - टोम तुम सबसे प्रेम करता है....।''

पीड़ा परमात्मा के निकट ले जाती है :

कैन्सर का रोग टोम के लिए निमित्त बन गया आस्तिक बनने में। निमित्त ने उसके हृदय को मैत्रीभावना से भर दिया। उसके हृदय में किसी के भी प्रति द्वेष नहीं रहा। मृत्यु के बोध ने टोम को संवेदनशील बना दिया। उसके बंद हृदयद्वार खुल गये और उसमें परमात्मा का प्रवेश हो गया। भले, कैन्सर की व्याधि ने उसके प्राण ले लिए परंतु टोम की आत्मा शान्ति लेकर, मैत्रीभाव लेकर परलोक में गई।

ग्रंथकार आचार्यदेव कहते हैं कि संसार की सभी प्रकार की संपत्ति को असार मानो, दुःखदायी मानो। ऐसा मानकर संपत्ति का ममत्व तोड़ो। ममत्व टूटेगा तो ही धर्म-सामान्य धर्म की आराधना हो सकेगी। ममत्व टूटता है मृत्यु के चिंतन से।

ईरान का बादशाह 'झर्कसीस' यूनान पर विजय करने के लिए २,३०,००,००० की सेना लेकर चला। रास्ते में एक पहाड़ पर चढ़कर बादशाह ने अपनी विराट सेना का अवलोकन किया। उसके मन में विचार आया : 'सौ वर्ष के बाद इन दो करोड़ तीस लाख की सेना में से एक भी सैनिक नहीं होगा। मौत सबको निगल जायेगी.... तो फिर यह युद्ध किसलिए?' उसकी आँखें गीली हो गई, राज्य के प्रति वैराग्य पैदा हो गया। वह वापस ईरान चला गया।

मृत्यु के चिंतन ने जीवों का भीषण हत्याकांड रोक दिया, बादशाह के हृदय में विरक्ति पैदा कर दी।

मौत का चिंतन चिरंतन है :

मृत्यु के विषय में प्रायः सभी धर्मों ने विशिष्ट दृष्टि दी है और दुन्यवी पदार्थों की आसक्ति से मुक्त होने का उपदेश दिया है। जैन, बौद्ध और वैदिक धर्मों ने तो मृत्यु के विषय में बहुत कुछ कहा है। इस्लाम, जरथोस्ती और सूफी सम्प्रदायों में भी मृत्यु के विषय में हृदय-स्पर्शी बातें कही गई हैं।

सामान्य धर्मों का पालन सुचारु रूप से तभी हो सकता है, जब मनुष्य ममत्वभाव से मुक्त हो। ममत्व से मुक्त होने के अनेक उपाय हैं। उन उपायों में से ग्रंथकार महर्षि ने 'मृत्युबोध' यहाँ बताया है।

कुछ लोग मृत्यु से निर्भय बनने के लिए, निश्चित बनने के लिए, यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि मृत्यु कब आयेगी? ज्योतिषशास्त्र का सहारा लेकर अथवा दिव्य शक्तियों का सहारा लेकर वे यह प्रयत्न करते हैं। परन्तु यह प्रयत्न प्रायः सफल नहीं होता है। चूँकि वर्तमानकाल में अपना आयुष्य 'सोपक्रम' है। यानी कोई भी धक्का लगने पर सौ वर्ष का आयुष्य बीस वर्ष में पूरा हो सकता है। जैसे प्रतिदिन एक-एक रुपया खर्च करनेवाले का १०० रुपया १०० दिन तक चलता है, परन्तु यदि वह रोजाना १०-१० रुपया खर्च करता है तो दस दिनों में ही १०० रुपये पूरे हो सकते हैं। आयुष्य के विषय में भी ऐसी ही बात है। इसलिए जीवन अनिश्चित है और मृत्यु भी अनिश्चित है। कभी भी आयुष्य पूरा हो सकता है, मौत आ सकती है।

सभा में से : आयुष्य का व्यय कैसे होता है?

महाराजश्री : आयुष्य का व्यय श्वासोच्छ्वास लेने-छोड़ने से होता है। यदि जीवात्मा ज्यादा श्वासोच्छ्वास लेता है तो आयुष्य का व्यय ज्यादा होता है, यदि जीवात्मा श्वासोच्छ्वास कम लेता है तो आयुष्य का व्यय कम होता है। इसलिए ऐसी शारीरिक और वाचिक क्रियाएँ नहीं करनी चाहिए कि जिसमें श्वासोच्छ्वास ज्यादा लेना पड़े। इस दृष्टि से आयुष्य अनिश्चित है। मृत्यु अनिश्चित है। ये दोनों अनिश्चित होने से जीवन अनिश्चित है। कभी भी जीवन समाप्त हो सकता है। इसलिए जब तक जीवन है तब तक आत्मकल्याण कर लेना चाहिए। आयुष्य का भरोसा नहीं करना चाहिए। एक क्षण का भी भरोसा नहीं करना चाहिए। जो कोई अच्छा काम करना हो, आज ही कर लो,

इसी क्षण, हो सके तो इसी क्षण कर लो। एक-एक क्षण का मूल्य समझो।

रोजाना चिंतन करना है :

सुख-दुःख के विचारों में उलझे बिना, शुभ-अशुभ का चिंतन करें। शुभ का आदर करें, शुभ का पालन करें, शुभ का विचार करते रहें। अशुभ को त्याज्य समझें, अशुभ का अनादर करें। कभी अशुभ का सेवन करना पड़े तो भीतर से जाग्रत रहें। अशुभ को उपादेय (करने योग्य) मानने की गलती कभी नहीं करें।

○ प्रतिदिन 'यह मनुष्य जीवन दुर्लभ है,' यह बात याद करें।

○ 'मन-वचन-काया के अशुभ योगों से मुझे इस जीवन को बचाना है,' इस विषय में जाग्रत रहें।

○ 'इस जीवन के एक-एक क्षण को मुझे धर्ममय बनाना है,' इस संकल्प को प्रतिदिन दोहराते रहें।

○ 'संपत्ति असार है, दुनिया के संबंध क्षणिक हैं, शरीर रोगों से भरा हुआ है इसलिए इन सबके साथ मुझे निर्लेप भाव से जीना है,' इस बात को प्रतिदिन याद करते रहें।

○ 'मुझे ऐसा आत्मकल्याण कर लेना है कि मृत्यु मेरे लिए महोत्सव बन जाय।' इस भावना से रोजाना भावित बनते रहें।

ग्रंथकार आचार्यभगवंत 'धर्मबिंदु' ग्रन्थ के प्रथम अध्याय का उपसंहार कर रहे हैं। उपसंहार महत्त्वपूर्ण होता है। उपसंहार में सारभूत बातें कही जाती हैं।

गृहस्थ जीवन में सामान्य धर्मों का पालन करते हुए आत्मकल्याण करने की बात ग्रंथकार ने कही है। करुणाभरपूर हृदय से उन्होंने यह बात कही है। निःस्वार्थ भावना से यह बात कही है। आप लोग गंभीरता से सोचना इन बातों पर। निःस्वार्थ करुणावंत ज्ञानीपुरुषों की प्रेरणा ग्रहण करने से परम शान्ति का सही मार्ग मिलता है।

आज तो ग्रंथकार का उपसंहार बताया, कल मुझे इस चातुर्मासिक प्रवचनमाला का उपसंहार करना होगा।

आज बस, इतना ही।



- 'धर्मबिन्दु' जैसे तो पूरा ग्रंथ ही जीवन-उपयोगी मार्गदर्शन के लिए ही है....इसमें भी इसका पहला अध्याय तो गृहस्थ जीवन के लिए मार्गदर्शन-गाइड का काम करता है।
- हालाँकि 'धर्मबिन्दु' की बातों को लेकर सोचें तो आज के समाज की स्थिति इससे बिल्कुल विपरीत नजर आयेगी। अनेक कारण हैं इसके, पर सबसे महत्त्वपूर्ण कारण है : व्यवहार धर्म की अक्षम्य उपेक्षा!
- कुछ लोग ऐसे भी हैं इस दुनिया में जो भगवान का उपकार कभी नहीं मानते... बस अपनी डफली लेकर अपना राग आलापते रहते हैं!
- एकाग्रता, तल्लीनता, धर्मश्रवण एवं चिंतन के लिए अनिवार्य गुण है।
- परमात्मा के दर्शन करें... सम्यक् दर्शन करें... वह दर्शन दिल में शरणागति का भाव पैदा करेगा।
- अपने को तो अपना फर्ज अदा करना है... कोई माने या ना माने! परमात्मा की आज्ञा है अपने पास आनेवालों को समुचित मार्गदर्शन देना। मैंने तो उसी आज्ञा को सर पर रखते हुए ये सारे प्रवचन दिये हैं!



परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरीश्वरजी ने अपने जीवनकाल में १४४४ ग्रंथों की रचना की थी। अपना समग्र जीवन उन्होंने ज्ञानोपासना में ही बिता दिया था। उनका एक-एक ग्रंथ जिनवचनों को विशद और सुबोध करनेवाला है।

आप चार महीने से जिस ग्रंथ पर प्रवचन सुन रहे हो, वह 'धर्मबिन्दु' ग्रंथ कितना रोचक, बोधक और मर्मस्पर्शी है, यह आप समझे होंगे। हालाँकि चातुर्मास में केवल पहले अध्याय पर ही विवेचन कर पाया हूँ। शेष अध्यायों पर विवेचन करने की मेरी भावना है, परन्तु क्या पता वह भावना कब और कहाँ फलवती होगी। यह प्रथम अध्याय सचमुच गृहस्थ जीवन की 'गाइड-लाइन' है। गृहस्थ जीवन की एक-एक बात को लेकर ग्रंथकार ने समुचित

मार्गदर्शन दिया है। आज के विषम युग में तो इस ग्रंथ की उपादेयता काफी बढ़ गई है।

समय कैसा नाजुक है :

कितना विषमकाल है अभी का। न्याय-नीति से धन कमाने की बात हवा बनकर उड़ गई है। मनुष्य असंख्य गलत मार्गों से धन कमाने का पुरुषार्थ कर रहा है। हिंसा-भरपूर व्यवसाय करने में वह हिचकता नहीं है, असत्य बोलना मामूली बात हो गई है। चोरी तो देशव्यापी-विश्वव्यापी हो गई है। 'परिग्रह पाप है,' यह बात संपूर्णतया भुला दी गई है। श्रीमंत बनने के लिए, वैभवशाली बनने के लिए मनुष्य देशद्रोह भी करता है, राष्ट्र को नुकसान पहुँचानेवाले धंधे भी करता है।

विवाह-शादी में कोई औचित्य देखा नहीं जाता है। अन्तरजातीय और अन्तरराष्ट्रीय विवाह होने लगे हैं। परिणाम कितना दुःखदायी आया है - यह बात आप भलीभाँति जानते हो। पारिवारिक क्लेश, झगड़े, मनमुटाव बढ़ते जा रहे हैं। दुराचार-व्यभिचार का प्रमाण बहुत बढ़ गया है। सदाचारों के पालन के प्रति घोर उपेक्षा हो रही है। सदाचारी पुरुषों का अवमूल्यन हुआ है। इससे समाजों में द्वेष, ईर्ष्या और निंदा फैल रही है। सामाजिक वातावरण विषैला बन गया है। छोटे-बड़े की मर्यादाओं का पालन नहीं हो रहा है। सभी क्षेत्रों में मर्यादाओं का उल्लंघन हो रहा है।

ऐसी विषम परिस्थिति में 'धर्मबिंदु' ग्रन्थ कितना महत्त्व रखता है, यह कोई समझने की बात है? दिशाशून्य बनकर भटक रहे जीवों को 'धर्मबिंदु' का यह प्रथम अध्याय दिशा बताता है सुखी जीवन की, शान्तिमय जीवन की। आप लोगों में से अनेकों ने अनुभव किया होगा इस चातुर्मास में कि इस प्रथम अध्याय के प्रवचन सुनने से कितनी शान्ति मिली और कैसी नयी जीवनदृष्टि मिली।

जिनशासन के ज्ञानी पुरुषों ने संघ के लिए कैसी उत्तम परंपरा स्थापित की है! चातुर्मास में जहाँ-जहाँ भी साधुपुरुष स्थिरता करते हैं वहाँ प्रतिदिन धर्मग्रन्थ पर प्रवचन होता रहता है। वह धर्मग्रन्थ चाहे 'आगम' हो या सुविहित आचार्यविरचित ग्रन्थ हो। उस 'आगम' अथवा ग्रन्थ का अर्थ, भावार्थ और विवेचन किया जाता है। व्याख्यान करनेवाले अपने-अपने क्षयोपशम के अनुसार विवेचन करते हैं। आगम की बातों को समझाने के लिए अनेक तर्क दिये जाते

हैं, अनेक उदाहरण-कथाएँ कही जाती हैं। इससे आगम की या ग्रन्थ की बातें सुननेवाले सरलता से समझ सकते हैं।

प्रतिदिन इस प्रकार धर्मश्रवण करना चाहिए। रोजाना ज्ञानीपुरुषों का संयोग नहीं मिलता हो तो जब-जब संयोग मिले तब-तब धर्मश्रवण करना चाहिए। 'मुझे धर्मतत्त्वों को जानना है और जीवन को धर्ममय बनाना है,' इस भावना से सुनना है।

सभा में से : हम इसी भावना से आते हैं न!

महाराजश्री : आते होंगे! सभी इसी भावना से आते हैं, ऐसा मत मानना। एक पुरानी कहानी है। संत तुलसीदास के जमाने की कहानी है। तुलसीदासजी ने रामायण लिखी है। काव्यात्मक रामायण है। 'रामचरितमानस' के नाम से प्रसिद्ध है। तुलसीदासजी स्वयं उस रामायण का पारायण करते थे। अलग-अलग गाँव के लोग तुलसीदासजी को निमंत्रण देते, अपने गाँव ले जाते और रामायण का पारायण करवाते।

नाक बड़ी कि नथनी बड़ी? :

एक गाँव में एक ही घर था वणिक का। छोटी-सी दुकान थी और पति-पत्नी आनंद से जीते थे। उस गाँव में एक दिन तुलसीदासजी आये और रामायण का पारायण किया। छोटे गाँव में ऐसे प्रसंग पर सभी लोग सुनने के लिये इकट्ठा होते हैं। रात्रि का समय होने से सभी लोगों को समय की अनुकूलता रहती है। दिन में तो गाँवों के लोग अपने खेतों में चले जाते हैं या मजदूरी करने जाते हैं।

तुलसीदासजी की कथा कहने की शैली भी बढ़िया थी। कथा सुनकर सभी लोग बहुत खुश हुए। सेठ-सेठानी भी कथा सुनने गये थे। सेठानी ने घर आकर सेठ से कहा : 'मेरी इच्छा है कि अपन भी तुलसीदासजी को अपने घर निमंत्रण देकर बुलायें और कथा करवायें। आपकी क्या राय है?' सेठ ने कहा : 'पैसा कुछ इकट्ठा होने पर सोचेंगे।'

परंतु जब कुछ रुपये इकट्ठे हुए, सेठ शहर में जाकर सेठानी के लिए नथनी खरीदकर लाये। पूरे ७०० रुपये की नथनी थी। सेठानी खुश हो गई। उस जमाने में, करीबन पाँचसौ वर्ष पूर्व ७०० की राशि बड़ी राशि मानी जाती थी।

नाक में नथनी पहनकर उसने काँच में देखा। बड़ी खुश हुई। अब उसके मन में आया कि आसपास की महिलाएँ भी मेरी नथनी देखें। वह एक-एक घर जाने लगी और नथनी बताने लगी। महिलाएँ प्रशंसा करने लगीं। सेठानी सबको एक ही बात करती : 'मेरी इच्छा तो घर पर तुलसीदासजी को बुलाकर कथा कराने की थी, परंतु सेठजी को मेरे प्रति इतना मोह कि ७०० रुपये की नथनी खरीदकर लाये! ७०० रुपये में तो कितनी अच्छी कथा हो जाती....! आसपास की औरतों ने जब नथनी देख ली तब गाँव की दूसरी औरतों को बताने लगी। प्रशंसा सुन-सुनकर खुश होने लगी। मनुष्य को अपनी प्रशंसा सुनने में मजा आता है।

उन दिनों में फिर से तुलसीदासजी उस गाँव में पधारे। जिसके घर कथा का आयोजन था उसके घर पर, सेठानी एक घंटा पहले पहुँच गई। कथा का समय हुआ, गाँव की औरतें आने लगीं। सेठानी ध्यान रखती है कि किस महिला ने उसकी नथनी नहीं देखी है। जिसने नहीं देखी थी उसका हाथ पकड़कर अपने पास बिठाती है और नथनी बताती है। उसका मन कथा सुनने में नहीं है, नथनी बताने में है!

कथा शुरू हुई और पूर्ण भी हो गई। प्रसाद ले-लेकर सभी जाने लगे। सब चले गये, सेठानी बैठी रही। तुलसीदासजी ने सोचा : 'इस महिला को मुझसे कुछ पूछना होगा।' उन्होंने कहा : 'बहिन, तू क्यों बैठी है? क्या काम है?'

सेठानी ने कहा : 'महाराज, जो आपसे कथा करवाता है वह धन्य बन जाता है। पुण्यशाली ही ऐसा लाभ पाता है। मेरी इच्छा भी कथा करवाने की थी। मैंने सेठ को बोला भी था कि कुछ रुपये इकट्ठे हो जायें तो अपन भी तुलसीदासजी को घर बुलाकर कथा करवायें.... परन्तु उनको तो मुझ पर इतना मोह है कि बाजार से ७०० रुपये की यह नथनी ले आये....!' कहकर नाक में से नथनी निकालकर तुलसीदासजी को बताने लगी। तुलसीदासजी हँसने लगे। वे समझ गये कि सेठानी क्यों बैठी रही है। उन्होंने सेठानी को कहा :

**नथनी दी जिस यार ने समरत बारंबार,
नाक दियो जिस नाथ ने भूल गई गंवार!**

'ओ पगली औरत, जिस तेरे पति ने तुझे नथनी दी है उसको बार-बार याद करती है और जिस नाथ ने, भगवान ने तुझे सुन्दर नाक दी है, उसको भूल गई है!'

सेठानी चुपचाप वहाँ से खड़ी हो गई और मुँह लटकाये वहाँ से चली गई। कहिए, वह सेठानी कथा सुनने आयी थी?

सभा में से : नहीं जी, वह तो नथनी बताने आयी थी!

महाराजश्री : वैसे यहाँ पर कोई अपने सुन्दर वस्त्र बताने भी आते होंगे? कोई अपने मूल्यवान् अलंकार बताने भी आते होंगे? कोई अपनी 'हेयर स्टाइल' बताने आते होंगे? सभी लोग जो यहाँ आते हैं वे धर्मश्रवण करने ही आते हैं, ऐसा मत मानना। फिर भी आते हैं, वह अच्छा ही है। कभी कोई तुलसीदास जैसी हितशिक्षा देनेवाले मिल जायेंगे तब आँखें खुल जायेंगी। प्रतिदिन धर्मश्रवण करते रहने से कभी न कभी तो ज्ञानदृष्टि खुलेगी न? एकाग्रता से सुनते हैं तो उतना समय शुभ भावों में व्यतीत होता है। कोई न कोई शुभ कार्य करने की भावना जाग्रत होती है।

ज्ञानानंद महान् है :

जैनधर्म, जैनदर्शन इतना गहन, गंभीर और व्यापक है कि संपूर्ण जीवन उसको जानने और समझने में खपा दें तो भी संपूर्ण नहीं जान सकते। फिर भी ज्यों-ज्यों तत्त्वबोध होता जायेगा त्यों-त्यों आप अपूर्व आनंद पाते जाओगे। ज्ञानानन्द, सभी प्रकार के आनन्दों से श्रेष्ठ आनंद होता है। वह ज्ञानानन्द पाओगे। हाँ, आप लोग भी ज्ञानानन्द पा सकते हो। जिनशासन में ऐसे कई श्रावक हो गये, श्राविकाएँ हो गईं, जिनके पास अच्छा शास्त्रज्ञान था, आत्मज्ञान था। वर्तमानकाल में भी ऐसे श्रावक-श्राविकाएँ दिखाई देते हैं।

जब ज्ञानानन्द बढ़ता है तब विषयानन्द घटता है। विषयानन्द को घटाने का सही उपाय भी यह ज्ञानानन्द है। इस बात पर मुझे एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक की घटना याद आती है। हालाँकि यह सम्यक् ज्ञान की बात नहीं है, भौतिक विषय की बात है, फिर भी बात है ज्ञानानन्द की!

एकाग्रता क्या चीज होती है? :

'थॉमस आल्वा एडिसन' नाम का वैज्ञानिक हो गया। विज्ञान की सौ से ज्यादा मूल्यवान् खोजें की हैं इस वैज्ञानिक ने। विज्ञान की दुनिया में एडिसन कभी विस्मृत नहीं हो सकता। एडिसन की शादी का प्रसंग था। अनेक स्नेही-स्वजन-मित्र... एडिसन से घर आये हुए थे। शादी के दिन सुबह से एडिसन लापता था! आसपास इधर-उधर खोजने पर भी एडिसन नहीं मिल रहा था।

माता-पिता चिंतित हुए। बहिनें भी चिंतित हुईं। शादी का समय नजदीक आ रहा था। घरवाले सभी बेचैन थे... उतने में एडिसन का खास मित्र आया। एडिसन के पिता ने कहा : 'आज सुबह से एडिसन नहीं मिल रहा है... क्या पता कहाँ चला गया है।' पिता की आँखों में आँसू भर आये। मित्र ने कहा : 'आपने सभी संभवित स्थानों में जाकर देखा?' 'क्या उसकी प्रयोगशाला में जाकर देखा?' 'नहीं, वहाँ नहीं देखा!'

मित्र प्रयोगशाला के द्वार पर पहुँचा। दरवाजा बाहर से बंद नहीं था, भीतर से बंद था। दरवाजा खटखटाया। नहीं खुला। फिर से धड़धड़ाया दरवाजा। भीतर से आवाज आयी : 'खोलता हूँ।' दरवाजा खुला, सामने एडिसन खड़ा था!

'तू अभी क्या कर रहा है यहाँ?' मित्र ने पूछा।

'प्रयोग कर रहा हूँ।'

'सुबह से आज तुझे सब खोज रहे हैं और तू यहाँ प्रयोग कर रहा है?'

'क्यों? क्या बात है?'

'अरे, आज तेरी शादी है....!'

'ओह... मैं तो भूल ही गया था। हाँ, याद आया, आज शादी है!'

एडिसन अपने प्रयोगों में कितना तल्लीन होगा? अपने प्रयोगों में उसको कितना आनन्द मिलता होगा, आप कल्पना करें। खुद अपनी शादी को भूल गया! आप लोगों की बुद्धि में शायद यह बात नहीं उतरेगी। शायद आप एडिसन को मूर्ख समझेंगे। 'धुनी' समझेंगे। जो भी समझना हो समझें - हमें कोई फर्क नहीं पड़ता है। विषयानन्दी लोग ज्ञानानन्दी को मूर्ख और पागल मानते आये हैं। परन्तु ऐसे पागल ज्ञानानन्दियों ने ही दुनिया के कोने-कोने में ज्ञान-प्रकाश की मशालें सुलगायी हैं और पथ-प्रदर्शन किया है।

विषयानन्दी जीवों ने दुनिया में युद्ध पैदा किये, ज्ञानानन्दी लोगों ने दुनिया में शान्ति स्थापित की। विषयानन्दी जीवों ने गृहक्लेश पैदा किये, ज्ञानानन्दी ने गृहक्लेश मिटाये! विषयानन्दी जीवों ने बुराईयों को बढ़ावा दिया, ज्ञानानन्दी महात्माओं ने बुराईयों को मिटाने के प्रयत्न किये। विषयानन्दी जीवों ने ज्ञानानन्दी मनुष्यों का उपहास किया, उन पर उपद्रव किये और ज्ञानानन्दी महात्माओं ने उन पर क्षमा बरसायी।

यदि आपको गृहस्थ जीवन के सामान्य धर्मों का पालन करना है तो आपको ज्ञानानन्दी बनना ही पड़ेगा। विषयों का उपभोग करना पड़े, यह दूसरी बात है, विषयानन्दी-पुद्गलानन्दी नहीं बनना है। यानी विषयोपभोग में आनन्द नहीं मानना है।

परमात्मा प्रीति और संसार भीति ही धर्मआराधना करवायेगी :

ग्रन्थकार आचार्यदेव हरिभद्रसूरिजी ने गृहस्थ जीवन के सामान्य धर्मों का पालन करने का उपदेश दिया है, जो कि तीर्थकरों की ही प्रेरणा है। उन सामान्य धर्मों का पालन तभी कर सकोगे जब आपके हृदय में परमात्मा के प्रति प्रीति पैदा होगी और विषयों के प्रति अरति पैदा होगी। दो बातें बराबर समझ लो-

१. परमात्मा के प्रति प्रीति।

२. विषयों के प्रति अरति।

दोनों बातें एक-दूसरे से संबंधित हैं। परमात्मा से प्रीति हो जाने पर विषयों के प्रति अरति हो ही जायेगी। विषयों के प्रति अरति पैदा होने पर परमात्मा से प्रीति बन जायेगी। दो में से एक बात बन जायेगी तो दूसरी बात तो बनने की ही है। और, ये दो बात बनने पर, जीवन में गुणात्मक धर्मों का पालन सहजता से व सरलता से होता रहेगा।

सभा में से : विषयों के प्रति अरति का अर्थ वैराग्य है क्या?

महाराजश्री : हाँ, वैराग्य जैसे व्यवहार धर्म में प्राथमिकता है इन ३५ सामान्य धर्मों की, वैसे भावात्मक धर्म में प्राथमिकता है वैराग्य की। वैराग्य भावात्मक धर्म है। भावात्मक धर्म की जड़ है वैराग्य।

वैराग्य बाहर का नहीं, भीतर का जरूरी है :

इसी ग्रन्थकार महर्षि ने 'योगदृष्टि-समुच्चय' नाम के ग्रन्थ में कहा है : 'भवोद्वेगश्च सहजः' योग की पहली दृष्टि में ही मनुष्य में सहज भवोद्वेग यानी वैराग्य प्रकट होता है। मोक्षमार्ग की आराधना का प्रारंभ वैराग्य से होता है। किसी भी धर्म का पालन करता है मनुष्य, भीतर में वैराग्य प्रकट होने पर ही धार्मिकता का प्रारंभ होता है।

धन-संपत्ति के प्रति अरति का भाव प्रकटे बिना, न्यायसंपन्नता कैसे आयेगी? नीति और ईमानदारी कैसे आयेगी? लोभ-लालच के सामने वैरागी ही अड़िग

रह सकता है। रंग-राग और भोगविलास के प्रति अरति आये बिना विवाह के औचित्य का पालन कैसे होगा? परस्त्री का त्याग और स्वस्त्री में संतोष, विरक्त मनुष्य ही रख सकता है।

वैरागी त्यागी हो सकता है और नहीं भी हो सकता है। कभी वैरागी का जीवन-व्यवहार भोगप्रचुर भी हो सकता है, परंतु भीतर में वैराग्य की ज्योत जलती रहती है। इसलिए गलत रास्ते पर चलना वह पसंद नहीं करेगा। कभी राग के आवेश से गलत रास्ते पर चला गया, तो वापस लौटने में देरी नहीं होगी। विषय-विरक्त मनुष्य राग के आवेग में ज्यादा समय टिक नहीं सकता है।

एक बात याद रखना, वैराग्य सहज चाहिए! दिखावा नहीं करना है वैराग्य का। एक ब्रह्मचारी था। अपने आपको वैरागी मानता था। जिस गाँव में वह रहता था, उस गाँव का राजा उदार प्रकृति का था। साधु-संतों का भक्त था।

प्रभात का समय था। राजा नगर के बाहर मंदिर की ओर जा रहा था। जैसे राजा नगरद्वार से बाहर निकलता है, सामने वह ब्रह्मचारी मिल गया। वह मंदिर से लौट रहा था। राजा घोड़े से नीचे उतर गया और ब्रह्मचारी को प्रणाम कर के बोला : 'हे महात्मन्, आपका दर्शन कर मैं कृतार्थ हुआ हूँ। आप जो चाहें सो माँग लें।'

ब्रह्मचारी का मन प्रसन्न हो गया। वह सोचता है : 'क्या माँगूँ? दो सौ-चार सौ सोनामुहरे माँग लूँ? नहीं, वे तो एक साल में खर्च हो जायेंगी। तो क्या एक गाँव का राज माँग लूँ? नहीं नहीं, जब राजा ने माँगने को कहा है तो उसका राज्य ही क्यों न माँग लूँ?' उसने राजा से कहा : 'राजन्, आपने वरदान माँगने को कहा है तो मैं आपका राज्य ही माँगता हूँ।'

राजा ने कहा : 'बहुत अच्छा माँग लिया आपने! मैं इस राज-संपत्ति से मुक्त होना चाहता ही था। आप यहाँ ही खड़े रहिए। मैं मंदिर जाकर आता हूँ। फिर आपको मैं राजमहल में ले जाकर राज्य आपको समर्पित कर दूँगा।'

राजा ने जो कुछ कहा, सहजता से कहा। माँगनेवाले के प्रति जरा-सा भी अभाव नहीं आया। राजा मंदिर चला गया, इधर वह ब्रह्मचारी राजा को देखता ही रह गया! वह सोचता है : 'अरे, इस राजा ने कितनी सहजता से राज्य मुझे देने को कह दिया! राजसिंहासन पर बैठा हुआ भी वह राज्य-संपत्ति से विरक्त है और मैं विरागी कहलाता हूँ फिर भी राज्य-संपत्ति के प्रति कितना

लोलुप हूँ? मैं भीतर से रागी हूँ, विषयासक्त हूँ... यह राजा सच्चा विरक्त है। धिक्कार है मुझे....' ब्रह्मचारी वहाँ से गाँव छोड़कर ही चला गया। राजा ने उसको खोजा, परन्तु वह नहीं मिला।

किसी जीवात्मा को जन्म-जन्मान्तर के संस्कार से सहज वैराग्य प्राप्त होता है। ऐसे जीवों को वैराग्य के उपदेश की आवश्यकता नहीं रहती है। जो ऐसे वैरागी नहीं है, उनको वैराग्यभरपूर उपदेश सुनने से वैराग्य प्राप्त होता है। परमात्मा की भक्ति करने से भी वैराग्य प्राप्त होता है।

भीतर में वैराग्य जाग्रत हो जाने पर सामान्य धर्मों का पालन करना सरल बन जाता है। वैसे, परमात्मा से आन्तरिक प्रीति संबंध बन जाने पर भी सामान्य धर्मों का पालन सरल बन जाता है। परमात्मा से आन्तरिक संबंध बन जाने पर तो अनेक गुणों का प्रकटीकरण हो जाता है। यानी परमात्मा से लगाव हो जाने पर दुनिया से और दुनिया के पदार्थों से लगाव कम हो जाता है। परमात्मा से लगाव हो जाने पर, परमात्मा की आज्ञाओं का पालन करने की शक्ति जाग्रत हो जाती है। न लोभ उसको गिरा सकता है, न भय उसको चलित कर सकता है। परमात्मप्रेमी मनुष्य लोभ और भय पर विजय पाता है। यानी सामान्य धर्मों के पालन में क्षति पहुँचाये वैसा लोभ नहीं होता, वैसा भय नहीं होता।

संबंध जोड़ो परमात्मा से :

परमात्मा के सुबह, दोपहर और शाम - तीनों समय दर्शन करते रहें। परमात्मा की मूर्ति में साक्षात् परमात्मा के दर्शन करने का प्रयत्न करते रहते रहें। हार्दिक भावना से परमात्मा को कहें-

अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम।

तस्मात् कारुण्यभावेन रक्ष रक्ष जिनेश्वर!

‘मैं आप की ही शरण हूँ भगवंत, आपके अलावा मेरी कोई शरण नहीं है। इसलिए हे जिनेश्वर, करुणा से मेरी रक्षा करो, रक्षा करो।’

स्तुति करते समय मन और नयन परमात्मा से जोड़ें। स्थिर मन से और स्थिर नयनों से परमात्मा के सामने देखें। आन्तरिक निर्णय के साथ स्तुति करें : ‘मुझे आपसे संबंध बाँधना है।’ हृदय का वैराग्य बोलेगा : ‘अब दुनिया से संबंध तोड़ना है। टूट ही रहा है।’

चाहे आप श्रीमंत हों, गरीब हों या मध्यम कक्षा के हों, आप सभी के लिए सच्ची शरण परमात्मा ही है। दुनिया के सारे के सारे संबंध मिथ्या हैं, कर्मों पर आधारित हैं। प्रतिकूल कर्म का उदय होने पर ये संबंध टूटते देरी नहीं लगेगी। आपको अपने प्राणों से भी अधिक चाहनेवाले, एक क्षण में मुँह मोड़ लेंगे। आप लोगों को क्या ऐसे अनुभव नहीं हुए हैं? तो फिर ऐसे कच्चे धागे जैसे संबंधों में क्यों उलझ रहे हो? परमात्मा से संबंध बाँध लो इस जीवन में। भले आज दुनियावालों के साथ अच्छे संबंध हों, रहने दो वे संबंध, परन्तु परमात्मा के साथ तो संबंध बाँध ही लेना है। प्रतिदिन मनुष्य त्रिकाल परमात्मा के दर्शन करें, प्रतिदिन परमात्मा की अष्टप्रकारी पूजा करें। भक्तामर स्तोत्र, कल्याणमन्दिर स्तोत्र.... जैसे भावपूर्ण स्तोत्रों का पाठ करें। मात्र शब्दोच्चारण नहीं, अर्थ-भावार्थ को समझते हुए पाठ करें।

तीर्थस्थानों में कि जहाँ लोगों की ज्यादा भीड़ नहीं होती हो, वहाँ जाकर पाँच-सात दिन रहें। वहाँ कुछ नियमों का दृढ़ता से पालन करें। जैसे कि ब्रह्मचर्य-पालन, रात्रिभोजन-त्याग, अभक्ष्य भोजन का त्याग, प्रतिदिन परमात्मा-दर्शन-पूजन, जाप, ध्यान, सत्समागम, स्वाध्याय....। तीर्थस्थानों में रहकर परमात्मा से निकटता स्थापित की जा सकती है।

वैसे, वर्ष में कुछ समय ज्ञानी, संयमी, प्रशान्त ऐसे गुरुदेवों के सान्निध्य में जाकर रहना चाहिए। उनसे परमात्मस्वरूप के विषय में जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। कुछ गहराई में जाकर परमात्मा की पहचान प्राप्त करनी चाहिए।

मुश्किल नहीं है यह काम! वर्तमानकाल में भी ऐसे कुछ सद्गृहस्थ हैं, बड़े व्यवसायवाले हैं, फिर भी समय निकालते हैं और तीर्थस्थानों में....कि जो ज्यादा प्रसिद्ध नहीं हैं, वहाँ जाकर सात-आठ दिन रहते हैं। गुरुजनों के पास जाकर चार-पाँच दिन रहते हैं। परमात्मस्वरूप को जानते रहते हैं....गहराई में जाकर समझते हैं और परमात्मध्यान में लीन होने का प्रयत्न करते हैं। इससे उन लोगों के जीवन में सामान्य धर्मों का पालन दिखाई देता है। सभी सामान्य धर्मों का तो नहीं, परन्तु कुछ दस-बारह सामान्य धर्मों का पालन तो करते ही हैं। सहजता से करते हैं।

आप लोग चार महीनों से प्रवचन सुन रहे हैं। गृहस्थ जीवन के सामान्य धर्मों के विषय में पर्याप्त विवेचन आप लोगों ने सुना है। परन्तु मनुष्य जितना सुनता है, सभी स्मृति में नहीं रह पाता है। और ये बातें स्मृति में रखने की

बातें हैं। एक बार सुनने मात्र से काम नहीं बनता है। बार-बार परिशीलन होना चाहिए इन बातों का। इसलिए ये सारे प्रवचन 'अरिहंत' में प्रकाशित हो रहे हैं। ताकि मनुष्य बार-बार इन प्रवचनों को पढ़ सके और चिंतन-मनन कर सके।

'धर्मबिन्दु' के प्रथम अध्याय की प्रवचन-श्रेणी आज पूर्ण करता हूँ। आज यह उपसंहार का प्रवचन है। मुझे आपसे कहना है कि आप इन प्रवचनों का पुनः पुनः अध्ययन करना। आपके परिवार में दूसरे भी पढ़े-लिखें भाई-बहनों को ये प्रवचन पढ़ने की प्रेरणा देना। परिवार को अनुकूल बनाने से सामान्य धर्मों का पालन सरल बनेगा। परिवार के सदस्यों को भी लगना चाहिए कि गृहस्थ जीवन को सुखमय और शान्तिमय बनाने के लिए इन सामान्य धर्मों का पालन करना अत्यंत आवश्यक है। आपके मित्रों को, स्नेही-स्वजनों को भी प्रवचन पढ़ने की प्रेरणा देना।

करे उसका भी भला, न करे उसका भी भला :

सभा में से : प्रेरणा देंगे, परंतु सामान्य धर्मों का पालन करना मुश्किल तो जरूर लगता है।

महाराजश्री : 'पालन करने जैसा है,' ऐसा तो हृदय में लगता है न?

सभा में से : अवश्य। पालन करने जैसा है और कुछ धर्मों का पालन करना शुरू भी कर दिया है हम कुछ मित्रों ने। परंतु घर के लोगों को.....

महाराजश्री : घर के लोग भी धीरे-धीरे समझेंगे। प्रेम से समझाते रहों। अवसर-अवसर पर प्रेरणा देते रहो। जब उन लोगों को इन धर्मों के पालन में फायदा लगेगा तब वे भी पालन करने लगेंगे। अथवा इन धर्मों का पालन नहीं करने से नुकसान होता है, ऐसा समझेंगे तब पालन करेंगे। नहीं भी करें पालन, तो उनके प्रति 'भावदया' रखना। उनके प्रति रोष नहीं करना। गुस्सा नहीं करना। प्रेरणा देना आपका कर्तव्य है, कर्तव्य का पालन कर दिया कि बस, आपका काम पूरा हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य अपनी भीतरी योग्यता के अनुसार ही ग्रहण करता है और त्याग करता है।

मैं भी आपको प्रेरणा ही देता हूँ न? क्या जितने लोग सुनते हैं वे सभी क्या इन बातों को ग्रहण करते हैं? इन बातों का पालन करते हैं? नहीं न? तो क्या हमें गुस्सा करना चाहिए? नहीं, मात्र भावदया का चिंतन करते हैं।

मिथ्या मे दुष्कृतम् :

चार महीनों से 'धर्मबिन्दु' ग्रन्थ पर प्रवचन दे रहा हूँ। परमात्मा की आज्ञा है कि परिश्रम की परवाह किये बिना धर्मोपदेश देना चाहिए। धर्मोपदेशक को एकान्ततः लाभ है, कर्मनिर्जरा का और पुण्यबंध का। फिर भी मैं छद्मस्थ हूँ, मेरी बुद्धि अल्प है, ज्ञान भी नहींवत् है.... इसलिए यदि जिनवचनों से कुछ भी विपरीत कथन हो गया हो तो मिच्छामि दुक्कडं। प्रमाद है, अज्ञान है... तब तक गलती हो जाना संभवित है.... इसलिए ग्रन्थकार से भी क्षमायाचना कर लेता हूँ। ग्रन्थकार के आशय से कुछ भी विपरीत कथन किया गया हो तो उसका मिच्छामि दुक्कडं।

आप लोगों के सामने हितदृष्टि से, करुणा-भावना से प्रेरित होकर ये प्रवचन दिये हैं। कभी जानते-अनजानते, आपको दुःख हुआ हो वैसे शब्द बोले गये हों, किसी के हृदय को पीड़ा पहुँची हो.... तो उसका भी मिच्छामि दुक्कडं। आप सभी मुझे क्षमा प्रदान करेंगे।

मंगल प्रार्थना

शिवमस्तु सर्व जगतः, परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः ।

दोषाः प्रयान्तु नाशं, सर्वत्र सुखीभवन्तु लोकः ॥

सकल विश्व का जयमंगल हो

ऐसी भावना बनी रहे।

अमित परहित करने को मन

सदैव तत्पर बना रहे।

सब जीवों के दोष दूर हों,

पवित्र कामना उर उलसे,

सुख-शान्ति सब जीवों को हो

प्रसन्नता जनमन विलसे....

॥ संपूर्ण ॥





आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर
कोबा तीर्थ

Acharya Shree Kailassagarsuri Gyanmandir
Shree Mahavir Jain Aradhana Kendra
Koba Tirth, Gandhinagar-382 007 (Guj.) INDIA
Website : www.kobatirth.org
E-mail : gyanmandir@kobatirth.org

ISBN : 978 - 81-89177-21-8

ISBN SET : 978-81-89177-17-1